

गीता

चेतना और कर्म का रहस्य

भाग-1

अरुणा
(योगी की वाणी)



BlueRose ONE^{.com}
S t o r i e s M a t t e r

New Delhi • London

BLUEROSE PUBLISHERS

India | U.K.

Copyright © Aruna 2026

All rights reserved by author. No part of this publication may be reproduced, stored in a retrieval system or transmitted in any form or by any means, electronic, mechanical, photocopying, recording or otherwise, without the prior permission of the author. Although every precaution has been taken to verify the accuracy of the information contained herein, the publisher assumes no responsibility for any errors or omissions. No liability is assumed for damages that may result from the use of information contained within.

BlueRose Publishers takes no responsibility for any damages, losses, or liabilities that may arise from the use or misuse of the information, products, or services provided in this publication.



BlueRoseONE
Stories Matter
New Delhi • London

For permissions requests or inquiries regarding this publication,
please contact:

BLUEROSE PUBLISHERS
www.BlueRoseONE.com
info@bluerosepublishers.com
+91 8882 898 898
+4407342408967

ISBN: 978-81-6744-796-8

Cover Design: Deepak Katheria
Typesetting: Manisha Rawat

First Edition: September 2026

प्रिय पाठकों,

मुझे अत्यंत खुशी है कि “गीता: चेतना और कर्म का रहस्य” किताब आप तक पहुँची है। यह किताब व्यक्ति की “चेतना और कर्म के रहस्य” को सूक्ष्मता से उजागर करती है। गीता वह ज्ञान-गान है, जो मनुष्य को मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक रूप से पूर्ण जागरूकता की ओर ले जाती है। यह पुस्तक जीवन की उस महाभारत को समझने और उससे जूझने की मार्गदर्शिका है, जो प्रत्येक मनुष्य के भीतर निरंतर चल रही है। विज्ञान, ज्ञान, आत्मचिंतन और योग-साधना के आधार पर लिखी गई यह पुस्तक चेतना और कर्म के उन सूक्ष्म रहस्यों को उजागर करने का प्रयास है, जो हमारे जीवन, विचारों और कर्मों को गहराई से प्रभावित करते हैं।

इसका उद्देश्य केवल गीता को समझाना नहीं, बल्कि उसके ज्ञान को जीवन के प्रत्यक्ष अनुभव से जोड़ना है—ताकि साधक स्वयं के भीतर चल रहे द्वंद्व, संघर्ष और परिवर्तन को पहचान सके और चेतना के उच्चतर आयाम की ओर आगे बढ़ सके। यह पुस्तक आपको एक ऐसे साधक के रूप में केंद्र में रखकर लिखी गई है, जहाँ कृष्ण कोई बाहरी पात्र नहीं, बल्कि आपकी ही शुद्ध चेतना में स्थापित मार्गदर्शक हैं; अर्जुन आपका अपना अन्तःकरण है, और कुरुक्षेत्र आपका जीवन जहाँ आपको अपने मन और इसकी प्रवृत्ति से लड़ना है। यह संदेश केवल इतना नहीं कि युद्ध लड़ना है, बल्कि यह है कि अपने भीतर के मोह, भय, भ्रम, अहंकार और द्वंद्व पर विजय प्राप्त करनी है।

यह पुस्तक केवल मनोरंजन अथवा सामान्य पठन के लिए नहीं लिखी गई है। यह उन गंभीर जिज्ञासुओं, साधकों और सत्य के खोजियों के लिए है, जो ईश्वर, आत्मा, चेतना और कर्म को केवल धार्मिक मान्यताओं के रूप में नहीं, बल्कि उनके वास्तविक, तार्किक और अनुभवात्मक स्वरूप में समझना चाहते हैं। मेरा प्रयास रहा है कि गीता के गहन आध्यात्मिक ज्ञान को केवल आस्था के स्तर तक सीमित न रखते हुए, उसे तर्क, ज्ञान, विज्ञान, योग और साधना के दृष्टिकोण से समझने का एक नया प्रयास किया जाए। मुझे आशा है कि इस पुस्तक के अध्ययन के पश्चात आप ईश्वर और अपनी स्वयं की चेतना को देखने के लिए एक नवीन, तार्किक और अधिक व्यापक दृष्टिकोण विकसित कर पाएँगे।

इस पुस्तक के प्रथम भाग में गीता के प्रारंभिक छह अध्यायों को आधार बनाया गया है। ये अध्याय मनुष्य के आंतरिक संघर्ष, कर्म, ज्ञान, ध्यान, योग और आत्मबोध की यात्रा को

समझने की एक क्रमिक दिशा प्रदान करते हैं। विशेष रूप से प्रारंभिक साधकों के लिए यह भाग मानसिक स्पष्टता, आत्मचिंतन और आध्यात्मिक साधना की दिशा में आगे बढ़ने का मार्ग प्रशस्त करने का प्रयास है। यह केवल गीता को पढ़ने की पुस्तक नहीं, बल्कि गीता के ज्ञान को स्वयं के भीतर देखने और जीवन में अनुभव करने का एक प्रयास है।

इस पुस्तक में जो लेख, तथ्य आप लोगों को अच्छे लगे वे सब तथ्य, लेख मेरे गुरुओं के विचारों की देन है और अगर कोई त्रुटि आप लोगों को लगती है वे सभी कमियाँ मेरी है जो मुझे हर्षपूर्ण स्वीकार है। किताब की अच्छाई, कमियों और कुछ स्पष्टीकरण चाहने के लिये पाठक dahiyaaruna.dahiya3@gmail.com पर मेल भेज सकते हैं।

आभार

इस पुस्तक के निर्माण में जिन-जिन गुरुओं का मार्गदर्शन, लोगों का सहयोग और प्रेरणा मुझे प्राप्त हुई, उनके प्रति मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ। इस पुस्तक के लेखन में मुझे जहाँ से दिव्य प्रेरणा मिली वो मेरे परम गुरु 'महावतार बाबाजी' है जो क्रिया योग के जनक हैं जिन्हें अमर योगी, शिव बाबा, बाबाजी जैसे नामों से भी जाना जाता है। बाबाजी अभी भी अपने साधकों को प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष मार्गदर्शन प्रदान करते हैं। इन्हीं की प्रेरणा है कि मैं इस स्तर पर पहुँच सकी और विचारों को किताब का रूप प्रदान कर सकी।

मैं गुरजाधार (गिरजाधार) वाले 'सिद्ध साहेब जी' को आभार व्यक्त करती हूँ जिनका स्थान क्षेत्र राहतगढ़ (सागर) म.प्र. में स्थित है। इस स्थान में जाकर ध्यान में प्रगति कर पाई। साहेब जी ने 2003 में समाधि की अवस्था को प्राप्त हुये। साहेब जी सिद्ध महात्मा हैं जो परमहंस हैं। इस क्षेत्र में साहेब जी के शिष्य वनखंडी महाराज (ब्राह्मण देवता) 22 साल से इस क्षेत्र में उपस्थित हैं। जो इस सिद्ध क्षेत्र की देखभाल एवं सेवा करते हैं। इनका स्वभाव सरल है।

इसके अलावा मुझे मेरे पति ने इस पुस्तक को लिखने के लिये हमेशा प्रेरित किया। इनका नाम योगेन्द्र सिंह है जो वर्तमान में उप पुलिस अधीक्षक के पद पर मध्य प्रदेश में सेवायें दे रहे हैं और मेरे आध्यात्मिक यात्रा के साथी भी हैं जिन्होंने लेखन कार्य में मेरी मदद की और जिन्होंने मुझे ईश्वर को नये आयाम में खोजने के लिये प्रेरित किया। मैं उन सभी व्यक्तियों का आभार व्यक्त करती हूँ जिन्होंने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से इस पुस्तक को पूर्ण स्वरूप देने में योगदान दिया। उनके प्रोत्साहन, अनुभवों ने मुझे लगातार आगे बढ़ने की शक्ति प्रदान की। आशा है कि यह पुस्तक सभी पाठकों के लिये उपयोगी और ज्ञानवर्धक सिद्ध होगी।

- अरूणा

प्रस्तावना

“भगवत” को भगवान समझो या परमात्मा या ईश्वर लेकिन भगवत तो वह है जो आपकी चेतना को शुद्ध करे और कर्मों को उन्नत करे। जो आपको पूर्ण करे वह गीत ही “गीता” बन जाता है। गीता वह गान है जो मनुष्य को मानसिक -बौद्धिक-आध्यात्मिक रूप से पूर्ण करे चाहे वह गीत भगवान का हो या स्वयं आपका। गीता वह मार्गदर्शिका है जिससे व्यक्ति अपनी “सीमित व्यक्तिगत चेतना” को “सर्वव्यापक शुद्ध चेतना” में रूपांतरित कर सकता है। यह गान (गीता) अपूर्ण को पूर्ण करने का रास्ता बताता है। भगवत गीता सिर्फ कृष्ण और अर्जुन का संवाद ही नहीं है बल्कि यह अर्जुन रूपी सीमित व्यक्तिगत चेतना (limited individual consciousness) और कृष्ण रूपी सर्वव्यापक शुद्ध चेतना (omnipresent pure consciousness) के बीच का संवाद है। जहाँ अर्जुन रूपी साधक (सीमित व्यक्तिगत चेतना से युक्त) कृष्ण रूपी (सर्वव्यापक शुद्ध चेतना से युक्त ईश्वर/ योगी) से मानसिक -आध्यात्मिक संकट (भ्रम) से युद्ध करने के लिए मार्गदर्शन प्राप्त कर रहा है। गीता के मर्म तत्व को समझने से पूर्व हमें चेतना की अवधारणा को संक्षेप में समझना जरूरी है।

चेतना वह मूल जागरूक शक्ति है, जिसके कारण हम स्वयं के अस्तित्व, अपने विचारों, भावनाओं, अनुभवों तथा अपने आसपास के संसार को जान और अनुभव कर पाते हैं। सीमित अर्थ में यह मनुष्य के अस्तित्व में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है तथा मनुष्य स्वयं और अपने आस-पास की दुनिया के साथ अंतः क्रिया कर समझ विकसित करने में सक्षम होता है। जो भी व्यक्ति इन्द्रियों के माध्यम से देखता, सुनता, सूंघता, महसूस, स्वाद लेता है, वह सब इसी व्यक्तिगत चेतना का ही हिस्सा है। व्यक्ति जो कुछ भी सोच रहा होता है वह भी व्यक्तिगत चेतना (Personal Consciousness) का हिस्सा है। व्यक्तिगत चेतना वह सीमित आत्म-अनुभूति है जिसमें व्यक्ति स्वयं को ‘मैं’ के रूप में अनुभव करता है और शरीर, मन, विचार, भावनाओं, संस्कारों तथा बाहरी परिस्थितियों से अपनी पहचान जोड़ता है। इस चेतना में सुख-दुःख, लाभ-हानि, मान-अपमान, सही-गलत जैसी द्वैत अवस्थाओं का अनुभव होता है। मनुष्य

अपनी व्यक्तिगत चेतना से स्वयं को सीमित किए हुए है, वह स्वयं के मन, बुद्धि, अहं, चित्त के कारण अपूर्ण है। यह अपूर्णता शरीर, मन, बुद्धि (ज्ञान) के स्तर पर है।

“सर्वव्यापक चेतना” प्रत्येक अणु, प्रत्येक कोशिकाएँ, प्रत्येक जीव प्राणी, प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक पिंड, प्रत्येक ग्रह, प्रत्येक तारों, प्रत्येक आकाशगंगा, प्रत्येक ब्रह्मांडों में विद्यमान है। साथ ही सर्वव्यापक चेतना सभी ब्रह्मांडों में और इनसे परे भी विद्यमान है। यह किसी एक व्यक्ति, वस्तु या स्थान तक सीमित नहीं होती बल्कि हर जीव, पदार्थ, ऊर्जा, विचार के मूल में यही चेतना कार्यरत होती है। सर्वव्यापक चेतना पूर्ण जागरूकता की स्थिति है एवं एक ऐसी सर्वव्यापक बुद्धि जो हर चीज को जोड़ती एवं संचालित करती है। इसे शुद्ध चेतना (Pure Consciousness) भी कहते हैं। वेदांत में इसे ब्रह्मा कहा गया है। यह असीम, निराकार, कालातीत और स्थानातीत है। सभी ब्रह्मांड, प्राणी, समय, स्थान इसी चेतना में प्रकट होते हैं। सम्पूर्ण ब्रह्मांड में जो भी जीवजंतु, पेड़-पौधे, पंचतत्व उपस्थित हैं, उनमें घटित होने वाली पंचतन्मात्राएँ (शब्द, स्पर्श, रूप (दृश्य), रस (स्वाद), गंध) क्रियाएँ, मन की क्रियाएँ ये सभी सर्वव्यापक चेतना का हिस्सा हैं।

गीता मनुष्य को शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक स्तर पर युद्ध कर (कर्म कर) स्वयं की व्यक्तिगत चेतना को सर्वव्यापक शुद्ध चेतना में रूपान्तरण के लिए लिखी गई वेदान्त दर्शन है। यह वह सार है जिसमें सभी शास्त्रों, वेदान्तों, मानव व्यवहार, मनोविज्ञान, योगिक साधना, जीवन, चेतना, कर्मों का सार छुपा हुआ है। यह वह विज्ञान भी है जो तात्त्विक और तार्किक रूप से स्वयं को ईश्वरीय चेतना (सर्वव्यापक शुद्ध चेतना) से आपको जोड़ने का तरीका बताता है। गीता में सिर्फ़ द्वापर युग के पांडव और कौरव के युद्ध में अर्जुन और कृष्ण का संवाद ही नहीं है बल्कि यह स्वयं को अर्जुन और स्वयं को कृष्ण का प्रतिबिंब बताकर जीवन की महाभारत लड़ने का संदेश है।

“तुम ही कृष्ण हो और तुम ही अर्जुन हो, रोज अपना सारथी बनकर जीवन की महाभारत लड़ना है ”

जीवन में मनुष्य को हर दिन एक नई समस्या, नई चुनौतियों का सामना करना पड़ता है और वास्तविक ज्ञान या समझ न होने की वजह से व्यक्ति जीवन को उत्सव की तरह नहीं जीता

जिस कारण जीवन को दुख और कष्टपूर्ण समझ कर युद्ध न कर हथियार डाल देता है। जबकि व्यक्ति अपनी समझ, जागरूकता को विकसित कर इस जीवन की समस्या को आसानी से पार कर सकता है और जीवन में रूपांतरण ला सकता है। यह समझना जरूरी है कि जीवन “अनुभव” के लिए है न कि दुख और कष्टपूर्ण जीवन जीने के लिए। अगर आप अपनी चेतना को उन्नत कर ले तो **“आपका अस्तित्व ही आनंद बन जाएगा”**।

गीता सिर्फ जीवन की समस्याओं से युद्ध लड़ने के लिए ही मार्गदर्शन प्रदान नहीं करती बल्कि आध्यात्मिक रूप से उन्नत होने के लिए विभिन्न मार्ग बताती है। ये मार्ग शरीर के स्तर पर कर्मयोग, बुद्धि के स्तर पर ज्ञान योग, भावना के स्तर पर भक्तियोग, ऊर्जा के स्तर पर राजयोग है जिन्हें बहुत ही सुंदर तरीके से 18 अध्यायों में बताया गया है। यह उन प्रकृति के गुणों का भी वर्णन करती है जो व्यक्ति को हर समय प्रभावित करते हैं और मनुष्य के उन सूक्ष्म तत्व को भी विश्लेषित करती है जिस कारण मनुष्य माया रूपी चक्रव्यूह में फँसा रहता है और साथ ही गीता मानसिक-आध्यात्मिक संघर्ष से निकलने का तरीका भी बताती है जो मनुष्य को भ्रम में रखते हैं।

यहाँ समझना जरूरी है कि यह कृष्ण-अर्जुन संवाद मनुष्य को मार्गदर्शन के लिए लेख है न कि युद्ध के दौरान कृष्ण अर्जुन को योग पर विस्तृत प्रवचन दे रहे हैं। ऐसा बिल्कुल तार्किक नहीं लगता कि युद्ध में पांडव और कौरव की सेना आमने-सामने खड़ी है और कृष्ण अर्जुन को योग के लिए प्रवचन दे रहे हों बल्कि गीता की प्रस्तुति जनमानस को मानसिक-आध्यात्मिक विकास, चेतना के विकास के लिए महाभारत के युद्ध को रूपक के रूप में लिया गया है। जिसमें कृष्ण एक “सर्वव्यापक शुद्ध चेतना (ईश्वर)” का प्रतीक है और अर्जुन “सीमित व्यक्तिगत चेतना (Limited Individual consciousness)” का प्रतीक है जब व्यक्ति(साधक) स्वयं के शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक अभाव के कारण चेतना को उन्नत करने के लिए युद्ध तो करना चाहता है लेकिन लड़ने का साहस नहीं कर पाता तब कृष्ण रूपी सर्वव्यापक शुद्ध चेतना जो कि शुद्ध बुद्धि (Pure intelligence) या उच्च स्व (Higher self) से युक्त है अर्जुन रूपी साधक को किस प्रकार मार्गदर्शन करता है वह गीता में बताया गया है। यहाँ कृष्ण शुद्ध बुद्धि या उच्च स्व सर्वव्यापक चेतना का प्रतिबिम्ब स्वरूप है जो प्रत्येक मनुष्य, जीव में सूक्ष्म रूप में उपस्थित है।

मन मुख्यतः चेतन मन, अवचेतन मन, अचेतन मन, अतिचेतन मन के स्तर पर चेतनाओं को विस्तृत रूप से समझने की क्षमता रखता है लेकिन व्यक्ति मन के सिर्फ कुछ ही प्रतिशत का प्रयोग कर उसी में उलझा रहता है। जिसे वह इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त अनुभव के आधार पर प्रयोग करता है लेकिन जैसे जैसे व्यक्ति इन्द्रियों के प्रत्याहार द्वारा एवं ध्यान द्वारा मन की गहराईयों में उतरता है तो चेतना के नये आयाम मन के लिए खुलते हैं। इस अनुक्रम में जब व्यक्ति अहं का त्याग कर, चित्त वृत्ति निरोध (जमा हुई इच्छाएँ, भावनाएँ, सूचनाएँ का मानसिक स्तर पर रोकना), बुद्धि का त्याग एवं जागरूकता बढ़ा कर मन को उच्च स्व (आत्मा) के स्तर पर लाने में सक्षम होता है तब मन स्वयं सर्वव्यापक चेतना में विलीन हो जाता है। उस क्षण दृष्टा एवं दृश्य एक हो जाते हैं।

जब "मैं" मरेगा, तब मैं जानूँगा "मैं कौन हूँ"।

इसी को विस्तार रूप से आगे समझेंगे कि प्रत्येक मनुष्य जब चेतना को उन्नत करता है और स्वयं की शुद्ध चेतना (आत्मरूप) को प्राप्त करना चाहता है तो किस प्रकार स्वयं से तर्क - वितर्क कर भौतिक जीवन और इसके आकर्षण को सही ठहराता है और शरीर -मन के स्तर पर समझ को ही अंतिम सत्य मानकर इससे परे उपस्थित आत्मा को किस प्रकार नकारता है। इस द्वंद को दूर करने के लिए सर्वव्यापक शुद्ध चेतना (ईश्वर) के गुण और उनकी प्रकृति का वर्णन अर्जुन-कृष्ण रूप में गीता संवाद में किया गया है।

महाभारत का युद्ध सिर्फ पांडव और कौरव के बीच का युद्ध नहीं है बल्कि यह युद्ध आपके विवेकशील गुणों और अनियंत्रित मन के बीच का युद्ध है जहाँ पांडव (विवेकशील गुण) का और कौरव (अंधे मन से उत्पन्न प्रवृत्तियों) का प्रतिनिधित्व करते हैं। पांडव जहाँ शरीर में उपस्थित पाँच चेतना केन्द्रों (मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध) के विभिन्न आयामों और सकारात्मक गुणों जैसे विवेकशील बुद्धि, प्राण शक्ति, आत्मनियंत्रण, बुराई के प्रतिशोध की शक्ति, अच्छी आदतें, अच्छे संस्कार और चेतना के विभिन्न सकारात्मक आयाम को बताते हैं और वही कौरव अंधे मन (धृतराष्ट्र) से उत्पन्न हुए मन की विकृत प्रवृत्ति जैसे सांसारिक इच्छा, आसक्ति, काम, क्रोध, लोभ, अहं, बुरे संस्कार, ईर्ष्या, बुरी आदतों की ओर इशारा करते हैं।

“कुरुक्षेत्र” प्रतीकात्मक रूप से आपके मन का क्षेत्र है जहाँ आपको मानसिक और आध्यात्मिक युद्ध को स्वयं लड़ना है। आपके पास पांडवों की सेना है जो विवेकशील बुद्धि, प्राण शक्ति, आत्मनियंत्रण, बुराई के प्रतिशोध की शक्ति, अच्छी आदतें, अच्छे संस्कार और चेतना के विभिन्न सकारात्मक आयाम का प्रतिनिधित्व करती है वही दूसरी ओर कौरव की सेना है जो सांसारिक इच्छा, आसक्ति, काम, क्रोध, लोभ, अहं, बुरे संस्कार, ईर्ष्या, बुरी आदतें इत्यादि का प्रतिनिधित्व करती है।

अगर पांडव और कौरव को ऊर्जा की कंपन आवृत्ति (Vibrational Frequency Energy) के संदर्भ में देखे तो महाभारत का युद्ध चेतना की उच्च कंपन आवृत्ति और चेतना की निम्न कंपन आवृत्ति का युद्ध है। ये दोनों ऊर्जा कंपन आवृत्ति आपके भौतिक और सूक्ष्म शरीर का हिस्सा है जिसमें चेतना की उच्च कंपन आवृत्ति पांडव की प्रवृत्ति है जिसमें युधिष्ठिर (शांति), भीम (जीवन शक्ति के नियंत्रण), अर्जुन (आत्म नियंत्रण), नकुल (सकारात्मक नियमों के पालन की शक्ति जैसे सद्भाव और शुद्धता), सहदेव (चंचल इन्द्रियों को नियंत्रण की शक्ति जैसे सामंजस्य और अंतर्दृष्टि) जैसी उच्च कंपन आवृत्ति के गुण हैं। वही कौरव निम्न कंपन आवृत्ति के गुण जैसे दुर्योधन (सांसारिक इच्छा), कर्ण (आसक्ति), भीष्म (अहं), द्रौणाचार्य (बुरे संस्कार), विकर्ण (घृणा), अश्वत्थामा (सुप्त इच्छा) इत्यादि को इंगित करते हैं।

इस पुस्तक में आप स्वयं को अर्जुन की जगह रखने में इसकी व्यावहारिकता जान पाएंगे और स्वयं के द्वंद से आपको स्वयं ही लड़ना है जिसके लिए उच्च-स्व (आत्मा) या सर्वव्यापक चेतना (ईश्वर) रूपी कृष्ण आपको सही मार्गदर्शन प्रदान करेंगे। मन, बुद्धि, अहं, चित्त द्वारा उठने वाले भाव या प्रश्नों का उत्तर इस पुस्तक में आपको सरल माध्यम से प्राप्त होंगे। गीता का ज्ञान तब तक कोई मायने नहीं रखता जब तक वह ज्ञान आपको तार्किक और वैज्ञानिक रूप से आपके जीवन के हर पहलू में लागू न हो चाहे वह शारीरिक स्तर पर हो या मानसिक स्तर पर या आध्यात्मिक स्तर पर। प्रत्येक स्तर पर गीता का सार आपकी चेतना को उन्नत करने, शरीर-मन-आत्मा के स्तर पर द्वन्द खत्म करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है बशर्ते आपको स्वयं कृष्ण और स्वयं अर्जुन के रूप में गीता के ज्ञान को प्राप्त करना होगा। आपको स्वयं के सकारात्मक पक्ष (पांडव) और नकारात्मक पक्ष (कौरव) को स्वयं ही जानना होगा और कौरव की सेना के रूप में आपको किस-किस से युद्ध करना है आपको यह स्वयं तय करना होगा। लेकिन एक बात तय है कि अगर आप इस पुस्तक के

आधार पर चिंतन, मनन करेंगे तो सारे द्वंद आपके समाप्त हो जाएँगे। सिर्फ पढ़ने से आप स्वयं के जीवन का महाभारत युद्ध नहीं जीतेगे बल्कि इस समझ और ज्ञान को अपने जीवन के हर पहलू में उतारना भी पड़ेगा और निरंतर उन बातों का अभ्यास भी करना पड़ेगा।

इस पुस्तक में गीता सार को उन श्लोकों के आधार पर उस मर्म को समझने का प्रयास किया है जिनके आधार पर आप अपनी चेतना, ऊर्जा, कर्म को नई दिशा प्रदान कर सके। व्यास जी जिस संदेश को आम जनमानस तक पहुँचाने के लिए अथक मेहनत से अर्जुन-कृष्ण के संवाद को गीता में प्रतीक रूप में लेख किया गया है उस संवाद को मार्गदर्शन के रूप में आप अपने जीवन के मानसिक-आध्यात्मिक पहलू में प्रयोग कर सके।

गीता के १८ अध्याय के ७०० श्लोक को आपको याद करने की जरूरत नहीं है। उन्हें पढ़कर कर और उनका अर्थ पता कर आप गीता को जीवन में तब तक पूर्ण रूप से उतार नहीं पाएँगे जब तक उसके सार को अपने जीवन में आत्मसात न कर पाएँ। गीता के संस्कृत के श्लोक पढ़कर, याद करके आप स्वयं ज्ञानी होने का आभास तो करा सकते हैं लेकिन वास्तविक ज्ञान तब प्राप्त होगा जब गीता के सार को धीरे-धीरे अपने जीवन का हिस्सा बना ले और इस किताब में लिखी बातों को अपने भाव, कर्मों, चेतना में आत्मसात कर ले इसलिए इस पुस्तक में श्लोक और अर्थ को बताने की अपेक्षा अध्यायों के मर्म तत्व (सार) को तात्त्विक और तार्किक रूप में बताने में ज्यादा ध्यान केंद्रित किया गया है। गीता की कई किताबें अलग-अलग रूपों और आयामों में लेख की गई हैं सभी किताबें अपनी जगह सही हैं लेकिन इस किताब में अर्जुन के रूप में मनुष्य की चेतना (आप स्वयं) को केंद्र में रख कर लिखी गई है जिससे आप स्वयं गीता के संदेश को आत्मसात कर मन-चेतना को उन्नत कर सके।

अनुक्रमणिका

अध्याय - 1 अर्जुनविषादयोग.....	1
अध्याय - 2 सांख्ययोग.....	60
अध्याय - 3 कर्मयोग.....	132
अध्याय - 4 ज्ञान-कर्म-संन्यास योग	194
अध्याय - 5 कर्म-संन्यास योग.....	250
अध्याय - 6 आत्मसंयम योग/ध्यान योग	284

अध्याय - 1

अर्जुनविषादयोग

यह अध्याय अर्जुन के दुःख (विषाद) और अंतर्द्वंद को बताता है कि किस प्रकार अर्जुन धर्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्र युद्ध के मैदान में अपने सामने सगे-संबंधियों को देखकर मोहग्रस्त हो जाते हैं, धनुष-बाण त्याग देते हैं और युद्ध न करने का निर्णय लेते हैं, क्योंकि वे अपने ही लोगों को मारकर राज्य और सुख नहीं चाहते। यह अध्याय जीवन के मोह और कर्तव्य के बीच के द्वंद को दर्शाता है। यह अध्याय योग के पथ में अग्रसर होने के इच्छुक साधक के विषाद और द्वंद को भी बताता है जो योग की प्राप्ति तो चाहता लेकिन अपनी इच्छाओं, वासनाओं, आसक्ति को त्यागना नहीं चाहता।

चेतना के कारण हम स्वयं के अस्तित्व, अपने विचारों, भावनाओं, अनुभवों तथा अपने आसपास के संसार को जान और अनुभव कर पाते हैं। सभी व्यक्ति शरीर - मन -आत्मा के स्तर पर अभाव ग्रस्त है क्योंकि व्यक्तिगत चेतना की सीमाएँ हैं और मनुष्य सर्वव्यापक चेतना कि क्षमताओं से युक्त है जिस कारण शारीरिक, मानसिक अभाव दूर होने पर भी जब तक व्यक्ति आत्मा (शुद्ध चेतना) के मूल स्वभाव में स्थापित नहीं हो जाता तब तक वह अभावग्रस्त रहेगा। इसी प्रकार मानसिक स्तर पर मन एक ही समय में अनेक चीजों को पाना चाहता है, अनेक इच्छाओं के कारण जो इच्छा पूर्ण नहीं हो पाती मन उसी आभाव में रह कर दुःख उत्पन्न करता है और अगर इच्छायें पूर्ण हो भी गईं तो यह सुख की उत्तेजना दुःख में अवश्य बदलेगी क्योंकि समस्त जगत् ही परिवर्तनशील है और सुख-दुःख सापेक्ष अवधारणा है क्योंकि दुःख है तभी सुख है और सुख है तभी दुःख है।

सुख-दुःख की उत्तेजना एक ऊर्जा रूप है जो समय के साथ परिवर्तनशील है, अगर किसी चीज या वस्तु से आपको सुख प्राप्त हुआ तो इसका मतलब वह सुख के उत्तेजना की ऊर्जा आपके मन के लिये उस कुछ समय के लिये आभाव से दूर रखती

है लेकिन समय के साथ यह ऊर्जा क्षीण होने के कारण पुनः दुःख उत्पन्न होने लगता है। जब सुख-दुःख की उत्तेजना सापेक्ष (रिलेटिव) होने और इनकी ऊर्जा समय के साथ क्षीण होने की प्रवृत्ति के कारण मनुष्य हमेशा मानसिक रूप से आभावग्रस्त रहता है। इसी प्रकार भौतिक या शारीरिक स्तर पर रोग, रूप-रंग, बुढ़ापा, मृत्यु इत्यादि के कारण व्यक्ति अभाव में ही जीवन व्यतीत करता है।

चाहे कोई भी व्यक्ति हो जब तक अपनी चेतना को इतना न उन्नत कर ले कि उसकी व्यक्तिगत चेतना सर्वव्यापक चेतना (शुद्ध चेतना) में न रूपांतरित हो जाए तब तक वह आभावग्रस्त ही रहेगा और यही अभाव दुःख का कारण है। यह दुःख तब और बढ़ जाता है जब इस रूपांतरण की प्रक्रिया में आपको अपने सांसारिक इच्छा (दुर्योधन), आसक्ति (कर्ण), भीष्म (अहं), द्रौणाचार्य (संस्कार), मन की विकृत प्रवृत्ति (कौरव) इत्यादि जैसे सगे संबंधियों को मारना पड़ेगा। यही दुःख अर्जुन का है जिस कारण वह हताश हो जाता है और युद्ध न करने का निर्णय कर तर्क-वितर्क करने लगता है। इसी प्रकार जब मनुष्य मानसिक और आध्यात्मिक विकास की तैयारी करता है तब ऐसे द्वंद्व स्वाभाविक रूप से उसके समक्ष आते हैं। इस स्थिति में या तो वह युद्ध नहीं करता या फिर उसे गुरु या शुद्ध बुद्धि रूपी कृष्ण द्वारा मार्गदर्शन प्राप्त करना पड़ता है।

यह अध्याय चेतना के जागरण से पहले मन के द्वंद्व की अवस्था पर केंद्रित है जब व्यक्ति अपने भीतर की वास्तविक चेतना को पहचानने से पहले मोह, भय, कर्तव्य, संबंध, सुख-दुःख और सही-गलत के बीच उलझा रहता है। गीता के इस अध्याय में अर्जुन इसी मानसिक द्वंद्व से गुजरते हैं। उनका मन अपने प्रियजन (सांसारिक इच्छा, आसक्ति, अहं, संस्कार) के प्रति मोह के बीच फँस जाता है। यह विषाद और दुःख सिर्फ अर्जुन का नहीं है प्रत्येक साधक का है जब तक कि वह पूर्ण जागरूक नहीं हो जाता।

यह अध्याय वास्तव में चेतना के जागरण की भूमिका बताता है, क्योंकि जब मनुष्य अपने भीतर के संघर्ष को पहचानता है, तब वह बाहरी परिस्थितियों से ऊपर उठकर सत्य की खोज शुरू करता है। अर्जुन का विषाद ही आगे चलकर श्रीकृष्ण के ज्ञान

का कारण बनता है। इसलिए विषाद अंत नहीं, बल्कि चेतना के जागरण का प्रारंभिक द्वार है।

श्लोक -1

“धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय॥”

अर्थ :-धृतराष्ट्र ने कहा-हे संजय! धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में युद्ध करने की इच्छा से एकत्र हुए मेरे पुत्रों (कौरवों) और पाण्डु के पुत्रों (पाण्डवों) ने क्या किया?

सार:- इस श्लोक में अत्यंत गहन अर्थ छुपा हुआ है और यही श्लोक गीता की भूमिका को दर्शाता है। इसमें धृतराष्ट्र संजय से पूछते हैं कि युद्ध की इच्छा से “धर्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्र” के मैदान में एकत्र हुए मेरे (कौरवों) और पाण्डु के पुत्रों ने क्या किया।

“जहाँ मेरे (कौरवों) का आशय अंधे मन (धृतराष्ट्र) के पुत्र जो की आपके अंधे मन की विकृत प्रवृत्तियों से है और पांडु से आशय विवेकशील बुद्धि से है जिसमें पाण्डु के पुत्र पाण्डव :युधिष्ठिर (शांति), भीम (जीवन शक्ति के नियंत्रण), अर्जुन (आत्म नियंत्रण एवं अंतःकरण) , नकुल (सकारात्मक नियमों के पालन की शक्ति जैसे सद्भाव और शुद्धता) , सहदेव (चंचल इन्द्रियों को नियंत्रण की शक्ति, सामंजस्य और अंतर्दृष्टि) से है।

ये दोनों तत्व (पाण्डु और कौरव के) आपके अंदर ही उपस्थित है और दोनों में से एक की ही विजय संभव है। आप ही में ये दोनों गुण है और दोनों में से एक ही गुण इस युद्ध में जीवित रहेगा।

“धर्मक्षेत्र” का आशय यहाँ आपके कर्तव्य के क्षेत्र से है जहाँ आप शरीर, मन, आत्मा के स्तर पर कर्तव्य अनुरूप कर्म करते है। धर्म का वास्तविक अर्थ मजहब नहीं है बल्कि यह वह स्वभाव है जो किसी वस्तु या व्यक्ति को उसी रूप (स्व) में बनाये रखता है। धर्म व्यक्तिगत या सामूहिक अवधारणा नहीं है बल्कि यह सार्वभौमिक अवधारणा है जो ब्रह्मांड में प्रत्येक प्राणी एवं वस्तु पर लागू होती है। सीमित अर्थों में व्यक्ति धर्म को सामूहिक मान्यताओं, रीतिरिवाज, संस्कारों से जोड़कर देखते है जबकि धर्म व्यापक और सार्वभौमिक अवधारणा है। प्रत्येक व्यक्ति जीव, प्राणी, वस्तु इसे अपनाएं एवं धारण किये हुए है जैसे

अग्नि का धर्म गर्म करना, जल का धर्म शीतलता और प्रवाह करना, सूर्य का धर्म उष्णता एवं जीवन प्रदान करना, वृक्षों का कार्य भोजन, ऑक्सीजन देना इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य का भी धर्म है लेकिन पूर्ण जागरूक न होने के कारण मनुष्य मजहब को ही वास्तविक धर्म समझ लेता है।

मनुष्य एक चेतनायुक्त प्राणी है और आत्मा ही उसका मूल स्वभाव है जैसा कि धर्म का अर्थ ही वह स्वभाव है जो किसी व्यक्ति को उसके स्व-रूप में बनाये रखे। व्यक्ति (मनुष्य) न शरीर है, न मन है, न बुद्धि, न चित्त, न अहंकार बल्कि मनुष्य वह सर्वव्यापक चेतना या आत्मा है जो सत्-चित्त-आनंद स्वरूप में है। प्रत्येक व्यक्ति का प्राथमिक कर्म ही यही है कि वह सत्-चित्त-आनंद स्वरूप को प्राप्त करे। सत्-चित्त-आनंद सर्वव्यापक चेतना का वह स्वरूप है जो अनंत अस्तित्व (सत्) में, अनंत चेतनायुक्त (चित्), एवं आनंद के साथ सभी जगह व्याप्त है। यह महाभारत का युद्ध आपको आपके स्व (self) को प्राप्त करने के लिए आपको लड़ना है। इस स्व (self) की प्राप्ति का जो धर्म (कर्तव्य) का क्षेत्र है वो आपका “धर्मक्षेत्र” है।

“कुरुक्षेत्र”- का आशय यहाँ आपके शरीर -मन -आत्मा के क्षेत्र से है जहाँ आपको युद्ध करना है। इन तीनों के सम्मिलित क्षेत्र को “कुरुक्षेत्र” कहा गया है। इस कुरुक्षेत्र में आपको युद्ध करने के साथ-साथ तीनों स्तर पर विजय प्राप्त करनी है। इस कुरुक्षेत्र में आपके (अर्जुन के) साथ कौन -कौन है और आपके विपक्ष में कौन -कौन है इसका वर्णन आपको आगे के श्लोक में प्राप्त होगा। जब व्यक्ति अपना **भौतिक शरीर** प्राप्त करता है तो उसके अस्तित्व -संचालन के लिए मन, बुद्धि, अहं, चित्त, पाँच **ज्ञानेंद्रियाँ** (दृष्टि, गन्ध, सुनना, स्वाद, स्पर्श), पाँच **कर्मेन्द्रियाँ** (बोलना, चलना, हस्त कौशल, प्रजनन, उत्सर्जन) और पाँच प्राण (प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान) जैसे सूक्ष्म तत्व **सूक्ष्म शरीर** के रूप में उपस्थित होते हैं। ये उन्नीस तत्व भौतिक शरीर के निर्माण, पोषण, संचालन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इसके अतिरिक्त भौतिक और सूक्ष्म शरीर के सृजन का विचार रूप या बीज रूप को **कारण शरीर** कहा गया है जो विचार शक्ति (Thought energy) को वास्तविकता (reality) प्रदान करता है। इन तीनों शरीर के परे जो स्थित है वो शुद्ध चेतना (आत्मा) है जो इन तीनों शरीर को आधार प्रदान करती है। जैसे ही चेतना इन तीनों शरीर के साथ सहसंबंध

बनाती है वैसे ही यह चेतना सीमित होती जाती है जिसे “व्यक्तिगत चेतना” कहा गया है। ये तीनों शरीर का क्षेत्र ही आपका **कुरुक्षेत्र** है जिसमें विजय प्राप्त कर आपको “व्यक्तिगत चेतना” को “**सर्वव्यापक चेतना (ईश्वर)**” में स्वयं को स्थापित करना है।

अंतः इस धर्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्र के मैदान में आपके सकारात्मक पक्ष (पाण्डु की सेना) को स्वयं के नकारात्मक तत्व (कौरव की सेना) से लड़ना है। ऐसे नकारात्मक तत्व जो आपकी **सर्वव्यापक चेतना** (Omnipresent Consciousness) को **व्यक्तिगत चेतना** (Individual consciousness) में सीमित करते हैं उन्हें आपको अपने सकारात्मक पक्ष से पराजित करना है।

इस श्लोक में धृतराष्ट्र संजय से युद्ध की वास्तविक स्थिति बताने का अनुरोध कर रहे हैं। धृतराष्ट्र जन्म से अंधे हैं, प्रतीकात्मक अर्थ में उन्हें “अंधे मन” के रूप में देखा जा सकता है जो सत्य को प्रत्यक्ष देखने में असमर्थ है और उनकी चेतना ममत्व से ढकी हुई है। धृतराष्ट्र “कौरव” कहने के बजाय “**मामकाः**” — **मेरे लोग, मेरे पुत्र** कहते हैं। यहीं से **अहंकार और ममत्व** की शुरुआत दिखाई देती है। “मैं” से उत्पन्न होता है **अहंकार**, और “मेरा” से उत्पन्न होता है **ममत्व**। **यह मेरा है, यह मेरा परिवार है, यह मेरी संपत्ति है, मेरी प्रतिष्ठा है, मेरी सफलता है**” तो चेतना स्वयं को सर्व व्यापक अस्तित्व से अलग करके व्यक्तिगत चेतना में सीमित करने लगती है।

संजय **अंतर्दृष्टि** का प्रतीक है। धृतराष्ट्र स्वयं युद्ध नहीं देख सकता, लेकिन संजय उसे देखने में सक्षम हैं। इसी प्रकार जब मनुष्य अपने भीतर अंतर्दृष्टि विकसित करता है, तब वह अपने विचारों, भावनाओं और प्रवृत्तियों को उनसे जुड़कर नहीं, बल्कि उन्हें देखकर समझने लगता है। यहाँ संजय वास्तविक स्थिति का आत्मनिरीक्षण कर अंधे रूपी मन धृतराष्ट्र को मानसिक-आध्यात्मिक युद्ध (महाभारत युद्ध) की स्थिति का वर्णन करेंगे।

गीता के श्लोक 2-6 में पाण्डु पुत्रों की तरफ़ खड़ी सेना का वर्णन किया गया है। यह आपकी सेना है जिसको जीवन के महाभारत के युद्ध में लड़ने के लिए रणनीतिक-मनोवैज्ञानिक रूप से इनका प्रयोग करना है ये आपके सकारात्मक पक्ष को इंगित करता है।

श्लोक 2 :-

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत्॥

अर्थ: तब कौरव के राजा दुर्योधन ने पाण्डवों की सेना को देखकर, आचार्य (द्रोणाचार्य) के पास जाकर यह वचन कहा॥

श्लोक 3:-

पश्यैताम् पाण्डुपुत्राणाम् आचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढाम् द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता॥

अर्थ: हे आचार्य! देखिए, पाण्डुपुत्रों (पाण्डवों) की यह विशाल सेना, जो आपके ही बुद्धिमान शिष्य द्रुपदपुत्र (धृष्टद्युम्न) द्वारा व्यूहबद्ध की गई है।

श्लोक 4:-

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदो च महारथः॥

अर्थ :- "यहाँ (इस सेना में) भीम और अर्जुन के समान युद्ध करने वाले बहुत से महान धनुर्धर (शूरी) हैं, जैसे युयुधान, विराट और द्रुपद, जो कि महारथी हैं।"

श्लोक 5:-

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशीराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः॥

अर्थ :- इस सेना में धृष्टकेतु, चेकितान, पराक्रमी काशिराज (काशी के राजा), पुरुजित्, कुन्तिभोज और मनुष्यों में श्रेष्ठ शैब्य जैसे महान और शक्तिशाली योद्धा भी हैं।

श्लोक 6:-

युधामन्युश्च विक्रांत उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रोपदेयाश्च सर्व एव महारथः ॥

अर्थ:- ये सभी महारथी हैं; पराक्रमी युधामन्यु, शक्तिशाली उत्तमौजा, सुभद्रापुत्र और द्रौपदी के पुत्र, ये सभी महान योद्धा प्रमुख हैं।

सार (श्लोक 2-6) :- इन श्लोकों का सार यह है कि जब भी व्यक्ति अपनी चेतना को उन्नत करने, मन पर विजय प्राप्त करने के लिए या शारीरिक -मानसिक क्षमताओं को बढ़ाने के लिए स्वयं को तैयार करता है या आत्मनिरीक्षण करता है तब **दुर्योधन (सांसारिक इच्छा)** अपने अस्तित्व को खोने के डर से अपने **गुरु द्रोणाचार्य (संस्कार)** के पास जाकर अपनी स्थिति सुदृढ़ करने के लिए पांडव की सेना के बारे में बताता है। संस्कार व्यक्ति में कई जन्मों, कई समय बाद विकसित होते हैं जो आगे चलकर सांसारिक इच्छा के साथ सहसंबंध स्थापित कर व्यक्ति के **मानसिक पैटर्न (Mental pattern)** और **चेतना के पैटर्न (conscious pattern)** को प्रभावित करते हैं। संस्कार अच्छे भी हैं और बुरे भी हैं लेकिन जब ऐसे संस्कार जो सांसारिक इच्छा, विभिन्न आसक्तियों के साथ एकता स्थापित कर लेते हैं तो वे कौरव की सेना के साथ खड़े प्रतीत होते हैं। जब भी व्यक्ति विवेकशील बुद्धि या गुणों को जाग्रत करने का प्रयास करता है तभी दुर्योधन रूपी सांसारिक इच्छा **द्रोण (संस्कारों)** के पास जाकर अपनी स्थिति सुदृढ़ करने की चेष्टा करने के आशय से **पांडव की सेना (सकारात्मक पक्ष)** को पराजित करने के आशय से उनका आंकलन करने लगता है। जो मनुष्य आत्मनियंत्रण और विवेकशील बुद्धि को सुदृढ़ नहीं करता वह सांसारिक इच्छा और संस्कारों की वजह हमेशा पराजित ही महसूस करता है चाहे वह शारीरिक स्तर पर हो या मानसिक स्तर पर या आत्मा के स्तर पर हो।

तब दुर्योधन रूपी सांसारिक इच्छा अपने पूर्व और वर्तमान के संस्कारों (गुरु द्रोण) को बताता है कि पाण्डु की सेना को देखिए जो आपके शिष्य द्रुपद का पुत्र धृष्टद्युम्न द्वारा पंक्तिबद्ध की गई है। यहाँ द्रुपद ऐसे संस्कार द्वारा दीक्षित प्रवृत्तियाँ हैं जो वैराग्य या भौतिक सुखों के प्रति अनासक्ति का प्रतीक हैं और द्रुपद का पुत्र धृष्टद्युम्न (दृढ़ साहस) है जिसने विवेकशील बुद्धि या चेतना की उन्नति के लिए उपस्थित सकारात्मक पक्ष को पंक्तिबद्ध किया हुआ है।

पाण्डु की सेना में जो सकारात्मक पक्ष है वो निम्न है:-

भीम:- भीम महाभारत के पांडवों की तरफ़ से सबसे शक्तिशाली योद्धा थे, जो वायुदेव के वरदान से कुंती के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। भीम यहाँ आपके **प्राण शक्ति (Life Force) या जीवन शक्ति के नियंत्रण** का प्रतीक है जो सांसारिक इच्छा (दुर्योधन) को समाप्त करने का प्रण लेता है अर्थात् जब साधक स्वयं की चेतना को सर्वव्यापक चेतना में रूपांतरित करने का प्रण लेता है तब प्रथम सोपान दुर्योधन रूपी सांसारिक इच्छा को हराने का प्रण होता है। सांसारिक इच्छा पर विजय प्राप्त करने के लिए साधक को अपनी आंतरिक शक्ति या प्राण शक्ति को अनुशासित और नियंत्रित करना महत्वपूर्ण होता है। मानसिक और आध्यात्मिक विकास के क्रम में सांसारिक इच्छा सबसे बड़ी बाधा होती है जिसे बिना प्राण शक्ति के नियंत्रण के हराना संभव नहीं है।

अर्जुन:- अर्जुन पांडवों में सबसे कुशल योद्धा थे, जो अपनी असाधारण धनुर्विद्या, वीरता और धार्मिक गुणों के लिए जाने जाते थे। अर्जुन यहाँ स्वयं के “**आत्मनियंत्रण और एकाग्रता**” का प्रतीक है जिनके बिना जीवन के इस महाभारत को जीतना संभव नहीं है। जब व्यक्ति (साधक) मानसिक और आध्यात्मिक विकास करने का इच्छुक होता है और स्वयं इस जीवन के युद्ध को जीत कर मानसिक शांति, आनंद, ईश्वरीय गुण प्राप्त करना चाहता है तो बिना आत्मनियंत्रण और एकाग्रता के यह कार्य संभव नहीं है। आत्मनियंत्रण तभी आयेगा जब सामने खड़ी कौरव की सेना (सांसारिक इच्छा, संस्कार, आसक्ति, अहं इत्यादि) को परास्त करेंगे।

इसके अतिरिक्त अर्जुन यहाँ व्यक्ति के उस “**अंतःकरण**” को इंगित करता है जो नकारात्मक पक्ष (कौरव पक्ष) को समाप्त करना चाहता है क्योंकि इस अंतःकरण को जीवन के अनुभव से भान हो जाता है कि व्यक्ति की सीमित चेतना या जीवन के मायाजाल में अन्ततः दुख ही प्राप्त होगा जब तक व्यक्तिगत चेतना को सर्वव्यापक चेतना में रूपांतरित न कर दिया जाए जिस कारण वह इस प्रक्रिया में आगे तो बढ़ना चाहता है लेकिन अपने ही अहं (भीष्म), संस्कार (द्रोण), सांसारिक इच्छा (दुर्योधन), आसक्ति (कर्ण) इत्यादि को मारने से डरता भी है।

युयुधान:- युयुधान, जिन्हें **सात्यकि** के नाम से भी जाना जाता है, महाभारत काल के एक महान यादव योद्धा थे। वे भगवान श्रीकृष्ण के घनिष्ठ मित्र तथा अर्जुन के शिष्य थे। उन्होंने

महाभारत के युद्ध में पांडवों का साथ दिया और अपने अदम्य साहस, निष्ठा तथा युद्ध-कौशल का परिचय दिया। आध्यात्मिक दृष्टि से युयुधान को केवल एक ऐतिहासिक योद्धा के रूप में नहीं, बल्कि साधक के भीतर जागृत होने वाली “विजय की इच्छा-शक्ति” के प्रतीक के रूप में देखा जा सकता है।

यहाँ युयुधान उस आंतरिक शक्ति का प्रतिनिधित्व करते हैं, जो साधक के भीतर सत्य, आत्मज्ञान और चेतना की विजय प्राप्त करने की तीव्र इच्छा उत्पन्न करती है। यह इच्छा केवल बाहरी सफलता प्राप्त करने की महत्वाकांक्षा नहीं है, बल्कि अपने भीतर मौजूद अज्ञान, भय, आसक्ति, अहंकार और नकारात्मक प्रवृत्तियों पर विजय पाने की संकल्प-शक्ति है। साधना में अनेक बार व्यक्ति सत्य को समझ तो लेता है, लेकिन उसके अनुसार जीवन जीने के लिए आवश्यक दृढ़ता उसमें नहीं होती। यहीं युयुधान की चेतना आवश्यक हो जाती है। यह भीतर से उठने वाली वह आवाज है जो कहती है—“मुझे अपने अज्ञान पर विजय प्राप्त करनी है, मुझे अपने मन की दुर्बलताओं से ऊपर उठना है और मुझे अपनी चेतना के उच्चतर स्तर तक पहुँचना है।”

विराट:- मत्स्य देश के राजा थे, जो पांडवों के अज्ञातवास के दौरान उनके राज्य में आश्रय लेने के लिए जाने जाते हैं। विराट यहाँ आपके “आंतरिक सहयोग शक्ति” का प्रतीक है जिसने पांडव (सकारात्मक पक्ष) या युधिष्ठिर (शांति), भीम (जीवन शक्ति के नियंत्रण), अर्जुन (आत्म नियंत्रण), नकुल (सद्भाव), सहदेव (सामंजस्य) को आश्रय दिया है। महाभारत में राजा विराट ने अज्ञातवास के दौरान पांडवों को अपने राज्य में आश्रय दिया था। इसी आधार पर विराट का अर्थ साधक के भीतर उस सकारात्मक वातावरण या चेतना से लिया जा सकता है, जहाँ मन की श्रेष्ठ शक्तियाँ सुरक्षित रहकर स्वयं को विकसित कर सकें।

यहाँ विराट उस आंतरिक सहयोग-शक्ति का प्रतीक हैं, जो साधक के भीतर मौजूद सकारात्मक गुणों को संरक्षण देती है। जब मनुष्य बाहरी संघर्षों और आंतरिक द्वंद्वों से गुजरता है, तब केवल ज्ञान या शक्ति पर्याप्त नहीं होती; उसे अपने भीतर एक ऐसा संतुलित और शांत वातावरण चाहिए, जहाँ उसकी चेतना की सकारात्मक शक्तियाँ बिना भय के विकसित हो सकें। यही विराट का प्रतीकात्मक आश्रय है।

द्रुपद:- जो दक्षिणी पांचाल साम्राज्य के राजा थे और द्रौपदी, धृष्टद्युम्न व शिखंडी के पिता थे। यहाँ द्रुपद ऐसे संस्कार द्वारा दीक्षित प्रवृत्तियाँ है जो “वैराग्य या भौतिक सुखों के प्रति अनासक्ति “ का प्रतीक है। आध्यात्मिक दृष्टि से द्रुपद को साधक के भीतर उत्पन्न होने वाले ऐसे संस्कारों और दीक्षित प्रवृत्तियों के प्रतीक के रूप में देखा जा सकता है, जो धीरे-धीरे व्यक्ति को भौतिक सुखों की अत्यधिक आसक्ति से दूर करके वैराग्य की ओर ले जाती हैं।

यहाँ द्रुपद का अर्थ केवल संसार का त्याग करना नहीं है। **वैराग्य का वास्तविक अर्थ है— संसार में रहते हुए भी संसार की वस्तुओं को अपनी चेतना का अंतिम आधार न मानना।** व्यक्ति धन, प्रतिष्ठा, संबंध, सुख-सुविधा और इच्छाओं का उपयोग करता है, लेकिन उसके भीतर यह बोध बना रहता है कि ये सभी परिवर्तनशील हैं। इस बोध से भौतिक वस्तुओं के प्रति पकड़ धीरे-धीरे कम होने लगती है।

धृष्टकेतु:- महाभारत के एक महत्वपूर्ण पात्र थे, जो चेदि साम्राज्य के राजा और शिशुपाल के पुत्र थे, और कुरुक्षेत्र युद्ध में पांडवों के सहयोगी के रूप में लड़े थे। धृष्टकेतु का अर्थ “साहसी ध्वजा वाला” है यह आपके “मानसिक साहस” का प्रतीक है। प्रतीकात्मक रूप से यह ध्वजा उस चेतना का संकेत है जो कठिन परिस्थितियों में भी अपने आदर्श और सत्य को ऊँचा रखती है। साधक के भीतर जब चेतना का विकास प्रारंभ होता है, तब सबसे बड़ी चुनौती बाहरी परिस्थितियाँ नहीं, बल्कि **मन के भीतर उत्पन्न होने वाला भय, संदेह, असुरक्षा और नकारात्मक विचार** होते हैं। इन परिस्थितियों में सत्य को पहचान लेना पर्याप्त नहीं है; उस सत्य के साथ खड़े रहने के लिए मानसिक साहस की आवश्यकता होती है। यही धृष्टकेतु का प्रतीकात्मक स्वरूप है।

चेकितान:- केकय देश के राजा धृष्टकेतु के पुत्र का नाम जिसने महाभारत के युद्ध में पांडवों की सहायता की थी। चेकितान का शाब्दिक अर्थ “अधिक ज्ञान वाला “ है यह व्यक्ति के उस ज्ञान की ओर इशारा करता है जो सत्य के करीब है। यह ज्ञान “**अंतःकरण से उत्पन्न ज्ञान**” है जो शुद्ध चेतना के ज्ञान से संबंधित है। चेकितान साधक के भीतर मौजूद उस **अंतःज्ञान (inner knowing)** का प्रतिनिधित्व करते हैं, जो केवल पुस्तकीय जानकारी पर आधारित नहीं होता, बल्कि अनुभव, विवेक, आत्मनिरीक्षण और शुद्ध अंतःकरण से उत्पन्न होता है।

काशीराज:-महाभारत में अम्बा, अम्बिका और अम्बालिका के पिता के रूप में और बाद में श्रीकृष्ण के समकालीन, वासुदेव के मित्र के रूप में उनका वर्णन है। काशी को प्रकाश देने वाली नगरी के रूप में जाना जाता है और इसी के राजा को काशीराज कहा जाता है। यह व्यक्ति के उस “**आंतरिक प्रकाश**” को इंगित करता है जो शुद्ध चेतना द्वारा उत्पन्न है और यह भी ज्ञान स्वरूप है। यहाँ काशी केवल बाहरी नगर नहीं, बल्कि साधक के भीतर की एक **चेतन अवस्था** का प्रतीक बन जाती है। जिस प्रकार प्रकाश किसी वस्तु को देखने योग्य बनाता है, उसी प्रकार आंतरिक चेतना मन, विचारों, भावनाओं और संस्कारों को देखने की क्षमता प्रदान करती है। इसलिए काशीराज उस आंतरिक प्रकाश के अधिष्ठाता हैं, जो व्यक्ति को अपने ही भीतर देखने की शक्ति देता है।

नोट: शुद्ध चेतना ज्ञान (प्रज्ञा), प्रकाश, आदि नाद के रूप में स्वयं को प्राथमिक रूप से प्रकट करती है जिसका विस्तृत वर्णन पुस्तक “**ईश्वर :चेतना का पाँचवाँ आयाम**” में आपको प्राप्त होगा।

पुरुजित:- ये कुन्तिभोज के पुत्र थे, जो कुन्ती के पिता थे, और इसलिए युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन जैसे पांडवों के मामा लगते थे; उन्होंने कुरुक्षेत्र युद्ध में पांडवों का साथ दिया और कौरवों के कई योद्धाओं को हराया था, लेकिन द्रोणाचार्य के हाथों मारे गए थे। पुरुजित का शाब्दिक अर्थ कई शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने वाला, यह आपके उस शारीरिक-मानसिक सकारात्मक क्षमता को इंगित करता है जिससे कई शारीरिक-मानसिक द्वंद दूर हो जाते हैं। यह आपके “**दृढ़ इच्छाशक्ति**” को बताता है जिससे कई शत्रु पराजित करने की क्षमता होती है।

कुन्तिभोज:- यदुवंश के एक राजा थे जो कुन्ती के पालक पिता थे। उन्होंने निःसंतान होने के कारण गोद ले लिया था, और उसका नाम कुन्ती रखा। कुन्तिभोज महाभारत के युद्ध में पांडवों की तरफ से लड़े थे। कुन्ती का शाब्दिक अर्थ “**शक्ति-भक्ति और मातृत्व**” होता है और कुन्तिभोज आपके “**ईश्वर के प्रति समर्पण, भक्तिभाव, प्रेम**” का प्रतीकात्मक अर्थ है।

शैब्य:- शैब्य का प्रतीकात्मक अर्थ है—मनुष्य के भीतर स्थित वह श्रेष्ठ, धर्मनिष्ठ और जागृत चेतना, जो निम्न प्रवृत्तियों पर विजय प्राप्त करने के लिए विवेक और साहस के साथ खड़ी होती है। “**नरपुंगव**” अर्थात् मनुष्यों में श्रेष्ठ—यह संकेत करता है कि मनुष्य की चेतना

में ऐसी उच्च अवस्था भी विद्यमान है जहाँ व्यक्ति केवल अपनी इच्छाओं और विकारों द्वारा संचालित नहीं होता, बल्कि **विवेक, धर्म और उच्च मूल्यों** के अनुसार कार्य करता है।

युद्धामन्यु:- युद्धामन्यु पांचाल नरेश द्रुपद और द्रौपदी के भाई थे, साथ ही धृष्टद्युम्न के भी भाई थे। यह आपके उस “**नियंत्रित ऊर्जा**” का प्रतीक है जो आपकी शारीरिक-मानसिक विकृत प्रवृत्तियों को समाप्त करने के लिए आवश्यक है। वह चेतन शक्ति जिससे मनुष्य - जीव जीवित रहते हैं और स्थिर-संतुलित जीवन के लिए आवश्यक है। यह ऊर्जा केवल शारीरिक शक्ति नहीं है। इसे व्यापक अर्थ में **जीवन-ऊर्जा, मानसिक ऊर्जा, इच्छाशक्ति और चेतन क्रियाशीलता** के रूप में समझा जा सकता है। मनुष्य का शरीर जीवित रहता है, मन विचार करता है और बुद्धि निर्णय लेती है—इन सभी प्रक्रियाओं के पीछे ऊर्जा की आवश्यकता होती है। इस दृष्टि से युद्धामन्यु उस **जीवनदायी सक्रिय शक्ति** के प्रतीक हैं, जो व्यक्ति को निष्क्रियता से निकालकर कर्म और जागरूकता की ओर ले जाती है।

उत्तमौजस:- महाभारत के एक पराक्रमी योद्धा थे, जो पांचाल नरेश द्रुपद के पुत्र और द्रौपदी व धृष्टद्युम्न के भाई थे, और कुरुक्षेत्र युद्ध में पांडवों की ओर से लड़े थे; वे अर्जुन के रथ के रक्षक थे और एक शक्तिशाली महारथी थे। इनको “**वीर्यवान**” की भी संज्ञा दी गई है। यह व्यक्ति का अत्यावश्यक “**ब्रह्मचर्य (पुरुषार्थ)**” को दर्शाता है जो चेतना के उन्नत के लिए और चेतना के केंद्रों को जाग्रत करने के लिए आवश्यक है।

उत्तमौजा को अर्जुन के रथ की रक्षा करने वाला वीर योद्धा और “वीर्यवान” कहा गया है। उत्तमौजा साधक के भीतर स्थित उस **संरक्षित और अनुशासित जीवन-ऊर्जा** के प्रतीक हैं, जिसे भारतीय योग परंपरा में **ब्रह्मचर्य** से जोड़ा जाता है। यहाँ ब्रह्मचर्य का अर्थ केवल शारीरिक संयम या काम-विकार से दूरी नहीं है, बल्कि व्यापक अर्थ में **अपनी ऊर्जा, इच्छाओं, इन्द्रियों और जीवन-शक्ति को उच्चतर उद्देश्य की ओर निर्देशित करना** है।

सुभद्रा का पुत्र (अभिमन्यु)- महाभारत के एक वीर योद्धा थे, अर्जुन और भगवान कृष्ण की बहन सुभद्रा के पुत्र थे; उन्होंने महाभारत युद्ध के दौरान चक्रव्यूह में प्रवेश किया और वीरगति प्राप्त की। यह व्यक्ति के आत्मसंयम का प्रतीक है। यह “**आत्मसंयम**” ही चक्रव्यूह को भेदना जानता है और **आत्मनियंत्रण (अर्जुन)** का ही पुत्र है। आत्मसंयम का अर्थ केवल अपनी इच्छाओं को रोकना नहीं है। इसका अर्थ है—**इच्छा, विचार, भावना और**

कर्म के बीच जागरूक संतुलन स्थापित करना। महाभारत का चक्रव्यूह मनुष्य के भीतर मौजूद जटिल मानसिक और सांसारिक संरचनाओं का प्रतीक बन सकता है।

चक्रव्यूह में प्रवेश करना केवल बाहरी साहस नहीं है। प्रतीकात्मक रूप से यह अपने ही मन के भीतर प्रवेश करना है। मन में इच्छा उत्पन्न होती है, लेकिन आत्मसंयम व्यक्ति को तुरंत उस इच्छा के पीछे भागने से रोकता है। क्रोध आता है, लेकिन वह क्रोध के अनुसार तुरंत प्रतिक्रिया नहीं करता। भय उत्पन्न होता है, लेकिन भय उसके निर्णय को नियंत्रित नहीं करता। इस प्रकार आत्मसंयम मनुष्य को अपनी आंतरिक शक्तियों का स्वामी बनाता है।

द्रौपदी के पुत्र:- जब शरीर में स्थित ऊर्जा केन्द्रों को जाग्रत किया जाता है तो द्रौपदी (कुंडलिनी) का विवाह चेतना के इन केन्द्रों (मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध) से हो जाता है जिसमें युधिष्ठिर (शांति), भीम (जीवन शक्ति के नियंत्रण), अर्जुन (आत्म नियंत्रण एवं अंतःकरण), नकुल (शुद्धता, सद्भाव और सकारात्मक आचरण), सहदेव (इन्द्रिय-संयम, सामंजस्य और अंतर्दृष्टि) का प्रतीक है, इन शक्तियों का समन्वय होने पर कुंडलिनी अर्थात् आंतरिक चेतनात्मक ऊर्जा केवल ऊर्जा के रूप में नहीं रहती, बल्कि साधक के व्यक्तित्व और चेतना में परिवर्तन उत्पन्न करने लगती है।

द्रौपदी के पुत्रों को चेतना के नए विकसित आयामों के रूप में देखा जा सकता है। ये चेतना के नए विकसित आयाम द्रौपदी के पुत्र हैं जो शरीर में उपस्थित पाँच चेतना केन्द्रों (मूलाधार, स्वाधिष्ठान मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध) के विभिन्न आयामों को भी बताते हैं। ये “पुत्र” किसी जैविक अर्थ में नहीं, बल्कि साधना से उत्पन्न नई मानसिक, नैतिक और चेतनात्मक अवस्थाओं के प्रतीक हैं। जैसे-जैसे साधक शांति, जीवन-ऊर्जा का नियंत्रण, आत्मसंयम, शुद्धता, इन्द्रिय-संयम और अंतर्दृष्टि को विकसित करता है, उसकी चेतना पहले जैसी सीमित नहीं रहती। उसमें नए दृष्टिकोण और अनुभव उत्पन्न होते हैं।

उपरोक्त बताए गए पाण्डु की सेना के महारथी के गुण विशेषताएं आपके अंदर भी विद्यमान हैं जिनकी भूमिका जीवन के युद्ध को लड़ने और चेतना को उन्नत करने में अलग-अलग हैं, बशर्ते इन गुणों को जानने, समझने, प्रयोग करने की कला आपको आनी चाहिए बिना रणनीति के जीवन का महाभारत युद्ध नहीं जीता जाएगा और यह कार्य तब और दुष्कर हो जाएगा जब आपको अपने ही कौरव (मन

की विकृत प्रवृत्ति), भीष्म (अहं), द्रोण (बुरे संस्कार), दुर्योधन (सांसारिक इच्छा), कर्ण (आसक्ति) जैसे मजबूत योद्धा से लड़ना हो।

आगे के श्लोक अब कौरव की सेना का वर्णन करते हैं :-

श्लोक 7:-

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तमा।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तानब्रवीमि ते॥

अर्थ:- इस श्लोक में दुर्योधन, गुरु द्रोण को अपनी सेना के उन खास सेनापतियों के नाम बता रहा है जो उनकी ओर से युद्ध में साथ हैं, ताकि वे उन्हें ठीक से पहचान सकें और युद्ध के लिए तैयार हो सकें।

श्लोक 8:-

भवनभीष्मश्च कर्णश्च कृपाश्च समितिञ्जयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तस्तथैव च ॥

अर्थ :-

"द्रोणाचार्य, भीष्म, कर्ण, युद्ध में सदा विजयी कृपाचार्य, अश्वत्थामा, विकर्ण, और सोमदत्त के पुत्र (भूरिश्रवा) भी हमारी सेना में हैं।

श्लोक 9:-

"अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः॥"

अर्थ :-

"इसके अतिरिक्त, और भी अनेक शूरवीर हैं, जो मेरे लिए अपने प्राणों का त्याग करने को तत्पर हैं। वे सभी विभिन्न प्रकार के शस्त्रों से सुसज्जित हैं और युद्ध कला में निपुण हैं।

सार(श्लोक 7-9):- इन श्लोक में उन तत्वों का वर्णन किया गया है जो व्यक्ति को शारीरिक-मानसिक-आध्यात्मिक स्तर के विकास और चेतना को उन्नत करने में बाधक है जिन्हें **कौरव की सेना** का प्रतीकात्मक रूप दिया गया है। जब साधक या व्यक्ति विशेष शारीरिक-मानसिक-आध्यात्मिक स्तर के विकास और चेतना को उन्नत करने के लिए तैयारी करता है तब सांसारिक इच्छा (दुर्योधन) गुरु द्रोण (संस्कार) के पास जाकर स्वयं की स्थिति को भी आकलन करवाता है जिससे कि संस्कार रूपी द्रोण आकलन कर सके कि उनके साथ कौन-कौन से गुण और विशेषताएं हैं जिससे मानसिक-आध्यात्मिक युद्ध में साधक को मनोवैज्ञानिक रूप से पराजित किया जा सके।

इस अनुक्रम में दुर्योधन अपने पक्ष के प्रधान महारथी के बारे में बताते हैं जो इस प्रकार है:-

गुरु द्रोणाचार्य:- महाभारत के एक महान योद्धा और कौरवों व पांडवों के गुरु थे, जिन्होंने उन्हें सैन्य कलाओं और दिव्य अस्त्रों की शिक्षा दी। वे ऋषि भारद्वाज के पुत्र थे और अर्जुन उनके सबसे प्रिय शिष्य थे। कुरुक्षेत्र युद्ध के दौरान उन्होंने कौरव सेना के सेनापति के रूप में कार्य किया था, और अंततः धृष्टद्युम्न ने उनका वध किया। यह व्यक्ति की “**आदतें, संस्कार**”(Habits and Values) का प्रतीक है जो अच्छे एवं बुरे दोनों प्रकार के होते हैं। **सकारात्मक संस्कार** व्यक्ति को सत्य, अनुशासन, करुणा, संयम, अध्ययन, सेवा और आत्मनिरीक्षण की ओर ले जा सकते हैं। **नकारात्मक संस्कार** व्यक्ति को क्रोध, लोभ, भय, ईर्ष्या, अहंकार, आसक्ति और अनियंत्रित इच्छाओं की ओर ले जा सकते हैं।

लेकिन जब व्यक्ति पर बुरे संस्कार हावी होते हैं तो वह व्यक्ति के कौरव पक्ष (नकारात्मक पक्ष) के साथ खड़े दिखाई पड़ते हैं जो चेतना को निम्न स्तर पर लाने का प्रयास करते हैं। ये आदतें एवं संस्कार पूर्व कर्म, परिस्थितियों के कारण चेतना पर बने प्रभाव (conscious pattern) को दर्शाता है इसलिए संस्कार स्वयं केवल शत्रु नहीं हैं। वास्तविक समस्या तब उत्पन्न होती है जब संस्कार इतने मजबूत हो जाते हैं कि वे व्यक्ति के विवेक और वर्तमान निर्णयों पर हावी होने लगते हैं।

संस्कार रूपी द्रोणाचार्य व्यक्ति के भीतर की अनेक शक्तियों को प्रशिक्षित करते हैं, लेकिन उनका प्रभाव जिस दिशा में स्थापित हो जाता है, व्यक्ति का व्यवहार उसी दिशा में जाने लगता है। यह संस्कार इतने मजबूत होते हैं कि वे व्यक्ति के शारीरिक - मानसिक कर्म को

प्रभावी रूप से प्रभावित करते हैं। नकारात्मक संस्कार व्यक्ति के सही ज्ञान को जानते हुए भी उसके व्यवहार को प्रभावित कर सकता है। द्रोणाचार्य इसलिए हमारे भीतर के एक अत्यंत शक्तिशाली पक्ष का प्रतिनिधित्व करते हैं। वे बताते हैं कि **मनुष्य की सबसे बड़ी चुनौती केवल बाहरी परिस्थितियाँ नहीं, बल्कि उसके भीतर बने पुराने मानसिक और चेतना के पैटर्न भी हैं जिन्हें संस्कार की संज्ञा दी जाती है।**

भीष्म:- महाभारत के एक महान और पूजनीय पात्र हैं, जो राजा शांतनु और देवी गंगा के पुत्र थे; उन्होंने अपने पिता के लिए आजीवन ब्रह्मचर्य और हस्तिनापुर के सिंहासन की रक्षा की प्रतिज्ञा ली, जिसके कारण उन्हें 'भीष्म' नाम मिला और इच्छामृत्यु का वरदान भी प्राप्त हुआ। यह व्यक्ति और जीव के **“अहं”(Ego)** का प्रतीकात्मक रूप है जो व्यक्ति में **“मैं”** को स्थापित करता है। अहं को केवल **“अहंकार”** या घमंड समझना अधूरा होगा। कोई व्यक्ति विनम्र दिखाई दे सकता है, फिर भी उसके भीतर **“मैं”** की गहरी पहचान सक्रिय हो सकती है। जैसे **“मैं अच्छा हूँ” “मैं ज्ञानी हूँ” “मैं साधक हूँ” “मैं सफल हूँ” इत्यादि।** अहं केवल अपने को दूसरों से श्रेष्ठ मानना नहीं है; बल्कि किसी भी अनुभव को **‘मैं’** और **‘मेरा’** के साथ जोड़कर अपनी व्यक्तिगत पहचान बनाना अहं की मूल प्रक्रिया है।

यह व्यक्ति की **“अहं चेतना”** है जो सभी कर्म, निर्णय को व्यक्ति के साथ जोड़ती है जिससे **“मैं, मेरा, मेरे द्वारा”** कर्म करने का अभास व्यक्ति करता है। यही अहं शरीर, मन, बुद्धि से एक रूप होकर सर्वव्यापक चेतना को व्यक्तिगत चेतना में सीमित करता है और जब तक इस **“मैं”** का नाश नहीं होता तब तक **“मैं”** ये नहीं जान पाता कि **“मैं कौन हूँ”**। इस अहं का खत्म होना सबसे मुश्किल कार्य है जिस कारण इस जीवन के मनोवैज्ञानिक - आध्यात्मिक युद्ध में विजय और चेतना उन्नत करने के लिए **“अहं”** का होना सबसे बड़ी अड़चन है और इसी कारण पांडवों की सेना के सामने भीष्म सबसे शक्तिशाली प्रतिद्वंदी है जिनके पराजित किए बिना ये युद्ध जीतना असंभव है अर्थात् कर्तापन के भाव को मारे बिना योग संभव नहीं है।

भीष्म को पांडवों के सामने सबसे शक्तिशाली प्रतिद्वंद्वियों में इसलिए भी रखा जाता है क्योंकि मन को नियंत्रित करना अपेक्षाकृत संभव हो सकता है, इच्छाओं को समझना संभव हो सकता है, संस्कारों को बदलना संभव हो सकता है—लेकिन उस सत्ता को पहचानना जो

कहती है “मैं इन सबका अनुभव कर रहा हूँ”, अत्यंत सूक्ष्म कार्य है। इसीलिए “अहं” रूपी भीष्म चेतना की यात्रा की सबसे कठिन अवस्थाओं में से एक माना जाता है।

कर्णः- सूर्य देव और कुंती के पुत्र थे, लेकिन सूत (रथ चलाने वाले) के घर पले-बढ़े, इसलिए उन्हें “सूतपुत्र” भी कहा जाता था। वे अर्जुन के मुख्य प्रतिद्वंद्वी थे और अपनी दानवीरता (इंद्र को कवच-कुंडल दान देना), वफादारी (दुर्योधन के मित्र) और शक्तिशाली युद्ध कौशल के लिए जाने जाते हैं। कर्ण व्यक्ति के “**आसक्ति (Attachment)**” के प्रतीक है मनुष्य किसी वस्तु को केवल देखता या अनुभव नहीं करता; वह उसके साथ भावनात्मक और मानसिक संबंध भी बना लेता है। जब व्यक्ति की यह आसक्ति इन्द्रियों के प्रभाव में आती है तो **सांसारिक इच्छा (दुर्योधन)** की परम मित्र बन जाती है। आसक्ति और सांसारिक इच्छा का गठजोड़ इतना मजबूत है कि इन्हें अलग करना संभव नहीं है। जब तक आसक्ति (कर्ण) की मृत्यु नहीं होगी तब तक सांसारिक इच्छा (दुर्योधन) की मृत्यु संभव नहीं है।

कर्ण की दानवीरता की कहानी प्रसिद्ध है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह एक रोचक बात सामने लाती है कि **आसक्ति हमेशा संग्रह करने के रूप में ही दिखाई नहीं देती।** कभी-कभी व्यक्ति अपनी “दानवीर”, “त्यागी” या “महान” होने की पहचान से भी आसक्त हो सकता है। अर्थात्—“**मैं त्यागी हूँ।**” “**मैं बहुत दानी हूँ।**” यहाँ वस्तु से आसक्ति हटकर **व्यक्तिगत पहचान से आसक्ति** बन सकती है। इसलिए आध्यात्मिक मार्ग पर सबसे सूक्ष्म आसक्ति अपनी आध्यात्मिक उपलब्धियों की भी हो सकती है जिस कारण कई साधक प्राप्त सिद्धियों से आसक्त हो जाते हैं और अंतिम लक्ष्य से भटक जाते हैं।

कृपाचार्यः- कृपाचार्य कुरु वंश के कुलगुरु थे। उन की जुड़वा बहन का नाम कृपि था जिनका विवाह द्रोणाचार्य से हुआ था। महाभारत के युद्ध में कृपाचार्य बच गए थे, क्योंकि उन्हें चिरंजीवी रहने का वरदान था। ये वह “**अविद्या (भ्रम) (Illusion)**” के प्रतीकात्मक रूप है यह वह शक्ति है जो व्यक्ति को उसके वास्तविक, व्यापक चेतनात्मक स्वरूप से अलग मानने के लिए प्रेरित करती है। जिस कारण व्यक्ति जब सर्वव्यापक चेतना या निराकार ब्रह्म से व्यक्तिगत चेतना में स्वयं को भ्रम के रूप में प्रकट करता है तो इन्द्रियों, मन द्वारा प्राप्त भौतिक जगत के ज्ञान को ही सत्य मान लेता है जो भ्रम (अविद्या) का सृजन करता है। यही भ्रम (अविद्या) व्यक्तिगत चेतना को निराकार ब्रह्म या सर्वव्यापक चेतना में रूपांतरित न होने देने के लिए जिम्मेदार है।

साकार और निराकार ब्रह्मा दोनों ही चेतना (ईश्वर) के रूप है लेकिन जहाँ सकार ब्रह्मा अनित्य, परिवर्तनशील, असत्य है वहीं निराकार ब्रह्मा नित्य, अपरिवर्तनीय, सत्य है जिस कारण जब तक भौतिक जगत या सकार ब्रह्म जगत है तब तक अविद्या रूपी कृपाचार्य जीवित रहेंगे। अविद्या केवल किसी एक व्यक्ति की समस्या नहीं है। जब तक मनुष्य इन्द्रियों, मन और अहं के माध्यम से संसार का अनुभव करता है, तब तक **भेद, सीमित पहचान और भ्रम की संभावना** बनी रहती है। इसीलिए कृपाचार्य को ऐसा प्रतीक माना जा सकता है जो युद्ध के बाद भी जीवित रहता है।

अश्वत्थामा :- महाभारत के एक शक्तिशाली योद्धा थे, जो गुरु द्रोणाचार्य के पुत्र थे, वह कौरवों के पक्ष से लड़े, पांडवों के पुत्रों का वध किया और इसके परिणामस्वरूप श्रीकृष्ण द्वारा उन्हें अमरता का श्राप मिला। अश्वत्थामा व्यक्ति की **“सुप्त इच्छाएँ” (Dormant Desire)** का प्रतीक है जो हमेशा जीवित रहती है। यह सुप्त इच्छा व्यक्ति के अवचेतन मन(subconscious mind) से संबंधित है, मनुष्य के भीतर हर इच्छा हमेशा जागृत अवस्था में नहीं रहती। कुछ इच्छाएँ तत्काल सक्रिय होती हैं, जबकि कुछ अनुभवों, स्मृतियों, संस्कारों और भावनात्मक प्रभावों के रूप में मन की गहराई में निष्क्रिय पड़ी रह सकती हैं। उदाहरण के लिए व्यक्ति सामान्य परिस्थितियों में शांत रहता है, लेकिन किसी विशेष परिस्थिति में अचानक अत्यधिक क्रोध उत्पन्न हो जाता है। इसी प्रकार कोई पुरानी महत्वाकांक्षा, भय, ईर्ष्या या भोग की इच्छा वर्षों बाद भी किसी परिस्थिति में पुनः जाग सकती है।

जब अश्वत्थामा रूपी सुप्त इच्छाएँ जागृत होती है तो पाँच चेतना केन्द्रों (मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध) रूपी द्रौपदी (पांडवों)के पुत्रों का वध करती है। सुप्त इच्छाओं को केवल दबा देने से वह हमेशा के लिए समाप्त नहीं हो जाती। वह चेतन मन से हटकर फिर किसी गहरे अवचेतन मन के स्तर पर बनी रह सकती है और अवसर मिलने पर पुनः सक्रिय हो सकती है। इसलिए **सुप्त इच्छा का दब जाना और उसका वास्तव में रूपांतरित होना दो अलग बातें हैं।** इन सुप्त इच्छाओं को दबाने की जरूरत नहीं है बल्कि इनके कारण जानकर ध्यान और साधना द्वारा शक्तिहीन किया जा सकता है जिस प्रकार अश्वत्थामा को महाभारत युद्ध के बाद शक्तिहीन कर अकेले जीवित रहने के लिए छोड़ दिया गया।

विकर्ण :- धृतराष्ट्र और गांधारी के सौ पुत्रों में से एक थे और दुर्योधन के भाई थे। जिस प्रकार कर्ण व्यक्ति के “आसक्ति” के प्रतीक है उसके विपरीत विकर्ण “घृणा” (Hatred) या “द्वेष” (Grudge) के प्रतीक है। घृणा किसी व्यक्ति या वस्तु के प्रति तीव्र नकारात्मक भावना हो सकती है और द्वेष अधिक गहरी मानसिक प्रवृत्ति है—मन किसी अनुभव, व्यक्ति या परिस्थिति को स्वीकार नहीं करता और उसके विरुद्ध मानसिक प्रतिक्रिया बनाए रखता है। उदाहरण जैसे व्यक्ति ने आपको अपमानित किया। घटना समाप्त हो गई, लेकिन मन बार-बार उसी घटना को याद करता है। अब वह व्यक्ति आपके सामने उपस्थित नहीं है, फिर भी उसके प्रति नकारात्मक भाव आपके भीतर मौजूद है। यही द्वेष की शक्ति है। जब व्यक्ति किसी व्यक्ति वस्तु, भाव से सुख नहीं पाता तब द्वेष भाव उत्पन्न होता है।

जब व्यक्ति सांसारिक इच्छा (दुर्योधन) उत्पन्न करता है तब अगर वह इच्छा पूर्ण हो जाती है तो वह व्यक्ति में आसक्ति लाती है लेकिन अपूर्ण रहने में घृणा या द्वेष लाती है इसलिए सांसारिक इच्छा रूपी दुर्योधन के कर्ण (आसक्ति) और विकर्ण (द्वेष) भाई जैसे हैं। आसक्ति और द्वेष एक-दूसरे के विपरीत हैं, लेकिन आध्यात्मिक दृष्टि से दोनों व्यक्ति को समान रूप से बांध सकते हैं। यदि आप किसी वस्तु से बहुत प्रेम करते हैं और लगातार उसके बारे में सोचते हैं, तो आपका मन उससे बंधा हुआ है। यदि आप किसी व्यक्ति से बहुत घृणा करते हैं और लगातार उसी के बारे में सोचते हैं, तब भी आपका मन उसी से बंधा हुआ है।

सोमदत्त के पुत्र (भूरिश्रवा):- महाभारत काल के एक कौरव योद्धा थे, जो बहलिका के पौत्र और पांडवों के चाचा थे; वह एक पराक्रमी योद्धा थे जिन्होंने कुरुक्षेत्र युद्ध में कौरवों की ओर से भाग लिया और सात्यकि से उनका भीषण युद्ध हुआ और मारे गए हैं। भूरिश्रवा का शाब्दिक अर्थ “बहुत या प्रचुर” है। यह व्यक्ति के उन बहुत सारे कर्म की ओर इशारा करते हैं जो उनकी व्यक्तिगत चेतना को सीमित करते हैं या कर्मों में एवं उनके परिणामों में व्यक्ति को बांधे रखते हैं जिस कारण व्यक्ति कर्म-उनके फल में शरीर-मन के स्तर पर बंधा रहता है। मनुष्य के जीवन में हजारों कर्म होते हैं। इनमें से अनेक कर्म समाप्त हो जाते हैं, लेकिन उनके अनुभव, परिणाम और मानसिक प्रभाव भीतर बने रह सकते हैं। इसलिए कर्म समाप्त हो सकता है, लेकिन कर्म का मानसिक प्रभाव हमेशा उसी क्षण समाप्त हो जाए, यह आवश्यक नहीं है

उपरोक्त बताए गए कौरव की सेना के गुण दुर्योधन-सांसारिक इच्छा, कर्ण-आसक्ति, द्रोणाचार्य-नकारात्मक संस्कार, भीष्म-अहं, कृपाचार्य-अविद्या, अस्वत्थामा-सुप्त इच्छाएँ, विकर्ण-द्वेष, भूरिश्रवा-व्यक्तिगत चेतना को सीमित करने वाले कर्म इत्यादि व्यक्ति को भौतिक संसार में और इन्द्रियों के प्रलोभनों में फँसाए रहते हैं और व्यक्ति को स्वयं (self) को जानने से दूर रखते और वास्तविक कर्म-धर्म से भ्रमित रखते हैं। जब तक व्यक्ति इन गुणों को नहीं परास्त करता तब तक व्यक्ति अपनी सच्ची आत्म प्रकृति को नहीं समझ सकता और सीमित चेतना में स्वयं को आबद्ध कर व्यक्ति को सर्वव्यापक शुद्ध चेतना (ईश्वर) की वास्तविक समझ से दूर रखती है।

श्लोक 10:-

“अपर्याप्तं तदस्माकं बलम् भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलम् भीमाभिरक्षितम्॥”

अर्थ:- भीष्म पितामह से रक्षित हमारी सेना तो असीमित (अपर्याप्त) है, परन्तु भीम से रक्षित पांडवों की सेना सीमित (पर्याप्त) है।

सार:- इस श्लोक में दुर्योधन गुरुद्रोण को बता रहे हैं कि हमारी सेना (चेतना की प्रगति में बाधक तत्व) भीष्म (अहं) द्वारा रक्षित है। जब तक व्यक्ति का यह अहं जीवित है तब तक उसके गुण व्यक्ति की चेतना को सर्वव्यापक चेतना में रूपांतरित करने में सबसे बड़ी बाधक है। जब तक व्यक्ति स्वयं के अहं के परे नहीं पहुँचेगा और समय-स्थान की सीमाओं में बंधा रहेगा तब तक वह स्वयं की चेतना को अहंबद्ध होकर कितना भी विस्तारित कर ले सर्वव्यापक चेतना के वास्तविक आयाम को नहीं समझ एवं जान पाएगा। जैसे घड़ा मिट्टी से तब तक अलग है जब तक वह घड़ा है। जब मनुष्य अपने अहं (Ego) से ऊपर उठकर इस सर्वव्यापक चेतना से एकाकार होता है तब व्यक्ति को अनुभव होता है कि 'मैं नहीं, सब मैं ही हूँ' यानि व्यक्तिगत चेतना और सर्वव्यापक चेतना एक ही है।

यह अहं काम (वासना), क्रोध, लोभ (लालच), मद (धमंड), मोह (आसक्ति), और मात्सर्य (ईर्ष्या) जैसे गुणों को व्यक्ति के शरीर और मन के साथ सहसंबंध बनाकर “मैं” के भाव में फँसा देते हैं और चेतना के पतन का कारण बनता है। लेकिन ये कौरव के गुण चेतना को

उन्नत करने से नहीं रोक सकते अगर पांडव के गुण (सकारात्मक पक्ष) व्यक्ति के अंदर मजबूत तरीके से स्थापित होने लगे इसलिए भीष्म द्वारा रक्षित कौरव की सेना अपर्याप्त है।

लेकिन भीम (प्राण शक्ति के नियंत्रण) से रक्षित पांडव की सेना अहं (भीष्म), द्रोण (संस्कार), कर्ण (आसक्ति), दुर्योधन (सांसारिक इच्छा) जैसे तत्व के नाश के लिए पर्याप्त है। अगर व्यक्ति प्राणशक्ति पर नियंत्रण प्राप्त कर ले तो वह विचारों पर नियंत्रण प्राप्त कर लेता है। यह विचार पर नियंत्रण इच्छाओं और आसक्तियों पर नियंत्रण प्रदान करता है और ऊर्जा स्तर बढ़ा कर चेतना/ऊर्जा के मुख्य चक्रों को जाग्रत(activate) करता है जो साधक को ध्यान में उन्नत होने के लिए महत्वपूर्ण है और चेतना के उन्नत में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

श्लोक 11:-

“अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।

भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि॥

अर्थ:- इसलिए, आप सब अपनी-अपनी निश्चित जगहों पर स्थिर रहते हुए, निःसंदेह भीष्म पितामह की ही सब ओर से रक्षा करें।

सार:- इस श्लोक में दुर्योधन (सांसारिक इच्छा) अपने समर्थन देने वाले गुणों को अहं को सुरक्षित करने के उद्देश से इस श्लोक को यहाँ बताया गया है क्योंकि बिना अहं के सांसारिक इच्छा का अस्तित्व संभव नहीं है। सभी सांसारिक इच्छा, आसक्ति, की शुरुवात अहं से ही संभव होती है। प्रतीकात्मक रूप से इसका अर्थ है कि **व्यक्ति के भीतर की सभी बंधनकारी प्रवृत्तियाँ अहं की रक्षा करती हैं**, क्योंकि अहं के समाप्त होते ही उनकी शक्ति भी कमजोर पड़ने लगती है।

इसका एक अर्थ यह भी है कि बिना “अहं” के नाश के व्यक्ति की व्यक्तिगत चेतना को सर्वव्यापक चेतना में रूपान्तरण संभव नहीं है। व्यक्तिगत चेतना और सर्वव्यापक चेतना एक ही है लेकिन दोनों में भिन्नता अहं के कारण उत्पन्न हो रही है। जैसे घड़ा मिट्टी से तब तक अलग है जब तक वह किसी रूप या आकार के साथ सहसंबंध रखता है इसी प्रकार “अहं” आपके शरीर, आपके मन को सर्वव्यापक चेतना के सापेक्ष व्यक्तिगत चेतना से आपको बांधे रहता है इसकी मृत्यु के बिना व्यक्तिगत चेतना सर्वव्यापक चेतना को कभी नहीं

रूपांतरित हो सकती। और जब अहं ही नहीं रहेगा तब न सांसारिक इच्छा रहेगी न आसक्ति। न ही काम (वासना), क्रोध, लोभ (लालच), मद (धमंड), मोह (आसक्ति), और मात्सर्य (ईर्ष्या) जैसे गुण जो चेतना के उन्नत में बाधक है। यही अहं व्यक्ति के शरीर और मन के साथ सहसंबंध बनाकर “मैं” के भाव में फंसा देते हैं और चेतना को सीमित करने का कारण बनता है। जब तक अहं की रक्षा करने वाली मानसिक संरचनाएँ सक्रिय हैं, तब तक व्यक्ति अपने वास्तविक स्वरूप को पहचानना कठिन पाता है। साधना का उद्देश्य किसी व्यक्ति या मनोवैज्ञानिक संरचना से घृणा करना नहीं है, बल्कि उन्हें देखना, समझना और उनके साथ तादात्म्य कम करना है। साधक के मानसिक-आध्यात्मिक महाभारत में भीष्म की रक्षा करने वाली शक्तियों को पहचानना उतना ही आवश्यक है जितना स्वयं भीष्म अर्थात् अहं को पहचानना। जब अविद्या, संस्कार, आसक्ति, द्वेष, सुप्त इच्छाएँ और कर्मफल का बंधन धीरे-धीरे कमजोर होते हैं, तब अहं की पकड़ भी ढीली पड़ती है और चेतना अपने अधिक व्यापक स्वरूप की ओर उन्मुख होने लगती है।

श्लोक 12 से 19 तक को समझने के लिए चेतना को कंपन आवृत्ति (vibrational frequency) के रूप में समझना होगा। आवृत्ति- वह संख्या है जिससे कोई दोहराव वाली घटना (जैसे तरंग, ध्वनि या कंपन) प्रति सेकेण्ड में घटित होती है। व्यक्ति के “भाव” भी कंपन के रूप में होते हैं जिसे कंपन आवृत्ति के रूप में समझना चाहिए।

क्योंकि जिन-जिन “शंख” का प्रतीकात्मक इन श्लोकों में प्रयोग किया गया है वे व्यक्ति की कंपन आवृत्ति (Vibrational Frequency) का प्रतीक है। व्यक्ति के सभी गुणों में कुछ न कुछ कंपन रूपी ऊर्जा समाहित होती है जो उनके गुणों को प्रभावित करते हैं। मनुष्य भी दैनिक क्रियाकलाप को करने में ऊर्जा का ही प्रयोग करता है, मनुष्य इस जीवन की यात्रा में ऊर्जा को शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक रूप में प्रयोग करता है। यहीं ऊर्जा ही है जो कभी-कभी मनुष्य को प्रेरित या प्रोत्साहित करती है तो कभी-कभी अवसादग्रस्त, भ्रम एवं हतोत्साहित करती है। ये इसलिए होता है कि मनुष्य ऊर्जा के जिस स्तर पर स्वयं को रखेगा उसी प्रकार कि कंपन आवृत्ति (Vibrational Frequency) शरीर और मन की होगी जो विभिन्न रूप से भावनाओं, विचार, क्रियाकलाप का रूप लेगी। इसके लिए ऊर्जा को कंपन आवृत्ति (Vibrational Frequency) के रूप में व्यक्ति के स्तर पर समझना जरूरी है। सामान्य अर्थ में कंपन आवृत्ति को व्यक्ति की जागरूकता से जोड़ का समझा जा सकता है। जैसे हम सकारात्मक सोच या नकारात्मक सोच की बात करते हैं या अधिक जागरूकता

और कम जागरूकता की बात करते हैं उसी प्रकार ऊर्जा या कंपन आवृत्ति (Vibrational Frequency) भी उच्च (High) या निम्न (Low) के स्तर पर समझने पर व्यक्ति की सोच, भावना, कार्य (Action) को सही परख कर उसमें सुधार कर सकते हैं क्योंकि व्यक्ति की सोच, भावना, कार्य बाहरी वातावरण की अपेक्षा आंतरिक ऊर्जा या कंपन आवृत्ति (Vibrational Frequency) से अधिक घनिष्ठता से जुड़ी है।

प्रत्येक विचार, भावनाएँ, कार्य किसी न किसी ऊर्जा स्तर या कंपन आवृत्ति (Vibrational Frequency) के स्तर पर घटित होते हैं। यह ऊर्जा स्तर व्यक्ति के क्रियाकलाप, मानसिक विचार, प्राप्त सूचनाओं के आधार पर निरंतर परिवर्तनशील रहता है जो कि व्यक्ति के भावनाओं, विचारों, जागरूकता एवं कर्मों का निर्धारण करता है। जो लोग आध्यात्मिक रूप से उच्च स्तर पर होते हैं उनकी कंपन आवृत्ति भी उच्च होती है तो व्यक्ति प्रेमपूर्ण, खुश, सद्भाव, ग्रहणशील की भावना रखेगा और यह व्यक्ति की व्यक्तिगत चेतना को उच्च स्तर पर ले जाते हैं और अगर व्यक्ति की कंपन आवृत्ति कम है तो वह नकारात्मक सोच, शर्म, अपराध बोध, डर, क्रोध इत्यादि भावना से ग्रसित होकर कर्म करता है। निम्न ऊर्जा स्तर की कंपन आवृत्ति में व्यक्ति शर्म, डर, अवसाद, क्रोध, लोभ, सांसारिक ईच्छाओं का अनुभव करता है और मन को भ्रम के स्तर पर रखता है इसलिए गीता में काम, क्रोध, लोभ को नरक का द्वार कहा गया है। वहीं मध्य ऊर्जा स्तर की कंपन आवृत्ति में व्यक्ति गर्व, साहस, स्वीकारोक्ति, इच्छा, तत्परता इत्यादि का भाव रखता है जो उसे आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करता है लेकिन यह स्तर पूर्वाग्रह, पुराने स्वरूप को भी बनाए रखता है जिस कारण व्यक्ति स्वतंत्र रूप से आगे नहीं बढ़ पाता। उच्च ऊर्जा स्तर या आवृत्ति कंपन में व्यक्ति प्रेम, आनंद, शांति, सद्भाव का अनुभव करता है तथा व्यक्ति चेतना के वास्तविक सत्य को समझता है जिसे **प्रबोधन का स्तर (Enlightenment)** कहा जाता है।

व्यक्ति के अंदर दोनों प्रकार की कंपन आवृत्ति उपस्थित है जिसमें **निम्न कंपन आवृत्ति (low vibrational frequency)** “**कौरव पक्ष**” की ओर इशारा करती है वहीं दूसरी ओर **उच्च कंपन आवृत्ति (High vibrational frequency)** “**पांडव पक्ष**” की ओर इशारा करती है। ये कंपन आवृत्ति ही व्यक्ति के गुणों को भी प्रभावित करती है।

श्लोक 12:-

तस्य सञ्जनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥

अर्थ:-तब, कुरुवंश के वयोवृद्ध और यशस्वी पितामह (भीष्म) ने सिंह की दहाड़ के समान उच्च स्वर से अपना शंख बजाया, जिससे दुर्योधन के हृदय में हर्ष (प्रसन्नता) उत्पन्न हुआ।

श्लोक 13:-

ततः शङ्खाः च भेर्यः च पणव-आनक-गोमुखाः ।
सहसा एव अभ्यहन्यन्त सः शब्दः तुमुलः अभवत् ॥

अर्थ :-इसके बाद शंख, नगाड़े, ढोल, मृदंग (आनक), बिगुल (भेर) और नरसिंह (गोमुख) एक साथ बजने लगे और उनकी यह सामूहिक ध्वनि अत्यंत भयंकर और गूँजने वाली हो गई!

सार (श्लोक 12-13):- जब निम्न कंपन आवृत्ति वाली मानसिक अवस्थाएँ सांसारिक इच्छा (दुर्योधन) की स्थिति को मजबूत करने लगती हैं, तब अहं-प्रवृत्ति—काम (वासना), क्रोध, लोभ (लालच), मद (धमंड), मोह (आसक्ति) और मात्सर्य (ईर्ष्या)—अधिक सक्रिय हो जाती हैं। इन्हीं प्रवृत्तियों की सामूहिक सक्रियता को भीष्म के द्वारा सिंह के समान गर्जना करते हुए शंख बजाने के रूपक से समझा जा सकता है। सिंह की गर्जना जिस प्रकार अपने क्षेत्र में शक्ति और प्रभुत्व की घोषणा करती है, उसी प्रकार अहंकार की तीव्रता व्यक्ति के भीतर 'मैं' और 'मेरा' की भावना को मजबूत करके चेतना पर अपना प्रभुत्व स्थापित करती है।

अहंकार चेतना की वह अवस्था है जिसमें व्यक्ति स्वयं को अपने वास्तविक स्वरूप के बजाय शरीर, मन, विचार, इच्छाओं और सामाजिक पहचान से जोड़ लेता है। इसी पहचान से इच्छा उत्पन्न होती है; इच्छा की पूर्ति में बाधा आने पर क्रोध, प्राप्त वस्तु को बनाए रखने की प्रवृत्ति से लोभ, उपलब्धि से मद और संबंधों से मोह उत्पन्न होता है। इस प्रकार काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य अलग-अलग प्रवृत्तियाँ दिखाई देती हैं, लेकिन इनके मूल में 'मैं-पन' की एक ही मानसिक संरचना कार्य करती है।

‘कंपन आवृत्ति’ को केवल भौतिक शरीर की आवृत्ति न मानकर मानसिक सक्रियता और भावनात्मक उत्तेजना के रूपक के रूप में समझना चाहिए। जब व्यक्ति भय, क्रोध, इच्छा या लालच जैसी तीव्र भावनात्मक अवस्थाओं में होता है, तो मस्तिष्क और स्वायत्त तंत्रिका तंत्र की सक्रियता बढ़ती है, जिससे हृदयगति, श्वसन, हार्मोनल प्रतिक्रिया और ध्यान की दिशा में परिवर्तन होता है। परिणामस्वरूप मन अधिक प्रतिक्रियाशील और बाह्यमुखी हो जाता है।

इसलिए भीष्म का सिंहनाद वास्तव में भीतर सक्रिय उस अहं-शक्ति का प्रतीक माना जा सकता है, जो साधक की चेतना को भौतिकता की ओर आकर्षित करके सांसारिक इच्छाओं को और अधिक शक्तिशाली बनाती है। जितना अधिक ‘मैं’ का भाव मजबूत होता है, उतनी ही अधिक ‘मेरी इच्छा’, ‘मेरा सुख’, ‘मेरा अधिकार’ और ‘मेरा अस्तित्व’ की धारणाएँ मजबूत होती जाती हैं। यही मानसिक संघर्ष आगे चलकर साधक के भीतर अहं-चेतना और शुद्ध चेतना के बीच युद्ध का रूप लेता है।

इसके पश्चात् अहं (भीष्म) के शंख-गर्जन के बाद विभिन्न नगाड़े, ढोल, मृदंग और नरसिंहे एक साथ बज उठे। इसका प्रतीकात्मक अर्थ यह है कि अहं के सक्रिय होते ही उससे संबंधित नकारात्मक मानसिक प्रवृत्तियाँ भी पुनः सक्रिय हो जाती हैं और चेतना के उन्नयन के मार्ग में प्रतिरोध (Resistance) के रूप में उपस्थित होने लगती हैं। व्यक्ति के भीतर इच्छा, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य जैसी प्रवृत्तियाँ चेतना को शरीर, मन और इन्द्रियों के साथ अहंबद्ध बनाए रखती हैं। इसलिए चेतना के उच्चतर स्तर की ओर विकास में ये सबसे बड़ी आंतरिक बाधाओं में से एक बन जाती हैं। **अहं वह केंद्र है, जो चेतना को ‘मैं’ और ‘मेरा’ की सीमित पहचान से जोड़ता है।** जब चेतना स्वयं को शरीर और मन के साथ पूर्णतः अभिन्न मानने लगती है, तब इन्द्रियों से प्राप्त सुख-दुःख, इच्छा-अनिच्छा, लाभ-हानि और मान-अपमान उसके अनुभव का केंद्र बन जाते हैं। इसी पहचान से इच्छा उत्पन्न होती है, इच्छा की पूर्ति में बाधा आने पर क्रोध उत्पन्न होता है, प्राप्त वस्तु को अधिकाधिक पाने और सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति लोभ को जन्म देती है तथा संबंधों और वस्तुओं के प्रति अत्यधिक पहचान मोह का निर्माण करती है।

जब व्यक्ति इच्छा, भय, क्रोध या लोभ जैसी तीव्र भावनात्मक अवस्थाओं में होता है, तब मस्तिष्क और तंत्रिका तंत्र की सक्रियता बढ़ती है तथा ध्यान बाहरी उद्दीपनों की ओर

अधिक आकर्षित होता है। इन्द्रियों से लगातार प्राप्त होने वाली सूचनाएँ मन में विचार, स्मृति, कल्पना और प्रतिक्रिया की निरंतर प्रक्रिया को सक्रिय रखती हैं। इस प्रकार मानसिक ऊर्जा निरंतर बाहरी संसार के साथ जुड़ी रहती है और भीतर की सूक्ष्म चेतना का निरीक्षण कठिन हो जाता है।

इस दृष्टि से कौरव पक्ष की ओर से बजने वाले शंख, नगाड़े, ढोल, मृदंग, बिगुल और नरसिंह उन अनेक मानसिक प्रवृत्तियों और इन्द्रिय-उद्दीपनों के प्रतीक माने जा सकते हैं, जो अहं के प्रभाव से सक्रिय होकर चेतना को सांसारिक इच्छा और आसक्ति की ओर ले जाते हैं। ये प्रवृत्तियाँ परस्पर सहसंबंधित होकर व्यक्ति की मानसिक ऊर्जा को बाहर की ओर प्रवाहित करती हैं। इन्द्रियाँ बाहरी संसार से सूचनाएँ ग्रहण करती हैं और मन उन सूचनाओं के आधार पर लगातार सोचता, विचार करता, तुलना करता, स्मरण करता और कल्पना करता रहता है।

फलस्वरूप व्यक्ति का ध्यान अपने वास्तविक आंतरिक स्वरूप से हटकर बाहरी वस्तुओं और अनुभवों में उलझा रहता है। यही स्थिति माया-जाल का निर्माण करती है—जहाँ व्यक्ति बाहरी अनुभवों को ही अंतिम सत्य मानने लगता है। जब साधक ध्यान, विवेक और आत्मनिरीक्षण के माध्यम से इन मानसिक तरंगों को शांत करता है, तब उसकी ऊर्जा धीरे-धीरे इन्द्रिय-आधारित प्रतिक्रियाओं से हटकर अंतर्मुखी होने लगती है। इस अंतर्मुखी अवस्था में चेतना अधिक स्थिर, शांत और साक्षीभाव में स्थित होती है तथा वास्तविक ज्ञान या सत्य प्रकट होता है।

श्लोक 14:-

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।

माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदाधमतुः॥

अर्थ:- तत्पश्चात्, श्वेत घोड़ों से जुते हुए अपने भव्य रथ पर बैठे हुए, माधव (श्रीकृष्ण) और पाण्डुपुत्र ने भी अपने दिव्य शंख बजाए।

श्लोक 15:-

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः॥

अर्थ:- हृषिकेश ने अपना पांचजन्य नामक शंख बजाया, अर्जुन ने देवदत्त शंख बजाया।
अतिभोजी तथा अत्यन्त कठिन कार्य करने वाले भीम ने अपना महान पौण्ड्र शंख बजाया।

श्लोक 16:-

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ॥

अर्थ :-

कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर ने 'अनन्तविजय' शंख बजाया, और नकुल तथा सहदेव ने 'सुघोष' और 'मणिपुष्पक' शंख बजाए।

सार (श्लोक 14-16):- कृष्ण और पाण्डु पुत्रों के शंखनाद को व्यक्ति के शरीर में उपस्थित सूक्ष्म चेतना-केंद्रों की आंतरिक ऊर्जा और कंपन के प्रतीकात्मक रूप में समझा गया है। जब साधक अपनी ऊर्जा को इन्द्रियों से प्रत्याहार (Withdrawal of Senses) करके अंतर्मुखी करता है जिसमें बाहरी दृश्यों, ध्वनियों, गंधों, स्वादों और स्पर्शों से अपना ध्यान हटाकर भीतर की ओर केंद्रित करने का सचेत अभ्यास करता है और ध्यान तथा कुंडलिनी साधना के माध्यम से चेतना के उन्नयन की ओर अग्रसर होता है, तब वह अपने भीतर उत्पन्न होने वाली विभिन्न सूक्ष्म संवेदनाओं, स्पंदनों और आंतरिक ध्वनियों का अनुभव कर सकता है। आध्यात्मिक परंपरा में इन्हीं अनुभवों को विभिन्न चक्रों और उनके सूक्ष्म स्पंदनों से जोड़ा गया है।

इसी प्रतीकात्मक दृष्टि से कृष्ण का शंख आज्ञा चक्र की जाग्रत चेतना का प्रतीक माना जा सकता है, जहाँ साधक की अंतर्दृष्टि, विवेक और साक्षीभाव अधिक विकसित होने लगते हैं। आज्ञा चक्र से संबंधित श्वेत प्रकाश का अनुभव भी योगिक परंपराओं में ध्यान की एक सूक्ष्म अवस्था के रूप में वर्णित किया गया है। इसी प्रकार पाण्डवों के विभिन्न शंखों को

मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर और अनाहत आदि ऊर्जा-केंद्रों से उत्पन्न होने वाले विभिन्न आंतरिक स्पंदनों के प्रतीक के रूप में समझा जा सकता है।

मानव शरीर में मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा और सहस्रार जैसे चक्रों का वर्णन योग परंपरा में चेतना के विभिन्न केंद्रों के रूप में किया गया है। इनके माध्यम से साधक की चेतना स्थूल इन्द्रिय-अनुभव से सूक्ष्म अनुभूति, अंतर्दृष्टि और अंततः आत्मबोध की ओर अग्रसर होने का अनुभव कर सकती है।

जब साधक अपनी ऊर्जा को **इन्द्रियों से प्रत्याहार (withdrawal of Senses)** कुण्डलिनी जागरण के लिए प्रयुक्त करता है या चेतना के उन्नत में प्रयुक्त करता है तब साधक चेतना के सूक्ष्म केंद्र के कंपन को महसूस कर सकता है जिनकी विभिन्न ध्वनि और कंपन आवृत्ति होती है। यही आज्ञा चक्र के कंपन को “कृष्ण के शंख “की संज्ञा दी गई है जिसमें श्वेत प्रकाश प्रकाशित होता है और पाँच केंद्र (मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर चक्र, अनाहत चक्र) की कम्पन आवृत्ति के कंपन को “पांडव के शंख “ की संज्ञा दी गई है। व्यक्ति के शरीर में ऊर्जा के केन्द्र (मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर चक्र, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञाचक्र, सहस्रार चक्र) होते हैं और इन चक्रों की भी विभिन्न कंपन आवृत्ति होती है जिन्हे सक्रिय कर साधक चेतना के अलग-अलग आयामों को अनुभव कर सकता है एवं आत्मज्ञान प्राप्त कर सर्वव्यापक चेतना में मन को विलीन कर सकता है।

01.मूलाधार चक्र

02.स्वाधिष्ठान चक्र

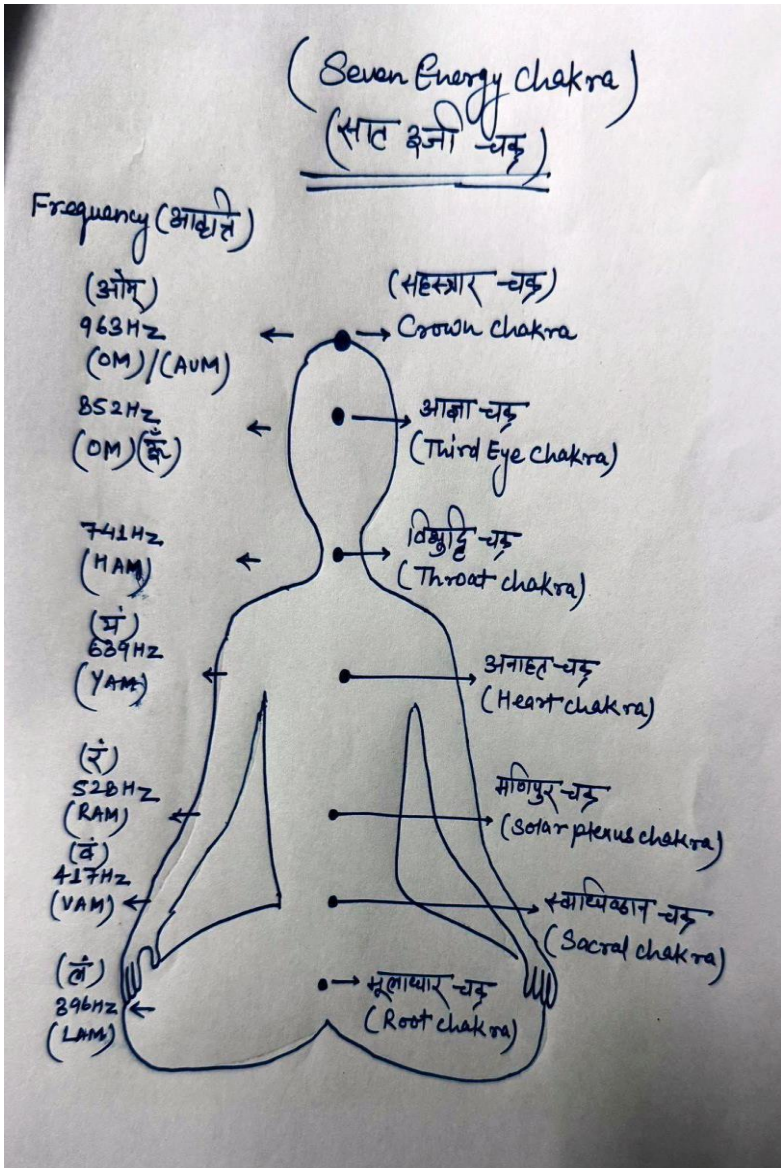
03.मणिपुर चक्र

04.अनाहत चक्र

05.विशुद्ध चक्र

06.आज्ञा चक्र (ॐ)

07.सहस्रार चक्र (AUM)



विभिन्न यौगिक तकनीक द्वारा शरीर के इन ऊर्जा केन्द्रों को सक्रिय कर या मन को इन ऊर्जा केन्द्रों की आवृत्तियों से जोड़ कर व्यक्ति चेतना के विभिन्न आयामों को जान सकता है एवं सर्वव्यापक चेतना (सहस्र चक्र के सक्रिय करने पर) से जुड़ सकता है। इन श्लोक में चेतना

के विभिन्न आयामों को पांडु और कृष्ण की संज्ञा दी गई है। जहाँ कृष्ण (आज्ञा चक्र) के पाँचजन्य नामक शंख में मूलाधार से विशुद्ध चक्र के कंपन का मिश्रित रूप की संज्ञा दी गई है। आज्ञा चक्र में निचले सभी केन्द्रों की चेतना भी सम्मिलित रूप से समाहित होती है।

इसी प्रकार युधिष्ठिर द्वारा अनंतविजय नामक शंख “विशुद्ध चक्र” के कंपन से संबंधित है, भीम के पाँड़ नामक शंख “अनाहत चक्र” के कंपन के रूप में दर्शाया गया है वहीं अर्जुन के देवदत्त नामक शंख को “मणिपुर चक्र” के कंपन आवृत्ति का प्रतीक है। नकुल और सहदेव के सुघोष और मणिपुष्पक शंख क्रमशः “स्वाधिष्ठान चक्र और मूलाधार चक्र” के कंपन का प्रतीक है।

सभी चेतना केन्द्रों की अपनी अलग-अलग विशेषताएँ, गुण और अनुभव होते हैं। जब मन ध्यान के माध्यम से इन केन्द्रों पर एकाग्र होता है, तो साधक को प्रत्येक केन्द्र से संबंधित भिन्न-भिन्न मानसिक, भावनात्मक और आध्यात्मिक अनुभव हो सकते हैं। मन केवल शरीर और पाँच इन्द्रियों से प्राप्त होने वाली चेतना तक ही सीमित नहीं है, बल्कि वह चेतना के इन सात प्रमुख केन्द्रों से भी जुड़ा हुआ माना जाता है।

जिस शरीर में व्यक्तिगत चेतना का अनुभव होता है, वह पंचमहाभूतों—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश से निर्मित भौतिक संरचना है। मनुष्य बाहरी जगत का अनुभव पाँच ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से करता है। इन इन्द्रियों द्वारा प्राप्त अनुभव पाँच तन्मात्राओं—रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द—के रूप में मन तक पहुँचते हैं। मन इन संवेदनाओं को ग्रहण करता है और बुद्धि के माध्यम से उनका अनुभव एवं विश्लेषण करता है।

इसके पश्चात मन और बुद्धि से प्राप्त प्रेरणा के आधार पर व्यक्ति पाँच कर्मेन्द्रियों—हाथ, पैर, वाणी (मुख), जननेन्द्रिय और उत्सर्जन अंग—के माध्यम से विभिन्न क्रियाएँ करता है। इस प्रकार शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और चेतना परस्पर जुड़े हुए हैं और मिलकर व्यक्ति के अनुभव, विचार, भावनाओं तथा कर्मों को संचालित करते हैं।

श्लोक 17:-

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः॥

श्लोक 18:-

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक्!!

अर्थ :-

काशिराज (काशी के राजा), जो उत्तम धनुर्धर थे, और महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, विराट तथा अपराजेय सात्यकि, राजा द्रुपद, द्रौपदी पुत्र, महाबाहु सुभद्रा पुत्र अभिमन्यु ने भी अपने-अपने शंख बजाए।

सार (श्लोक 17-18):- जब व्यक्ति के मुख्य चक्र (ऊर्जा केंद्र) सक्रिय होते हैं तो चेतना उन्नत होती है जिससे उच्च चेतना के विभिन्न गुण और भाव उत्पन्न होते हैं जिसमें काशीराज (आंतरिक प्रकाश और ज्ञान) का प्रतीक है। महारथी शिखंडी (सम भाव) जो अंततः अहं (भीष्म) के मृत्यु का कारण बनेगा, धृष्टद्युम्न (साहस), राजा विराट (सहयोग एवं सद्भाव), सात्यिक (विजय होने की इच्छा शक्ति), राजा द्रुपद (वैराग्य/अनासक्ति), अभिमन्यु (आत्मसंयम) जैसे उच्च चेतना के गुण उत्पन्न होते हैं। जैसा पूर्व में बताया गया कि ये गुण व्यक्ति के साथ ही उपस्थित होते हैं और जिस प्रकार कंपन आवृत्ति रहेगी उसी प्रकार ये गुण भी रहेंगे। उच्च कंपन आवृत्ति में व्यक्ति के उपरोक्त बताए गए विभिन्न गुण उत्पन्न होते हैं जिन्हें पांडव की सेना द्वारा उत्पन्न शंख की आवाज़ से दर्शाया गया है।

जब व्यक्ति के प्रमुख चेतना-केंद्र (ऊर्जा केंद्र) सक्रिय और संतुलित होने लगते हैं, तब उसकी चेतना स्थूल इन्द्रिय-अनुभवों से ऊपर उठकर अधिक सूक्ष्म और जागरूक अवस्था की ओर अग्रसर होती है। इसके साथ ही व्यक्ति के भीतर उच्च चेतना से संबंधित विभिन्न गुण और भाव प्रकट होने लगते हैं। इसलिए काशीराज को **आंतरिक प्रकाश, विवेक और ज्ञान** के प्रतीक के रूप में समझा जा सकता है।

महारथी शिखण्डी समभाव का प्रतीक है, जो अंततः अहं (भीष्म) के पतन का कारण बनता है। इसका अर्थ यह भी है कि जब साधक के भीतर समत्व और साक्षीभाव विकसित होता है, तब अहंकार की पकड़ कमजोर होने लगती है। धृष्टद्युम्न साहस और आंतरिक शक्ति, राजा विराट सहयोग, विस्तार और सद्भाव, अपराजेय सात्यकि दृढ़ इच्छाशक्ति और विजय-संकल्प, राजा द्रुपद वैराग्य और अनासक्ति, तथा अभिमन्यु आत्मसंयम का प्रतीक है।

ये सभी गुण साधक के भीतर संभावित रूप से उपस्थित रहते हैं, लेकिन उनकी अभिव्यक्ति व्यक्ति की मानसिक अवस्था, संस्कार, ध्यान और चेतना की दिशा पर निर्भर करती है। जिस प्रकार की मानसिक और भावनात्मक अवस्था अधिक सक्रिय रहती है, उसी के अनुरूप व्यक्ति के विचार, व्यवहार और ऊर्जा का अनुभव भी प्रभावित होता है। इसलिए निम्न मानसिक अवस्थाओं में काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहं जैसी प्रवृत्तियाँ अधिक प्रभावी होती हैं, जबकि शांत, संतुलित और सजग अवस्था में विवेक, साहस, करुणा, समभाव और वैराग्य जैसे गुण अधिक स्पष्ट हो सकते हैं।

यहाँ ‘उच्च कंपन आवृत्ति’ को मनोवैज्ञानिक रूप से अधिक स्थिर, संतुलित और जागरूक मानसिक अवस्था के प्रतीक के रूप में समझना उचित है। ध्यान, आत्मनिरीक्षण और इन्द्रिय-प्रत्याहार के माध्यम से जब मानसिक उत्तेजना और प्रतिक्रियाशीलता कम होती है, तब व्यक्ति अपने विचारों और भावनाओं को उनसे तादात्म्य किए बिना देखने की क्षमता विकसित कर सकता है। यही साक्षीभाव धीरे-धीरे चेतना को अहं-केंद्रित अनुभव से ऊपर उठाता है।

इस प्रकार पाण्डव पक्ष के योद्धाओं द्वारा बजाए गए विभिन्न शंख साधक के भीतर जाग्रत होने वाले उच्चतर चेतना-गुणों के सामूहिक उद्घोष के प्रतीक हैं। शंखनाद यह संकेत देता है कि अब साधक के भीतर केवल अहं और उसकी इच्छाओं की शक्तियाँ ही सक्रिय नहीं हैं, बल्कि विवेक, समभाव, साहस, सद्भाव, संकल्प, वैराग्य और आत्मसंयम जैसी उच्चतर शक्तियाँ भी जागृत होकर अहं-चेतना के विरुद्ध आंतरिक संघर्ष के लिए तैयार हो चुकी हैं।

श्लोक:-19

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलः व्यनुनादयन्॥

अर्थ :- हे धृतराष्ट्र! उस भयानक ध्वनि ने आकाश और पृथ्वी को गुंजाते हुए धृतराष्ट्र के पुत्रों (कौरवों) के हृदयों को विदीर्ण कर दिया (भयभीत कर दिया)।

सार:- इस श्लोक में संजय वर्णन करते हैं कि पाण्डवों के शंखों और अन्य वाद्यों की ध्वनि इतनी भीषण और गूँजने वाली थी कि वह न केवल आकाश और पृथ्वी को भर रही थी, बल्कि कौरवों के दिलों में डर पैदा कर रही थी, जिससे उनके हृदय भयभीत हो रहे थे या उनमें खलबली मच गई थी। यह ध्वनि पाण्डवों के उत्साह और शक्ति का प्रतीक थी, जिससे कौरवों में भय उत्पन्न हुआ।

जब उक्त उच्च चेतना के गुण (पाण्डु पक्ष) सक्रिय होंगे तो व्यक्ति के निम्न चेतना (कौरव पक्ष) के गुण अस्थिर हो जाते हैं और चेतना में नकारात्मक गुण का स्थान सकारात्मक गुण ले लेते हैं लेकिन इस प्रक्रिया के पूर्व व्यक्ति के अंदर मानसिक-आध्यात्मिक संघर्ष होता है जो व्यक्ति के जीवन और व्यक्ति की चेतना के लिए “महाभारत युद्ध” है।

पुराने विचार, आदतें और भावनात्मक प्रतिक्रियाएँ मस्तिष्क में स्थापित व्यवहार-पैटर्न बनाती हैं। जब व्यक्ति ध्यान, आत्मनिरीक्षण और विवेक के माध्यम से नए एवं अधिक संतुलित मानसिक पैटर्न विकसित करता है, तब पुराने पैटर्न और नई जागरूकता के बीच संघर्ष अनुभव हो सकता है।

प्रत्येक व्यक्ति स्वयं में अर्जुन है जिसे शारीरिक-मानसिक-आध्यात्मिक उन्नति के लिए इस प्रकार के संघर्ष से गुजरना पड़ता है। प्रत्येक व्यक्ति अंधकार (अज्ञान), असत्य, भ्रम से प्रकाश (ज्ञान), सत्य, वास्तविकता की ओर बढ़ना चाहता है लेकिन व्यक्ति के विभिन्न मानसिक प्रवृत्ति, संस्कार, इच्छाएँ, आसक्ति, अहं, विकृत बुद्धि जैसे तत्व इसमें बाधक होते हैं जिन्हें तोड़ना जरूरी होता है जब उच्च चेतना के क्षेत्र में व्यक्ति के मन, चेतना को स्थापित करना हो और यही से मानसिक-आध्यात्मिक संघर्ष की शुरुवात होती है। इस बीच आपका अंतःकरण (अर्जुन) दोनों पक्षों का अवलोकन करना चाहता है और सारथी रूपी शुद्ध बुद्धि (कृष्ण) की सहायता से स्वयं को दोनों पक्षों के बीच खड़ा करता है। इस अवस्था में व्यक्ति

का अंतःकरण अर्जुन दोनों पक्षों को देखना चाहता है—एक ओर अहं, इच्छा, आसक्ति और पुराने संस्कारों की शक्तियाँ हैं, तो दूसरी ओर विवेक, सत्य, ज्ञान और आत्मसंयम की शक्तियाँ। अर्जुन का दोनों सेनाओं के मध्य खड़ा होना इस बात का प्रतीक है कि साधक अब अपने भीतर की प्रवृत्तियों को केवल उनके साथ बहकर नहीं, बल्कि साक्षीभाव से देखकर समझना चाहता है। अर्जुन का रथ दोनों पक्षों के मध्य खड़ा होना वास्तव में उस निर्णायक क्षण का प्रतीक है, जहाँ मन पहली बार स्वयं को अपनी ही प्रवृत्तियों से अलग होकर देखना शुरू करता है। यहीं से बाहरी युद्ध आंतरिक युद्ध में परिवर्तित होता है और गीता का वास्तविक आध्यात्मिक संवाद प्रारंभ होता है।

श्लोक 20:-

“अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरूद्यम्य पाण्डवः॥”

श्लोक 21:-

“सेनयोरूभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत।
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्॥”

श्लोक 22:-

“कैर्मया योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे॥”

श्लोक 23:-

“योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः॥”

अर्थ:- “हे राजन्! इसके बाद कपिध्वज अर्जुन ने, जब शस्त्र चलाने की तैयारी हो चुकी थी, मोर्चा बाँधकर खड़े धृतराष्ट्र-संबंधियों को देखकर, धनुष उठाकर श्रीकृष्ण महाराज से कहा - हे अच्युत! मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा कीजिए, ताकि मैं देख सकूँ कि इस युद्ध में मुझे किन-किन योद्धाओं से लड़ना है। अर्जुन श्रीकृष्ण से रथ को बीच में खड़ा करने के लिए कहते हैं ताकि वह देख सके कि युद्ध के लिए कौन-कौन लोग यहाँ उपस्थित हैं और

उनसे उसे युद्ध करना है। इसके बाद वह उन सभी को देखता है और मोहग्रस्त होकर युद्ध से पीछे हटने की बात कहने लगता है।

सार (श्लोक 20-23):- अर्जुन युद्ध शुरू होने से पहले श्रीकृष्ण से अपने रथ को दोनों सेनाओं के बीच ले जाने का अनुरोध करते हैं, ताकि वे देख सकें कि कौन-कौन युद्ध के लिए तैयार हैं और जिनसे उन्हें युद्ध करना है। वह जानना चाहते थे कि कौन-कौन से राजा और योद्धा दुर्योधन का साथ देने आए हैं, ताकि वह उन सभी को ठीक से पहचान सकें। यह श्लोक अर्जुन के उस समय के मानसिक द्वंद्व को दर्शाता है, जहाँ वह युद्ध की अनिवार्यता और अपने सगे-संबंधियों के विरुद्ध खड़े होने के विचार से जूझ रहे थे।

अर्जुन का रथ व्यक्ति के स्वयं को इंगित करने के लिए रूपक के रूप में प्रयुक्त किया गया है। उस रथ का स्वामी (अर्जुन) आपका अंतःकरण है और शुद्ध बुद्धि रूपी सारथी (कृष्ण) को मानसिक -आध्यात्मिक द्वंद्व के समय व्यक्ति के स्वयं के सकारात्मक पक्ष और नकारात्मक पक्ष के अवलोकन हेतु रथ को दोनों सेना के बीच में लाने के संदर्भ में रूपक के रूप में इन श्लोक में प्रयुक्त किया गया है। इससे व्यक्ति को स्पष्ट हो सके की मानसिक -आध्यात्मिक उन्नति और चेतना की उन्नति के लिए किन-किन गुणों से व्यक्ति को युद्ध करना है।

जब तक इन सभी अवगुणों का अवलोकन व्यक्ति का अंतःकरण नहीं कर लेता है तब तक वह युद्ध के लिए तैयार नहीं हो सकता इसलिए अर्जुन श्लोक 22 में कह रहे हैं जब तक वह भली प्रकार से यह न जान ले कि उसे किन-किन लोगों से युद्ध करना है तब तक रथ को खड़ा रखें। जिससे यह जान सके कि सांसारिक इच्छा (दुर्योधन) और कौरव रूपी मन की विकृतियों का साथ देने कौन-कौन आए हैं उन्हें अर्जुन (आप स्वयं) भली प्रकार से देख सके।

इस अवस्था में व्यक्ति का अंतःकरण अर्जुन दोनों पक्षों को देखना चाहता है—एक ओर अहं, इच्छा, आसक्ति और पुराने संस्कारों की शक्तियाँ हैं, तो दूसरी ओर विवेक, सत्य, ज्ञान और आत्मसंयम की शक्तियाँ। अर्जुन का दोनों सेनाओं के मध्य खड़ा होना इस बात का प्रतीक है कि साधक अब अपने भीतर की प्रवृत्तियों को केवल उनके साथ बहकर नहीं, बल्कि तार्किक एवं सुव्यवस्थित रूप में देखना चाहता है। अर्जुन का रथ दोनों पक्षों के

मध्य खड़ा होना वास्तव में उस निर्णायक क्षण का प्रतीक है, जहाँ मन पहली बार स्वयं को अपनी ही प्रवृत्तियों से अलग होकर देखना शुरू करता है।

अब आगे संजय (तटस्थ युद्ध का निरीक्षण करने वाली अंतःद्रष्टि) अंधे मन (धृतराष्ट्र) को बोलते हैं :-

श्लोक 24:

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम्॥

अर्थ:- संजय कहते हैं, "हे भरतवंशी (धृतराष्ट्र)! इस प्रकार कहे जाने पर, शुधबुद्धि (श्रीकृष्ण) ने अर्जुन के लिए, दोनों सेनाओं के बीच में उत्तम रथ को स्थापित किया।"

श्लोक 25:

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरुनिति॥

अर्थ:- भीष्म, द्रोण और पृथ्वी के सभी राजाओं के सामने, भगवान (श्रीकृष्ण) ने कहा, "हे पार्थ (अर्जुन)! युद्ध के लिए यहाँ एकत्रित इन कौरवों को देखो।"

सार (श्लोक 24-25):- जब शुद्ध बुद्धि (Pure Intelligence), जो श्रीकृष्ण का रूपक होने के साथ-साथ शुद्ध चेतना के भी प्रतीक है, व्यक्ति के अंतःकरण रूपी अर्जुन को पाण्डव (उच्च एवं सकारात्मक गुण) और कौरव (निम्न एवं आसक्ति-प्रधान गुण) के बीच स्थापित करती है, तब साधक पहली बार अपने भीतर सक्रिय दोनों प्रकार की मानसिक शक्तियों का तटस्थ अवलोकन करने की स्थिति में आता है। यही आत्मनिरीक्षण की वास्तविक शुरुआत है।

शुद्ध बुद्धि अर्जुन को केवल बाहरी युद्ध देखने के लिए नहीं कहती, बल्कि उसके भीतर उपस्थित उन शक्तियों को देखने के लिए प्रेरित करती है, जो उसकी चेतना को सीमित करती हैं। भीष्म अहं-शक्ति का, द्रोण संस्कारों और अर्जित मानसिक प्रवृत्तियों का तथा कौरव पक्ष के अन्य योद्धा उन असंख्य विचारों, इच्छाओं, आसक्तियों, भय,

स्मृतियों और सामाजिक प्रभावों का प्रतीक हैं, जो व्यक्ति के जन्म प्राप्त करने के साथ उसकी मानसिक संरचना का हिस्सा बनते जाते हैं।

जब व्यक्ति सामान्य अवस्था में होता है, तब वह इन प्रवृत्तियों को 'स्वयं' मानकर उनके साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है। लेकिन जब शुद्ध बुद्धि जागृत होती है, तब वह पहली बार समझता है कि **‘मेरे भीतर विचार हैं, लेकिन मैं केवल विचार नहीं हूँ; मेरे भीतर इच्छाएँ हैं, लेकिन मैं केवल इच्छाएँ नहीं हूँ; मेरे भीतर अहं है, लेकिन मैं केवल अहं नहीं हूँ।’** यही अंतर आत्मनिरीक्षण को जन्म देता है।

वैज्ञानिक दृष्टि से यह अवस्था **metacognition** अर्थात् अपने ही विचारों और मानसिक प्रक्रियाओं को देखने की क्षमता से जोड़ी जा सकती है। जब व्यक्ति अपने विचारों, भावनाओं और प्रतिक्रियाओं को उनसे पूर्णतः जुड़ने के बजाय एक निरीक्षक की तरह देखना प्रारंभ करता है, तब उसे अपने पुराने मानसिक पैटर्न और प्रतिक्रियात्मक व्यवहार अधिक स्पष्ट दिखाई देने लगते हैं। आध्यात्मिक भाषा में यही **साक्षीभाव** है।

लेकिन यह अवलोकन हमेशा सुखद नहीं होता। जब अर्जुन पहली बार अपने भीतर के कौरवों को—अर्थात् अहं, मोह, भय, आसक्ति, इच्छाओं, संस्कारों और मानसिक द्वंद्वों को—तटस्थ होकर देखता है, तब उसके भीतर **शोक, भ्रम, असमंजस और भावनात्मक संघर्ष** उत्पन्न होता है।

इसलिए महाभारत की युद्धभूमि केवल कुरुक्षेत्र की बाहरी भूमि नहीं है; इसे **मानव जीवन की मानसिक और आध्यात्मिक युद्धभूमि** के रूप में भी देखा जा सकता है। जब व्यक्ति मानसिक शांति, आत्मज्ञान और आध्यात्मिक उन्नति की ओर बढ़ता है, तब उसे अपने भीतर की नकारात्मक प्रवृत्तियों को समाप्त करने से पहले उनका **निर्भय और तटस्थ अवलोकन** करना पड़ता है। उन्हें दबाना नहीं, बल्कि पहचानना और समझना आवश्यक है।

इसके आगे के श्लोक अर्जुन के द्वन्द और उसके अनुभव को बताते हैं। जो कि आपके जीवन में आयेंगे जब आप मानसिक -आध्यात्मिक उन्नति करना चाहेंगे और स्वयं की चेतना को सर्वव्यापक चेतना में रूपांतरित करना चाहेंगे। अगर व्यक्ति ईश्वर प्राप्ति के रास्ते में आगे बढ़ना चाहता है तो ईश्वर प्राप्त करना इतना भी आसान नहीं है क्योंकि ईश्वर कहीं बाहर आपको नहीं मिलेंगे ईश्वर आपके अंदर ही लेकिन प्रत्यक्ष और वास्तविक ईश्वर

आपको अपनी व्यक्तिगत चेतना को सर्वव्यापक चेतना में रूपान्तरण के पश्चात ही व्यक्त होंगे जब आप स्वयं ही ईश्वर होंगे। “ईश्वर कहीं बाहर नहीं मिलेंगे आपको स्वयं ईश्वर बनना पड़ेगा “ यह विषय अत्यंत गहन है जिसे अपनी पुस्तक (ईश्वर:चेतना का पाँचवाँ आयाम) में वैज्ञानिक रूप से समझाया गया है। जीवन भी एक शारीरिक-मानसिक -आध्यात्मिक युद्ध भूमि है और जब-जब आप मानसिक शांति-आध्यात्मिक उन्नति करना चाहेंगे तब-तब कौरव रूपी गुणों को हराने से पहले इनका अवलोकन ज़रूरी है और आप भी इन्हें जब शुद्ध बुद्धि के द्वारा तटस्थ अवलोकन करेंगे तो आप स्वयं शोक करेंगे और मन भ्रमित सा लगेगा। जब जीवन में ऐसा लगना चालू हो जाए तो आप समझिए कि आपके जीवन में गीता का पहला अध्याय चल रहा है।

श्लोक 26:-

“तत्रापश्यत्स्थितान् पार्थः पितृन्तथा पितामहान्
आचार्यान्मातुलान्भ्रातृन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥”

अर्थ:- "वहाँ (अर्जुन ने) दोनों सेनाओं में अपने पिता समान चाचा -ताऊ, पितामह, गुरु, मामा, भाई, पुत्र, पौत्र और मित्रों को भी खड़े देखा।

श्लोक 27:-

श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धून्वस्थितान्
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ॥ २७ ॥

अर्थ :-"उन उपस्थित सभी बंधुओं (श्वशुरों, मित्रों और अन्य संबंधियों) को देखकर, कुंतीपुत्र अर्जुन अत्यंत करुणा से अभिभूत होकर, गहन शोक प्रकट करते हुए यह वचन बोले।"

सार (श्लोक 26-27):- जब व्यक्ति मानसिक -आध्यात्मिक उन्नति में बाधक उसके स्वयं के गुण, संस्कार, ईच्छाओं, आसक्ति (जो अपने माता-पिता, गुरु, भाई मित्रों इत्यादि से प्राप्त होते हैं) से युद्ध करने को स्वयं को सामने खड़े देखता है और ये गुण, संस्कार, इच्छाएं, आसक्ति उसके मानसिक -आध्यात्मिक द्वंद का कारण भी बनते हैं जिससे उसकी चेतना विकास नहीं कर पाती और उसे निर्बल करती है तब व्यक्ति का मन उन गुण, संस्कार,

इच्छाएं, आसक्ति के प्रति करुणा का भाव रखने लगता है और इन्हें हराना उसे अत्यंत कठिन प्रतीत होता है। मन की एक प्रवृत्ति है कि उसे जो उसके अनुरूप सही लगता है चाहे वो कितना भी गलत क्यों न हो उसे मन तर्क-वितर्क करके सही साबित करने में लग जाता है और जब वह उन्हें सही करने की प्रक्रिया में संघर्ष करता है तब मनोबल टूटने के कारण व्यक्ति को शोक भी होता है।

व्यक्ति का द्वंद यहाँ इस रूप में प्रकट होता है कि एक तरफ़ उसे मन-अध्यात्म चेतना को उन्नत भी करना है और दूसरी तरफ़ वह अपने गुण, संस्कार, इच्छाएं, आसक्ति को त्यागना भी नहीं चाहता। वह कई जन्मों के जमे संस्कारों, उनकी मान्यताओं, इच्छायों को बनाये रखते हुए ईश्वर, आत्मा को प्राप्त करना चाहता है जबकि उसे अपने इस **चेतन पैटर्न (conscious pattern), मानसिक पैटर्न (Mental pattern) सोचने की प्रक्रिया पैटर्न (Thought process pattern)** को त्यागना पड़ेगा जो इतने सालों में उसने समाज, वातावरण, अनुभव, इन्द्रियों द्वारा जमा कर लिया है। इसी प्रकार जब कोई साधक ध्यान में प्रगति करना चाहता है तब बार-बार उसकी ऊर्जा इन्द्रियों के प्रभाव में बाहर की ओर खर्च होती है और ध्यान में बाधा पहुंचाती है साथ ही मानसिक पैटर्न, कई वर्षों से जमी इच्छाएँ, संस्कार, स्मृति ध्यान में भटकाव का कार्य करते हैं और मन के विचारों को अस्थिर करते हैं। तब साधक ध्यान में प्रगति न कर पाने के कारण व्याकुल होता है, शोक प्रकट करता है। उसका मन भी भ्रमित होकर मनोबल टूटने लगता है। इस परिस्थिति में आपके अंतःकरण को क्या क्या अनुभव होगा उसे आगे के श्लोक में समझते हैं।

श्लोक 28-29:-

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥ 28 ॥

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।

वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥ 29 ॥

अर्थ:-अर्जुन ने कहा: हे कृष्ण! अपने इन संबंधियों को, जो युद्ध की इच्छा से यहाँ उपस्थित हैं, देखकर मेरे अंग शिथिल हो रहे हैं, मेरा मुँह सूख रहा है, मेरे शरीर में कंपकंपी हो रही है और मेरे रोंगटे खड़े हो रहे हैं!

श्लोक 30:-

गाण्डीवं स्त्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्राते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥

अर्थ :- मेरे हाथ से मेरा गाण्डीव धनुष गिर रहा है, मेरी त्वचा भी जल रही है, और मेरा मन भ्रमित-सा हो रहा है, इसलिए मैं यहाँ खड़ा रहने में भी समर्थ नहीं हूँ।

सार (श्लोक 28-30):-इन श्लोकों में अर्जुन की शारीरिक और मानसिक संघर्ष के माध्यम से उस अवस्था का वर्णन किया गया है, जब व्यक्ति चेतना के उन्नयन और आत्मनिरीक्षण की प्रक्रिया में पहली बार अपने भीतर वर्षों से स्थापित विचारों, संस्कारों, मान्यताओं, इच्छाओं और आसक्तियों का सामना करता है। जब साधक शुद्ध बुद्धि के माध्यम से अपने भीतर के कौरव पक्ष का तटस्थ अवलोकन करता है, तब उसे यह अनुभव होने लगता है कि जिन विचारों और मान्यताओं के आधार पर उसने अब तक अपना जीवन संचालित किया, उनमें से कौन-से वास्तव में सत्य हैं और कौन-से केवल सामाजिक, पारिवारिक और व्यक्तिगत संस्कारों से निर्मित हैं।

व्यक्ति के विचार केवल उसके व्यक्तिगत अनुभवों से नहीं बनते, बल्कि परिवार, माता-पिता, समाज, मित्रों, शिक्षा, संस्कृति और जीवन की घटनाओं से प्राप्त अनेक संस्कार उसके मानसिक ढाँचे (Mental Framework) का निर्माण करते हैं। इन्हीं के आधार पर वह 'सही-गलत', 'सुख-दुःख', 'मैं-कौन हूँ' और 'जीवन का उद्देश्य क्या है' जैसी धारणाएँ बनाता है। लेकिन जब आत्मनिरीक्षण के माध्यम से वह इन धारणाओं को पहली बार प्रश्नांकित करता है, तब उसके भीतर गहरा संज्ञानात्मक द्वंद्व (Cognitive Conflict) उत्पन्न हो सकता है।

तब उसके भीतर यह प्रश्न उठता है—क्या जिसे मैं इतने वर्षों से सत्य मानता आया हूँ, वह वास्तव में सत्य है? क्या मेरी मान्यताएँ मेरी स्वयं की अनुभूति से उत्पन्न हुई हैं या मुझे विरासत में मिली हैं? क्या मैंने सत्य को जाना है या केवल सत्य के बारे में सुना और विश्वास किया है? यही प्रश्न अर्जुन के आंतरिक संकट का आधार बनते हैं।

ईश्वर की खोज करने वाले साधक के लिए यह संघर्ष और भी गहरा हो सकता है। वह स्वयं से पूछ सकता है कि जिस ईश्वर की कल्पना, धारणा या शिक्षा उसे बचपन से प्राप्त हुई, क्या

वही अंतिम सत्य है, या ईश्वर का वास्तविक अनुभव उससे कहीं अधिक व्यापक है? इस अवस्था में पुरानी आस्था और प्रत्यक्ष सत्य की खोज के बीच संघर्ष उत्पन्न होता है।

अर्जुन के अंगों का शिथिल होना, मुख का सूखना, शरीर में कंपन, रोमांच, त्वचा में जलन और मन का भ्रमित होना इस आंतरिक संघर्ष की शारीरिक अभिव्यक्तियों के प्रतीक भी हैं। वैज्ञानिक दृष्टि से तीव्र भावनात्मक तनाव के समय शरीर का स्वायत्त तंत्रिका तंत्र (Autonomic Nervous System) सक्रिय हो सकता है, जिससे हृदयगति, श्वसन, मांसपेशियों का तनाव, मुख का सूखना, कंपकंपी और त्वचा संबंधी संवेदनाओं में परिवर्तन जैसे अनुभव हो सकते हैं। इसलिए गीता का यह वर्णन मन और शरीर के गहरे संबंध को भी दर्शाता है।

यहाँ गाण्डीव का हाथ से छूटना मनोबल और निर्णय-क्षमता के कमजोर पड़ने का प्रतीक माना जा सकता है। जिस अर्जुन के पास युद्ध करने की क्षमता और सामर्थ्य थी, वही अब अपने ही अंतर्द्वंद्व के कारण निर्णय लेने में असमर्थ हो रहा है। इसी प्रकार ‘मन का भ्रमित होना’ उस अवस्था को दर्शाता है जहाँ पुराने विश्वास टूट रहे हैं, लेकिन नए सत्य की स्पष्ट अनुभूति अभी स्थापित नहीं हुई है।

यही अवस्था आध्यात्मिक यात्रा का अत्यंत महत्वपूर्ण लेकिन कठिन चरण है। पुरानी सीमित चेतना समाप्त हो रही होती है, पर नई शुद्ध चेतना अभी पूर्ण रूप से स्थापित नहीं हुई होती। व्यक्ति न पूरी तरह पुराने विचारों में लौट पाता है और न ही नए सत्य को पूर्ण रूप से स्वीकार कर पाता है। इसी बीच उसका कमजोर और विषादग्रस्त अंतःकरण पुराने विचारों के पक्ष में तर्क प्रस्तुत करना शुरू कर देता है और चेतना के उन्नयन के लिए आवश्यक आंतरिक संघर्ष को ही गलत सिद्ध करने लगता है।

इस प्रकार अर्जुन का विषाद केवल कमजोरी नहीं है; यह अज्ञान से ज्ञान की ओर संक्रमण के बीच उत्पन्न होने वाला गहरा मानसिक-आध्यात्मिक द्वंद्व है। आगे के श्लोकों में अर्जुन इसी द्वंद्व को तर्कों के माध्यम से उचित ठहराने का प्रयास करता है। यही वह अवस्था है जहाँ अर्जुन को युद्ध से बचने के लिए कारण दिखाई देने लगते हैं, जबकि कृष्ण उसे उस युद्ध के वास्तविक स्वरूप को समझाने की तैयारी कर रहे हैं।

श्लोक 31:-

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे॥”

अर्थ:- हे केशव (कृष्ण), मैं युद्ध में अपने ही सगे-संबंधियों को मारकर कल्याण (भलाई) नहीं देखता और मुझे विपरीत (अशुभ) लक्षण भी दिखाई दे रहे हैं!

श्लोक 32:-

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा॥ ३२॥

अर्थ :- हे कृष्ण! मैं न तो विजय चाहता हूँ, न राज्य और न ही सुखा हे गोविन्द! ऐसे राज्य, इन भोगों और इस जीवन से मुझे क्या प्रयोजन (लाभ)।

सार (श्लोक 31-32):- इन श्लोकों में अर्जुन का विषाद और मोह और अधिक गहरा होता दिखाई देता है। जब व्यक्ति चेतना के उन्नयन की प्रक्रिया में अपनी वर्षों पुरानी इच्छाओं, आसक्तियों, संस्कारों और अहं-आधारित पहचान को त्यागने की स्थिति में पहुँचता है, तब उसका मन स्वाभाविक रूप से उस परिवर्तन का विरोध करता है। जब तक व्यक्ति यह नहीं समझता कि इन सीमित प्रवृत्तियों से ऊपर उठने का वास्तविक उद्देश्य और लाभ क्या है, तब तक वह त्याग को कल्याण के स्थान पर अशुभ या विपरीत लक्षण के रूप में देख सकता है।

इसी कारण विषादयुक्त अर्जुन अपने भीतर की विवेकशील बुद्धि अर्थात् कृष्ण से तर्क करने लगता है कि उसे न विजय चाहिए, न राज्य और न ही भोग। यहाँ ‘विजय’ व्यक्तिगत चेतना के सर्वव्यापक चेतना की ओर रूपांतरण, ‘राज्य’ उच्च चेतना की अवस्था और ‘सुख’ क्षणिक इन्द्रियजनित सुखों से ऊपर उठकर स्थायी आनंद की प्राप्ति का प्रतीक माना जा सकता है।

व्यक्तिगत चेतना वह सीमित आत्म-अनुभूति है जिसमें व्यक्ति स्वयं को ‘मैं’ के रूप में अनुभव करता है और शरीर, मन, विचार, भावनाओं, संस्कारों तथा बाहरी परिस्थितियों से

अपनी पहचान जोड़ता है। इस चेतना में सुख-दुःख, लाभ-हानि, मान-अपमान, सही-गलत जैसी द्वैत अवस्थाओं का अनुभव होता है।

जब साधक के भीतर 'मैं' और 'मेरा' की सीमित पहचान धीरे-धीरे शिथिल होती है, तब चेतना का विस्तार होने लगता है। वह स्वयं को केवल शरीर या व्यक्तिगत मन तक सीमित न मानकर अस्तित्व के व्यापक एकत्व को अनुभव करने लगता है। इस अवस्था में स्थायी शांति, समभाव और साक्षीभाव का विकास होता है। इसी को यहाँ **व्यक्तिगत चेतना से सर्वव्यापक चेतना की ओर संक्रमण** के रूप में समझा जा सकता है।

यहाँ 'राज्य' किसी बाहरी साम्राज्य का प्रतीक नहीं, बल्कि **उच्चतर चेतना के उस आंतरिक क्षेत्र का प्रतीक** है जहाँ मन द्वंद्वों से ऊपर उठकर स्थिरता और साक्षीभाव में स्थित होता है। आध्यात्मिक रूप से इसे **सत्-चित्-आनंद** की अवस्था से जोड़ा जा सकता है। सत् अर्थात् अनंत अस्तित्व, चित् अर्थात् शुद्ध चेतना युक्त मन और आनंद अर्थात् ऐसी आंतरिक पूर्णता जो बाहरी परिस्थितियों पर निर्भर नहीं होती।

यहाँ आनंद को सामान्य **सुख** से अलग समझना आवश्यक है। सुख किसी अनुकूल परिस्थिति, वस्तु या अनुभव से उत्पन्न हो सकता है और उसके विपरीत दुःख भी उत्पन्न हो सकता है। इसलिए सुख-दुःख द्वैत के दो पक्ष हैं। जबकि सत्-चित्-आनंद उस चेतना की ओर संकेत करती है जो इन द्वंद्वों के बीच **समभाव और साक्षीभाव में स्थित** रहती है।

लेकिन विषादयुक्त अर्जुन इस अवस्था के मूल्य को अभी अनुभव से नहीं जानता। इसलिए वह प्रश्न करता है—**“ऐसे राज्य का क्या प्रयोजन? ऐसे भोगों और जीवन से क्या लाभ?”** मनुष्य सामान्यतः उत्तेजना, इच्छा, उपलब्धि, संघर्ष और इन्द्रियजनित सुखों के माध्यम से अपने जीवन को अर्थ देता आया है। इसलिए जब उससे इन उत्तेजनाओं और इच्छाओं से ऊपर उठकर शांत, सम और साक्षीभाव में स्थित होने की अपेक्षा की जाती है, तो उसका सीमित मन उस अवस्था को नीरस या निरर्थक समझ सकता है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह **पुरानी पहचान और नई चेतना के बीच संघर्ष** है। पुराना मानसिक ढाँचा परिचित होता है, इसलिए मन उसे सुरक्षित मानता है; जबकि चेतना का परिवर्तन अनिश्चितता उत्पन्न करता है। इसी कारण व्यक्ति अपनी सीमित बुद्धि और पुराने अनुभवों के आधार पर उस उच्चतर अवस्था पर प्रश्नचिह्न लगाने लगता है। इसलिए जब तक साधक स्वयं **समभाव, साक्षीभाव, अनासक्ति और व्यापक चेतना** का अनुभव

नहीं करता, तब तक उसे यह समझना कठिन हो सकता है कि सीमित इच्छाओं से मुक्ति वास्तव में किसी चीज़ का त्याग नहीं, बल्कि चेतना के विस्तार की प्रक्रिया है।

इन श्लोकों में अर्जुन का प्रश्न वास्तव में हर साधक का प्रश्न है—“यदि मैं अपने सीमित ‘मैं’ को छोड़ दूँ, तो मेरे पास बचेगा क्या?” और गीता का आगे का संवाद इसी प्रश्न का उत्तर खोजता है कि सीमित ‘मैं’ के पीछे छिपा हुआ वास्तविक स्वरूप क्या है और क्यों अहं-आधारित जीवन से ऊपर उठना ही चेतना के वास्तविक विस्तार की दिशा है। जब तक व्यक्ति सर्वव्यापक चेतना के गुणों को प्राप्त नहीं कर पाएगा तब तक वह ऐसे राज्य (सर्वव्यापक चेतना का क्षेत्र) , इसके भोगों और जीवन के दृष्टिकोण में प्रश्न चिह्न लगाता रहेगा ।

श्लोक 33:-

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
ते इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च॥

अर्थ :- "जिनके लिए हम राज्य, भोग (सांसारिक सुख) और सुख चाहते हैं, वे ही ये सब (लोग) धन और जीवन की इच्छा को त्याग कर युद्ध में खड़े हैं।

श्लोक 34 :-

आचार्यः पितृः पुत्रस्तथैव च पितामहः।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः संबंधिनस्तथा॥

अर्थ:- शिक्षक, पिता, पुत्र, दादा, मामा, ससुर, पोते, साले और अन्य संबंधी यहाँ उपस्थित हैं। मैं उन्हें मारना नहीं चाहता, भले ही वे मुझ पर आक्रमण करें!

श्लोक 35:

“एतान् न हन्तुम् इच्छामि घ्नतः अपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्य-राज्यस्य हेतोः किम् नु महीकृते॥”

अर्थ:- हे मधुसूदन! मैं इनको (अपने रिश्तेदारों को) मारना नहीं चाहता, भले ही ये मुझे मार ही क्यों न डालें। तीनों लोकों के राज्य के लिए भी मैं इन्हें नहीं मार सकता, तो फिर इस पृथ्वी के लिए तो क्या ही कहना है।

श्लोक 36:-

निहत्य धार्तराष्ट्रान् नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।
पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वा एतान् आततायिनः॥

अर्थ:- हे जनार्दन (श्रीकृष्ण)! धृतराष्ट्र के पुत्रों (कौरवों) को मारकर हमें क्या सुख मिलेगा? इन आततायियों (दुष्टों) को मारकर तो हमें निश्चय ही केवल पाप ही लगेगा।

श्लोक 37:-

“तस्मान्नाहं वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥ 37 ॥

अर्थ :- "अतः, हे माधव (कृष्ण), हम धृतराष्ट्र के पुत्रों (अपने ही बंधुओं) को मारने के योग्य नहीं हैं; क्योंकि अपने ही कुटुम्बियों को मारकर हम कैसे सुखी हो सकते हैं।"

सार (श्लोक 33-37):- इस अनुक्रम में व्यक्ति का अंतः करण (अर्जुन) अपनी ईच्छाओं (दुर्योधन), संस्कारों (द्रोण), अहं (भीष्म) इत्यादि से मोह के कारण तर्क करता है कि क्या सर्वव्यापक चेतना रूपी राज्य, उसके भोग और सुख आदि जरूरी है। जब व्यक्ति का अहं, इच्छाएं इत्यादि नहीं रहेगी तो फिर ये सर्वव्यापक चेतना का राज्य (सत्-चित्-आनंद की स्थिति) किस काम का होगा। इसे प्राप्त करने के एवज में मुझे कई स्वयं के गुणों (संस्कारों, आसक्तियों, मानसिक प्रवृत्तियों, इन्द्रिय प्रवृत्तियों, मित्रव्रत आदतें इत्यादि) जैसे गुरुजन, चाचा-ताऊ, पुत्रगण, दादा, मामा, ससुर, पोते, साले और अन्य संबंधी को मारना पड़ेगा जबकि मैं उन्हें मारना नहीं चाहता, भले ही वे मुझ पर आक्रमण करें!

इस क्रम को अर्जुन आगे बढ़ाते हुए कहते हैं कि भौतिक शरीर (पृथ्वी) जैसे छोटे शरीर के लिए मैं इन संस्कारों, आसक्तियों, मानसिक प्रवृत्तियों, इन्द्रिय प्रवृत्तियों, मित्रव्रत आदतें इत्यादि को नहीं मार सकता और चाहे तीनों लोक (भौतिक जगत, सूक्ष्म जगत, कारण जगत) के राज्य भी मुझे क्यों न प्राप्त हो इन्हें मार कर लेकिन मैं इन्हें भविष्य में प्राप्त होने वाले अज्ञात आनन्द और शान्ति के लिए वर्तमान ज्ञात इच्छाओं, सुखों, संस्कारों को नहीं मार सकता।

श्लोक 36-37 में व्यक्ति का **कमजोर अंतःकरण अर्थात् विषादयुक्त अर्जुन** अपने पूर्व मत को सही सिद्ध करने के लिए पुनः तर्क प्रस्तुत करता है। वह कहता है कि धृतराष्ट्र के पुत्रों अर्थात् **अंधे मन से उत्पन्न प्रवृत्तियों** को समाप्त करके हमें क्या प्रसन्नता प्राप्त होगी? इन प्रवृत्तियों का नाश करने से तो हमें पाप ही लगेगा।

आंतरिक चेतना के संदर्भ में यहाँ एक गहरा द्वंद्व दिखाई देता है। साधक के भीतर यह प्रश्न उठता है कि यदि काम, इच्छा, इन्द्रिय-आकर्षण, आसक्ति और अन्य मानसिक प्रवृत्तियों को नियंत्रित या समाप्त कर दिया जाए, तो जीवन में आनंद और अनुभव का क्या आधार बचेगा? क्योंकि इन्द्रियाँ ही बाहरी जगत से अनुभव और सूचनाएँ प्राप्त करने के माध्यम हैं। इसलिए कमजोर अंतःकरण को ऐसा प्रतीत होता है कि **इन्द्रिय-विषयों से दूरी बनाना कहीं चेतना के अनुभव को सीमित करना तो नहीं है?**

यहीं अर्जुन का वास्तविक भ्रम प्रारंभ होता है। वह **इन्द्रिय-अनुभव और चेतना के विस्तार को एक ही समझने लगता है**। वास्तव में इन्द्रियाँ चेतना को अनुभव करने का माध्यम हैं, लेकिन चेतना स्वयं केवल इन्द्रिय-अनुभव तक सीमित नहीं है। इन्द्रियों से प्राप्त अनुभव चेतना का एक स्तर हैं; उन्हें ही चेतना का पूर्ण स्वरूप मान लेना उसकी सीमा बन जाती है। इसलिए यहाँ 'कौरवों का वध' इन्द्रियों का विनाश नहीं, बल्कि **इन्द्रियों पर अहं, इच्छा और आसक्ति के प्रभुत्व का विनाश** समझा जा सकता है।

ध्यान और साधना के दौरान भी साधक के भीतर यही संघर्ष उत्पन्न हो सकता है। जब मनोबल कमजोर पड़ता है और मन भविष्य की अज्ञात अवस्था से भयभीत होता है, तब वह तर्क देने लगता है कि **ज्ञात इन्द्रिय-सुखों को छोड़कर अज्ञात सत्-चित्-आनंद की खोज में कठिन साधना करने से अच्छा है कि वर्तमान सुखों और भोगों में ही मन**

लगाए रखा जाए। मन परिचित सुख को सुरक्षित मानता है, जबकि चेतना का विस्तार उसके लिए अपरिचित क्षेत्र है।

यही कारण है कि साधना के मार्ग में केवल व्यक्तिगत इच्छा और तर्क पर्याप्त नहीं होते। इस अवस्था में **गुरु, और शुद्ध बुद्धि (कृष्ण)** का मार्गदर्शन महत्वपूर्ण हो जाता है। शुद्ध बुद्धि साधक को यह समझने में सहायता करती है कि इन्द्रियों का दमन करना उद्देश्य नहीं है, बल्कि इन्द्रियों से प्राप्त अनुभवों के पीछे स्थित **आसक्ति, अहं और तादात्म्य** को समझना और उससे ऊपर उठना उद्देश्य है। इस प्रकार ये श्लोक साधक के उस मानसिक संघर्ष को दर्शाते हैं जहाँ **मन कहता है—“ज्ञात सुख को क्यों छोड़ूँ?”**, जबकि शुद्ध बुद्धि संकेत देती है—**“ज्ञात सुख से आगे भी चेतना का एक व्यापक आयाम है।”** इसी द्वंद्व के बीच साधक को विवेकपूर्वक यह निर्धारित करना होता है कि वह क्षणिक इन्द्रिय-सुख को चुनता है या चेतना के गहरे और व्यापक सत्य की खोज को।

हालाँकि जब तक व्यक्ति ये समझ नहीं रखता की इन्द्रियाँ चेतना को ग्रहण करने का माध्यम भी है और सर्वव्यापक चेतना को व्यक्तिगत स्तर पर सीमित भी करती है तब तक इन्द्रिय प्रवृत्ति को नियंत्रित करना व्यक्ति हमेशा ग़लत ही समझेगा। उदाहरण स्वरूप मनुष्य द्वारा दृश्य प्रकाश तरंग (Visible light wave) के रूप में आँखों द्वारा देखा जाता है जिसकी तरंग दैर्ध्य 380 nm से 750 nm होती है इसी प्रकार मनुष्य कुछ ही ध्वनियों को सीमा में सुन पाता है जिसमें 20hz-20 khz के बीच ही सुनने में सक्षम हुआ है जैसा कि मनुष्य आस पास की चेतना को प्रकाश एवं ध्वनि के माध्यम से सबसे ज्यादा महसूस करता है लेकिन वह जितना महसूस कर पा रहा है वह एक प्रतिशत भी नहीं है क्योंकि दृश्य प्रकाश तरंग के परे कई इलेक्ट्रोमैग्नेटिक विकिरणों की अन्य तरंग दैर्ध्य उपस्थित है जिन्हें सामान्य आंखों से मनुष्य नहीं देख सकता और कई अवश्रव्य-पराश्रव्य ध्वनि तरंगें हैं जिन्हें सामान्य कानों से सुनना संभव नहीं है। अभी मनुष्य को चेतना के विस्तार को समझना शेष है जो उसकी इन्द्रियों की क्षमताओं के परे भी विद्यमान है लेकिन जब तक इन्द्रियाँ सक्रिय रहकर ऊर्जा का व्यय बाहर की ओर करेगी तब तक व्यक्ति की चेतना का विस्तार नहीं हो सकता और न ही व्यक्तिगत चेतना का रूपांतरण सर्वव्यापक शुद्ध चेतना में हो सकता है।

चेतना को केवल सकारात्मक गुणों का स्रोत मानना उचित नहीं है। **सांख्य और गीता के दार्शनिक दृष्टिकोण** में प्रकृति सत्त्व, रजस और तमस—इन तीनों गुणों से युक्त मानी गई है

और व्यक्तिगत मन, बुद्धि तथा व्यवहार में भी इन तीनों गुणों की विभिन्न मात्राएँ दिखाई देती हैं। सत्त्व ज्ञान, शांति, संतुलन और स्पष्टता की ओर ले जाता है; रजस इच्छा, सक्रियता, महत्वाकांक्षा और कर्म की प्रवृत्ति को बढ़ाता है; जबकि तमस जड़ता, अज्ञान, मोह, प्रमाद और निष्क्रियता से संबंधित माना जाता है।

व्यक्तिगत चेतना के उन्नयन के संदर्भ में साधना का उद्देश्य तमस और असंतुलित रजस के प्रभाव को कम करके **सत्त्व की प्रधानता** विकसित करना माना जाता है। इसी प्रक्रिया को आपके 'निम्न कंपन आवृत्ति' से 'उच्च कंपन आवृत्ति' की ओर चेतना के परिवर्तन के रूपक से समझा जा सकता है। लेकिन जब तक व्यक्ति की **बुद्धि और अंतःकरण पर्याप्त रूप से शुद्ध एवं विवेकपूर्ण नहीं होते**, तब तक वह अपनी निम्न मानसिक प्रवृत्तियों को ही अपने अस्तित्व का आवश्यक हिस्सा समझ सकता है। उसे लग सकता है कि कामना, आसक्ति, इन्द्रिय-सुख, अहं और अन्य प्रवृत्तियों को कम करने से जीवन नीरस हो जाएगा या उसकी स्वतंत्रता और अनुभव की क्षमता सीमित हो जाएगी।

यही कारण है कि साधक के भीतर एक गहरा प्रश्न उत्पन्न होता है—**“यदि इन प्रवृत्तियों को छोड़ दिया, तो मेरे जीवन में बचेगा क्या?”** विषादयुक्त अर्जुन इसी मानसिक अवस्था का प्रतिनिधित्व करता है। वह उच्च चेतना की ओर बढ़ने के बजाय निम्न प्रवृत्तियों को बनाए रखने के पक्ष में तर्क खोजने लगता है और उनके त्याग से उत्पन्न संभावित हानियों की कल्पना करता है।

श्लोक 38:-

**“यद्यपि एते न पश्यन्ति लोभ-उपहत-चेतसः।
कुल-क्षय-कृतं दोषं मित्र-द्रोहे च पातकम्॥**

अर्थ:- यद्यपि ये (धृतराष्ट्र के पुत्र) लोभ से भ्रष्ट बुद्धि वाले हैं और कुल के नाश से उत्पन्न होने वाले दोष और मित्रों से विश्वासघात के पाप को नहीं देखते हैं।

श्लोक 39:

“कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापात् अस्मान् निवर्तितुम्।
कुल-क्षय-कृतं दोषं प्रापश्यद्भिर्जनार्दन॥

अर्थ:- हे जनार्दन (कृष्ण)! हम, जो कुल के नाश से उत्पन्न दोष को स्पष्ट रूप से जानते हैं, इस पाप से विरत रहने (दूर रहने) का विचार क्यों न करें?

सार (श्लोक 38-39):- इन श्लोकों में ‘कुल’ को व्यक्तिगत चेतना की संपूर्ण मानसिक संरचना के प्रतीक के रूप में समझा जा सकता है। व्यक्तिगत चेतना व्यक्ति के ‘मैं’ के अनुभव से संबंधित है, जो शरीर, मन, इन्द्रियों, भावनाओं, संस्कारों, स्मृतियों, इच्छाओं और जीवन-अनुभवों से निर्मित होती है। इसमें सत्त्व, रजस और तमस—तीनों गुण अलग-अलग अनुपात में कार्य करते हैं और इन्हीं के आधार पर व्यक्ति सुख-दुःख, सही-गलत, लाभ-हानि और प्रिय-अप्रिय जैसे द्वैतों (dualism) का अनुभव करता है।

इस व्यक्तिगत चेतना में इन्द्रिय-विषय, इच्छाएँ, आसक्तियाँ और पुराने संस्कार भी उपस्थित रहते हैं। प्रतीकात्मक रूप से इन्हें **कौरव पक्ष की प्रवृत्तियाँ** कहा है। लोभ से उपहत चेतना इन प्रवृत्तियों के दीर्घकालिक परिणामों को स्पष्ट रूप से नहीं देख पाती। व्यक्ति को तत्काल मिलने वाला सुख, इच्छा की पूर्ति और परिचित मानसिक अवस्था अधिक महत्वपूर्ण दिखाई देती है, जबकि उसके पीछे छिपे भय, असुरक्षा, क्रोध, तनाव, आसक्ति और मानसिक अशांति दिखाई नहीं देती।

अर्जुन यहाँ एक महत्वपूर्ण तर्क प्रस्तुत करता है। वह कहता है कि यदि इन प्रवृत्तियों को पूरी तरह समाप्त करने का प्रयास किया गया तो व्यक्तिगत चेतना की वर्तमान संरचना में **असंतुलन और विघटन** उत्पन्न हो सकता है। साधक के भीतर यह भय हो सकता है कि पुराने संस्कार, मान्यताएँ और इच्छाएँ ही उसके व्यक्तित्व और जीवन की परिचित पहचान का आधार हैं; इन्हें अचानक समाप्त करने पर भ्रम, भटकाव, भावनात्मक अस्थिरता, आत्म-केंद्रितता, निर्णय लेने में कठिनाई तथा आंतरिक और बाहरी जीवन के बीच असंतुलन उत्पन्न हो सकता है।

इसीलिए विषादयुक्त अर्जुन इन प्रवृत्तियों को ‘मारने’ के बजाय उनसे **विरत होने या उनसे अलग होने** का तर्क देता है। यहाँ एक सूक्ष्म आध्यात्मिक अंतर है—साधना का उद्देश्य

मानसिक प्रवृत्तियों को हिंसात्मक रूप से दबाना नहीं, बल्कि उनके साथ बने तादात्म्य और आसक्ति को समाप्त करना है। विचार, इच्छा या भावना का अस्तित्व होना अपने आप में समस्या नहीं है; समस्या तब उत्पन्न होती है जब व्यक्ति स्वयं को उन्हीं विचारों और इच्छाओं के रूप में देखने लगता है।

वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी किसी पुराने मानसिक पैटर्न को केवल दबाने के बजाय उसे पहचानना, समझना और उससे स्वस्थ दूरी बनाना अधिक उपयोगी दृष्टिकोण माना जा सकता है। व्यक्ति अपने विचारों और भावनाओं को देख सकता है, लेकिन प्रत्येक विचार को सत्य और प्रत्येक भावना को अपनी पहचान मानना आवश्यक नहीं है। यही प्रक्रिया धीरे-धीरे आत्म-जागरूकता और भावनात्मक संतुलन को बढ़ाती है।

इस प्रकार अर्जुन का तर्क वास्तव में पुरानी व्यक्तिगत मानसिक पैटर्न के विघटन का भय है। वह पूछता है—यदि मेरे भीतर वर्षों से बने संस्कार, इच्छाएँ, संबंध और मानसिक संरचनाएँ बदल जाएँगी, तो मेरे व्यक्तित्व का क्या होगा? यही प्रश्न आगे ‘कुल-क्षय’ से उत्पन्न होने वाले दोषों की उसकी विस्तृत व्याख्या का आधार बनता है। अर्थात् ‘कुल-क्षय’ को यहाँ व्यक्तिगत चेतना की पुरानी संरचना के परिवर्तन के रूपक के रूप में देखा जा सकता है। अशुद्ध अंतःकरण इसे विनाश समझता है, जबकि शुद्ध बुद्धि धीरे-धीरे यह स्पष्ट करेगी कि चेतना के वास्तविक उन्नयन में पुराने अहं-आधारित तादात्म्य का क्षय आवश्यक है—व्यक्ति के अस्तित्व का नहीं।

नोट:- आगे भ्रमित अर्जुन (अशुद्ध अंतःकरण) व्यक्तिगत चेतना (कुल) के नाश से उत्पन्न दोषों की व्याख्या और परिणामों की चर्चा करेंगे।

श्लोक 40:-

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनः।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नम् अधर्मोऽभिभवति उत ॥

अर्थ :- कुल के नाश से सनातन कुल-धर्म (पारिवारिक परम्पराएँ) नष्ट हो जाते हैं। धर्म के नष्ट हो जाने पर, संपूर्ण कुल में पाप भी बहुत फैल जाता है।

श्लोक 41:-

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसङ्करः॥

अर्थ:-"हे कृष्ण! अधर्म की प्रबलता (अधिकता) से कुल (परिवार) की स्त्रियाँ दूषित (भ्रष्ट) हो जाती हैं, और हे वृष्णि-वंशी (श्रीकृष्ण)! स्त्रियों के दुराचारिणी होने से वर्णसंकर (अवांछित या वर्ण-संकर) सन्तानें जन्म लेती हैं"।

सार (श्लोक 40-41):- पुनः भ्रमित अर्जुन (अशुद्ध अंतःकरण) व्यक्तिगत चेतना (कुल) के नाश से उत्पन्न दोषों की व्याख्या और परिणामों की चर्चा करेंगे। व्यक्तिगत चेतना (कुल) में असंतुलन व्यक्ति के सोचने, महसूस करने और व्यवहार करने के तरीके को प्रभावित करता है, जिससे व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में कठिनाइयाँ आती हैं। व्यक्तिगत चेतना में असंतुलन के गुण

1. संज्ञानात्मक असंतुलन (Cognitive Imbalance):

- **भ्रम (Confusion):** स्पष्ट रूप से सोचने और निर्णय लेने में कठिनाई।
- **भटकाव (Disorientation):** लोगों, समय और स्थानों के साथ अपने संबंध को समझने में असमर्थता।
- **तर्कहीन विचार (Illogical Thoughts):** सोचने-समझने की प्रक्रिया में गड़बड़ी, खासकर मानसिक अवस्थाओं में बदलाव के दौरान।

2. भावनात्मक असंतुलन (Emotional Imbalance):

- **अत्यधिक भावनात्मक प्रतिक्रियाएं (Excessive Emotional Responses):** डर, क्रोध या चिंता जैसी भावनाओं का असंतुलित होना।
- **करुणा की कमी (Lack of Compassion):** दूसरों के प्रति सहानुभूति महसूस करने या उन्हें समझने में कठिनाई।
- **आत्म-केंद्रितता (Self-Centeredness):** केवल अपनी जरूरतों और इच्छाओं पर ध्यान केंद्रित करना।

3. पारस्परिक असंतुलन (Interpersonal Imbalance):

- **अधिकार या हेरफेर (Power & Manipulation):** रिश्तों में सत्ता का दुरुपयोग या दूसरों को नियंत्रित करने की कोशिश करना।
- **निर्भरता (Dependency):** अत्यधिक भावनात्मक या वित्तीय निर्भरता महसूस करना।
- **असुरक्षा (Insecurity):** रिश्तों में असुरक्षित या अमान्य महसूस करना।

4. आंतरिक-बाहरी असंतुलन (Internal-External Imbalance):

- **भ्रमित आत्म-बोध (Confused Self-Perception):** अपनी खुद की क्रियाओं या विचारों को बाहरी कारकों से जोड़ने लगना।
- **आंतरिक और बाहरी फोकस में अंतर न कर पाना (Confusion between Internal & External Focus):** अपने विचारों और बाहरी दुनिया के बीच स्पष्ट अंतर न कर पाना।

ध्यान, साधना या व्यक्तिगत चेतना के सर्वव्यापक चेतना के रूपांतरण प्रक्रिया में साधक इन समस्याओं से जूझता है और इसलिए अर्जुन सनातन कुलधर्म के नष्ट होने जाने पर और व्यक्तिगत चेतना में असंतुलन को सम्पूर्ण कुल में पाप फैल जाने की संज्ञा दे रहे हैं।

इसी प्रकार जब इन्द्रियों के प्रत्याहार (withdraw) करने से इन्द्रियों के कार्य करने की प्रवृत्ति (व्यक्तिगत चेतना रूपी कुल की स्त्रियाँ) में भी प्रभाव पड़ता है और व्यक्ति द्वारा इन्द्रियों से प्राप्त सूचना को ग्रहण करने और उसमें प्रतिक्रिया देने में कठिनाई महसूस करता है साथ ही इन्द्रियों के विषयों की प्रवृत्ति और कार्य करने की वृत्ति में भी बदलाव होता है जिसे स्त्रियों के दुराचारिणी होने से वर्णसंकर (अवांछित या वर्ण-संकर) सन्तानें जन्म लेती की संज्ञा दी गई है।

इस प्रकार के अनुभव चेतना को उन्नत करने के क्रम में साधक स्पष्ट रूप से महसूस करता है। ध्यान के क्रम में जब साधक इन्द्रियों का प्रत्याहार करता है एवं धारणा की प्रक्रिया को आगे बढ़ाता है तो इन्द्रियों की प्रवृत्ति और मानसिक वृत्ति (function) में परिवर्तन के कारण इन्द्रियों और विचार में संज्ञानात्मक, भावनात्मक, पारस्परिक असंतुलन कुछ समय अवधि

के लिए आता है लेकिन इनकी प्रकृति ध्यान के निरंतर और गहन अभ्यास के द्वारा नियंत्रित की जा सकती है। प्रारंभिक ध्यान में अहं के गुण और चंचल श्वास शरीर और मन की गहरी इच्छा को पुनः उभारते है जिस कारण शारीरिक -मानसिक संघर्ष पैदा होता है। इस प्रकार इन्द्रियों की प्रवृत्ति में परिवर्तन और इनसे उत्पन्न शरीर और मन की गहरी इच्छाएँ और समस्या (वर्ण संकर संताने) उत्पन्न होने से क्या क्या हानि होती है अर्जुन अगले श्लोक में बताते है।

श्लोक 42:-

सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः।

अर्थ:-अर्जुन कह रहे हैं कि जब कुल में वर्णसंकर (अवांछित संतानें) उत्पन्न होती हैं, तो वे कुल के नाश करने वालों को और स्वयं कुल को भी नरक में ले जाती हैं। इन संतानों के कारण जब श्राद्ध, तर्पण बंद हो जाते हैं, तो उनके पितर भी (पिंड-जल से वंचित होकर) अधोगति को प्राप्त होते हैं, यानी उनका भी पतन हो जाता है।

श्लोक 43:-

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः॥

अर्थ:- इन सभी पापों और दोषों के कारण, जो लोग अपने कुल का नाश करते हैं और वर्णसंकर (मिश्रित संतानें) उत्पन्न करते हैं, उनके यहाँ की सदियों पुरानी पारिवारिक परंपराएँ (कुल-धर्म) और समाज के नियम (जाति-धर्म) पूरी तरह से समाप्त हो जाते हैं, जिससे पूरी व्यवस्था ही बिगड़ जाती है।

श्लोक44:-

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम।

अर्थ :- हे जनार्दन (श्रीकृष्ण)! जिनका कुल-धर्म (पारिवारिक परंपराएँ) नष्ट हो गए हैं, ऐसे मनुष्यों का अनिश्चित काल तक नरक में वास होता है, ऐसा हमने सुना है!

सार (श्लोक 42-44):- जब व्यक्ति का कमजोर अंतःकरण (विषाद युक्त अर्जुन) अपने तर्कों को मजबूत करने की कोशिश करते हैं कि इन्द्रियों की प्रवृत्ति बदलने, क्षमताओं में परिवर्तन के कारण व्यक्तिगत चेतना (कुल) के पतन का कारण भी बनेगी और इनके प्रयोग से उत्पन्न विवेकशील निर्णय और क्षमताएं दुर्बल होने के कारण परिवार के पितर (कई सालों से निर्मित मान्यताएँ, नियम, संस्कार, ज्ञान) भी अधोगति को प्राप्त होंगे।

अर्जुन रूपी साधक का मत हो सकता है कि यदि इन्द्रियों की प्रवृत्तियों और उनके उपयोग की दिशा में परिवर्तन किया गया, तो इससे व्यक्तिगत चेतना की वर्तमान संरचना अर्थात् ‘कुल’ का भी पतन हो सकता है। उसके अनुसार इन्द्रियों से प्राप्त अनुभवों के आधार पर वर्षों से विकसित विवेक, निर्णय-क्षमता, व्यवहार-पद्धति और सामाजिक अंतःक्रिया की क्षमताएँ भी प्रभावित हो सकती हैं।

यहाँ ‘पितर’ को प्रतीकात्मक रूप से उन पुरानी मानसिक संरचनाओं के रूप में समझा जा सकता है, जो लंबे समय से व्यक्ति के भीतर विकसित हुई हैं—जैसे मान्यताएँ, नियम, संस्कार, अनुभव, ज्ञान और जीवन-मूल्य। अर्जुन को भय है कि यदि चेतना की वर्तमान संरचना में बहुत बड़ा परिवर्तन किया गया, तो इन पुराने मानसिक आधारों का क्या होगा? इसी चिंता को श्लोकों में **श्राद्ध और तर्पण के अभाव** के प्रतीक के माध्यम से व्यक्त किया गया है। अर्थात् जिस मानसिक-सामाजिक व्यवस्था ने व्यक्ति की वर्तमान पहचान को बनाया है, उसके विघटन से पुरानी मान्यताओं और संस्कारों की निरंतरता भी समाप्त हो सकती है।

व्यक्तिगत चेतना शरीर, मन, इन्द्रियों, संस्कारों और भावनाओं के साथ गहराई से जुड़ी होती है। व्यक्ति संसार को इन्हीं माध्यमों से अनुभव करता है और इन्हीं अनुभवों के आधार पर अपने लिए सही-गलत, सुख-दुःख और उचित-अनुचित की धारणाएँ बनाता है। इसलिए अर्जुन को भय है कि यदि इन्द्रियों की वृत्ति बदल गई, तो व्यक्तिगत चेतना के **मूल**

मानसिक-सांस्कृतिक ढाँचे, जिसे यहाँ प्रतीकात्मक रूप से ‘सनातन कुल-धर्म’ कहा गया है, वह भी समाप्त हो सकता है।

इसी क्रम में अर्जुन ‘जाति’ के नष्ट होने की आशंका भी व्यक्त करता है। गीता में “जाति वर्गीकरण” को सामाजिक जाति वर्गीकरण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) की परिभाषा से अलग समझना जरूरी है। जाति को सामाजिक जन्म-आधारित वर्गीकरण के बजाय व्यक्तिगत चेतना की अवस्था और उसके गुणों के वर्गीकरण के रूप में समझना चाहिए। इस दृष्टि से ब्राह्मण वह अवस्था है जिसमें चेतना ब्रह्म अर्थात् सर्वव्यापक चेतना के ज्ञान और अनुभव की ओर स्थापित हो गई है; क्षत्रिय वह अवस्था है जिसमें साधक अपनी व्यक्तिगत चेतना को उच्चतर चेतना में रूपांतरित करने के लिए इन्द्रिय-विषयों और निम्न प्रवृत्तियों से संघर्ष कर रहा है; वैश्य वह अवस्था है जिसमें चेतना मुख्यतः इन्द्रियों से प्राप्त अनुभवों, विचारों और मानसिक विनिमय पर आधारित रहती है; और शूद्र वह अवस्था है जिसमें चेतना इन्द्रिय-विषयों की दासता में अधिक बंधी हुई है। इस प्रकार इस प्रतीकात्मक व्याख्या में ‘जाति’ जन्म नहीं, बल्कि चेतना की अवस्था और उसके गुणों का संकेत बन जाती है। जब साधक इन्द्रियों और उनके विषयों के साथ अपने संबंध को बदलता है, तब उसकी चेतना की अवस्था भी बदलने लगती है। इस प्रकार इन्द्रियों की वृत्ति में परिवर्तन से ये जाति का वर्गीकरण (व्यक्तिगत चेतना के वर्गीकरण) भी नष्ट हो जाएगा।

इसी प्रकार अर्जुन 44वें श्लोक में निष्कर्ष देते है कि कुल-धर्म (व्यक्तिगत चेतना के अनुभव, संस्कार, भावनाओं) और जाति (व्यक्तिगत चेतना के वर्गीकरण) नष्ट होने के कारण मनुष्य अनिश्चित काल तक नरक (निम्न कंपन आवृत्ति) में वास करता है। इसे निम्न मानसिक अवस्था के प्रतीक के रूप में समझा जा सकता है—जहाँ व्यक्ति अज्ञान, भय, आसक्ति, क्रोध, लोभ और मानसिक भ्रम में फँसा रहता है।

गीता के सोलहवें अध्याय में भी काम, क्रोध और लोभ को ‘नरक के तीन द्वार’ कहा गया है। यहाँ अर्जुन का भय वास्तव में परिवर्तन का भय है। पुरानी चेतना भले ही सीमित हो, लेकिन वह परिचित होती है; जबकि उच्चतर चेतना की अवस्था अज्ञात होती है। इसलिए मन अक्सर परिचित सीमाओं को सुरक्षित और अज्ञात विस्तार को संकट के रूप में देखने

लगता है। यही कारण है कि विषादयुक्त अर्जुन चेतना के रूपांतरण के संभावित लाभों के बजाय उसके संभावित नुकसान गिनाने लगता है।

श्लोक 45:-

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः॥

अर्थ:- अहो! यह कितना बड़ा पाप है, जिसे करने के लिए हम तैयार हो गए हैं, क्योंकि हम राज्य और उसके सुख के लोभ से अपने ही सगे-संबंधियों को मारने के लिए उद्यत (तैयार) हो गए हैं।

श्लोक 46:-

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्॥

अर्थ :- "यदि शस्त्र हाथ में लिए हुए धृतराष्ट्र के पुत्र, रणभूमि में मुझ निहत्थे और प्रतिरोध न करने वाले पर प्रहार करके मुझे मार डालें, तो भी वह मेरे लिए अधिक कल्याणकारी होगा!

सार (श्लोक 45-46):- इस प्रकार विषाद युक्त और मोहित अर्जुन (व्यक्ति का कमजोर अंतःकरण जो व्यक्तिगत चेतना के निम्न गुणों की ओर मोहित है) सीमित बुद्धि और सीमित तर्क का प्रयोग कर इस पर बल देता है कि हम लोगो के पास ये बुद्धि होकर भी इस महान पाप को करने को तैयार हो गए है अर्थात् इन इन्द्रिय प्रवृत्ति को मारना चेतना के आयामों को सीमित करना (पाप) है जो आत्मा या सत्-चित्-आनंद रूपी राज्य के सुखों को प्राप्त करने

के भविष्य के लोभ से स्वजनों (सांसारिक इच्छाएँ, आसक्ति, संस्कार, अहं और व्यक्तिगत चेतना के गुणों) को मारने के लिए आतुर हो गए है। इस अनुक्रम में सीमित चेतना से युक्त व्यक्ति यहाँ तक विचार करता है कि ये धृतराष्ट्र के पुत्र (अंधे मन की प्रवृत्ति) इस रण(मानसिक -आध्यात्मिक युद्ध) में मुझे मार भी डाले वो ज़्यादा कल्याणकारी होगा क्योंकि बिना मन के, ईच्छाओं के जीना व्यर्थ प्रतीत होता है।

आध्यात्मिक दृष्टि से, अर्जुन रूपी साधक की समस्या यह है कि उसकी पहचान अभी मन और उसकी प्रवृत्तियों से जुड़ी हुई है। धृतराष्ट्र के पुत्र यहाँ **अंधे मन से उत्पन्न वे प्रवाह हैं,** जो इच्छा, भय, मोह, आसक्ति और अहंकार के माध्यम से चेतना को बाहरी विषयों में बांधे रखते हैं। अर्जुन जब कहता है कि यदि वे उसे मार दें तो भी अच्छा है, तो इसका अर्थ है कि सीमित चेतना को अपने पुराने मानसिक ढाँचे के समाप्त होने से भय उत्पन्न हो रहा है। उसे लगता है कि इच्छाओं के बिना जीवन नीरस या अर्थहीन हो जाएगा। जबकि योग की दृष्टि से इच्छाओं का अतिक्रमण जीवन का अंत नहीं, बल्कि **चेतना की स्वतंत्रता और विस्तार है।**

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से, इसे मस्तिष्क में बने पुराने (मानसिक पैटर्न) और नई चेतना अवस्था के बीच संघर्ष के रूप में समझा जा सकता है। हमारी इच्छाएँ और व्यवहार बार-बार के अनुभवों से मजबूत होते हैं। जिस व्यवहार से सुख, सुरक्षा या पुरस्कार मिला हो, मस्तिष्क उसे दोहराने की प्रवृत्ति विकसित करता है। इसलिए जब व्यक्ति ध्यान, आत्म-अवलोकन या अनुशासन द्वारा किसी पुरानी आदत अथवा इच्छा को बदलना चाहता है, तो मस्तिष्क का पुरानी अवस्था और नई चेतना परिस्थितियाँ आपस में संघर्ष करते हैं।

इसी कारण परिवर्तन के समय व्यक्ति के भीतर एक प्रकार का मनोवैज्ञानिक प्रतिरोध उत्पन्न होता है। वैज्ञानिक भाषा में यह कहा जा सकता है कि **ध्यान, आत्म-जागरूकता और नए व्यवहार के कारण पुराने न्यूरल पैटर्न्स (neural patterns) के स्थान पर नए न्यूरल पैटर्न्स मजबूत हो सकते हैं।** आधुनिक न्यूरोसायंस में तंत्रिका लचीलापन तंत्रिका लचीलापन (neuroplasticity) इसी क्षमता को समझने का एक महत्वपूर्ण आधार है। इस प्रकार अर्जुन का “पाप” का तर्क वास्तव में **परिवर्तन के प्रति मन के प्रतिरोध** को दर्शाता है। आध्यात्मिक भाषा में वह अपनी सीमित चेतना और आसक्तियों को छोड़ने से भयभीत है।

चेतना का विकास इच्छाओं को हिंसक रूप से दबाना नहीं, बल्कि उनके प्रति जागरूक होकर उनसे अपनी पहचान को अलग करना है। जब साधक साक्षीभाव में मन, इच्छा, अहंकार और संस्कारों को देखना सीखता है, तब वह धीरे-धीरे उनके द्वारा संचालित होने के बजाय उन्हें समझने और नियंत्रित करने की क्षमता विकसित करता है।

यही आंतरिक युद्ध से मोह से जागरण और सीमित व्यक्तिगत चेतना से व्यापक चेतना की ओर यात्रा का आरंभ है।

श्लोक 47:-

एवमुक्त्वाऽर्जुनः सङ्ख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः।

अर्थ:- संजय कहते हैं, "इस प्रकार (अपने मोह और विषाद को व्यक्त करने के बाद), अर्जुन ने अपने धनुष और बाणों को एक ओर रख दिया और शोक से व्याकुल मन से रथ के आसन पर बैठ गए।"

सार :- संजय कहते हैं कि अपने मोह, करुणा और विषाद को व्यक्त करने के बाद अर्जुन ने धनुष-बाण रख दिए और शोक से व्याकुल होकर रथ में बैठ गए। बाहरी स्तर पर यह युद्ध से पीछे हटने की घटना है, लेकिन आंतरिक स्तर पर यह व्यक्ति की चेतना के उस चरण का प्रतीक है, जहाँ मन अपने ही अंतर्द्वंद्व के सामने अपनी निर्णय-क्षमता और मनोबल खो देता है।

अर्जुन यहाँ उस व्यक्ति का प्रतीक है जिसकी चेतना अभी मन, इन्द्रियों, इच्छाओं, अहंकार, संस्कारों और आसक्तियों से प्रभावित है। 'धनुष' यहाँ मनोबल, संकल्प और कर्म करने की क्षमता का प्रतीक है, जबकि 'बाण' संकल्प को कर्म में परिवर्तित करने वाली इच्छाशक्ति का प्रतीक माना जा सकता है। जब व्यक्ति इन आंतरिक प्रवृत्तियों के मोह में फँस जाता है, तो उसकी विवेक-बुद्धि कमजोर पड़ने लगती है और वह अपने ही भीतर चल रहे संघर्ष से पीछे हटने लगता है।

रथ में बैठ जाना इस बात का संकेत है कि व्यक्ति की आंतरिक दिशा और आत्मविश्वास डगमगा गया है। वह जानता है कि उसे परिवर्तन करना चाहिए, लेकिन पुरानी इच्छाएँ, संस्कार और आसक्तियाँ उसे रोकती हैं। इसलिए वह स्वयं के निर्णय पर ही संदेह करने लगता है। यही मोह से उत्पन्न विषाद है।

इस अध्याय को केवल बाहरी युद्ध की भूमिका के रूप में देखने के बजाय सीमित चेतना के आंतरिक तर्क-वितर्क और मोह-विषाद की अवस्था के रूप में है। अर्जुन रूपी साधक करुणा, संबंध, कर्तव्य, इच्छा, भय और आसक्ति के बीच उलझकर

अपनी विवेकपूर्ण दिशा खो देता है। यही वह निर्णायक बिंदु है जहाँ उसकी पुरानी मानसिक संरचना उत्तर देने में असमर्थ हो जाती है और कृष्ण के ज्ञान के लिए स्थान बनता है।

गीता का गान और ज्ञान तब आरंभ होता है जब अर्जुन रूपी साधक का आत्मविश्वास टूटता है, लेकिन उसकी खोज समाप्त नहीं होती। उसका विषाद ही आगे चलकर ज्ञान की जिज्ञासा का कारण बनता है। यह अध्याय व्यक्ति की सीमित चेतना से जागृत चेतना की ओर संक्रमण की पूर्व-अवस्था को अत्यंत सुंदर रूपक के रूप में प्रस्तुत करता है साथ ही साथ व्यक्ति की “सीमित चेतना” के तर्क -वितर्क का वर्णन करता है और अर्जुन के कौरव पक्ष के प्रति करुणा के दृष्टिकोणों के कारण मानसिक -आध्यात्मिक उन्नति को ग़लत ठहराता है जिस कारण यह व्यक्ति के मोह-विषाद को अर्जुन का रूपक देते हुए बड़े सुंदर तरीके से व्यास जी ने प्रस्तुत किया है

अध्याय - 2

सांख्ययोग

यह अध्याय "सांख्य योग" पर विशेष केंद्रित है। "सांख्य योग" यह योग "ज्ञान" के द्वारा "व्यक्तिगत चेतना" को "सर्वव्यापक चेतना" में रूपान्तरित करने का योग है जिसे सामान्य अर्थों में "आत्मा" के ज्ञान के द्वारा "मोक्ष" प्राप्त का योग कहा जाता है। आत्मा और शुद्ध चेतना एक ही रूप है। प्रत्येक व्यक्ति में चेतना होती है लेकिन चेतना मन, बुद्धि, चित्त, अहं के कारण दूषित हो जाती है या कहे सीमित हो जाती है और व्यक्ति शरीर-मन के आधार पर चेतना को महसूस कर पाता है जबकि चेतना शरीर, मन के परे शुद्ध रूप में सभी जगह व्याप्त है जिसे "सर्वव्यापक चेतना" कहना उचित है और इसी सर्वव्यापक चेतना के शुद्ध रूप को "परमात्मा" कहा गया है। जब शुद्ध चेतना को व्यक्तिगत स्तर पर जोड़ कर समझा जाता है तो उसे व्यक्ति की "आत्मा" कहा जाता है और इसी शुद्ध चेतना को समस्त जगत में व्याप्त जब जाना जाता है तो वह "परमात्मा या ईश्वर" कहलाने लगती है। सर्वव्यापक चेतना (परमात्मा) प्रत्येक अणु, प्रत्येक कोशिकाएँ, प्रत्येक जीव प्राणी, प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक पिंड, प्रत्येक ग्रह, प्रत्येक तारों, प्रत्येक आकाशगंगा, प्रत्येक ब्रह्मांडों में विद्यमान है। साथ ही सर्वव्यापक चेतना सभी ब्रह्मांडों में और इनसे परे भी विद्यमान है। यह किसी एक व्यक्ति, वस्तु या स्थान तक सीमित नहीं होती बल्कि हर जीव, पदार्थ, ऊर्जा, विचार के मूल में यही चेतना कार्यरत होती है। सर्वव्यापक चेतना पूर्ण जागरूकता की स्थिति है एवं एक ऐसी सर्वव्यापक बुद्धि जो हर चीज को जोड़ती एवं संचालित करती है। इसे शुद्ध चेतना (Pure Consciousness) भी कहते हैं। वेदांत में इसे "ब्रह्मा" कहा गया है। यह असीम, निराकार, कालातीत और स्थानातीत है। 'असीम' इसलिए कि यह हमारी व्यक्तिगत समझ के परे भी विद्यमान है 'निराकार' इसलिए क्योंकि इसका कोई रूप-रंग नहीं है, 'कालातीत' इसलिए क्योंकि ये समय के आयाम के परे एक उच्च आयाम है, 'स्थानातीत' इसलिए क्योंकि भौतिक ब्रह्मांड के परे सभी स्थानों के परे भी विद्यमान है। सभी

ब्रह्मांड, प्राणी, समय, स्थान इसी चेतना में प्रकट होते हैं। सम्पूर्ण ब्रह्मांड में जो भी जीवजंतु, पेड़-पौधे, पंचतत्त्व उपस्थित हैं, उनमें घटित होने वाली पंचतन्मात्राएँ (शब्द, स्पर्श, रूप (दृश्य), रस (स्वाद), गंध) क्रियाएँ, मन की क्रियाएँ ये सभी सर्वव्यापक चेतना का हिस्सा हैं। (नोट:- इस अवधारणा को अधिक विस्तार से समझने के लिए “ईश्वर:- चेतना का पाँचवाँ आयाम ” पुस्तक पढ़िए)

गीता के इस अध्याय में कृष्ण रूपी शुद्ध बुद्धि (शुद्ध चेतना) अर्जुन रूपी साधक को दुख और विषाद को त्यागने के लिए आत्मा (शुद्ध चेतना) के ज्ञान को विस्तार से बताते हैं और इस आत्मा के ज्ञान से अंतःकरण को जोड़ने का प्रयास करते हैं ताकि अर्जुन (व्यक्ति) का अंतःकरण शुद्ध होकर चेतना को उन्नत कर सके। इस अध्याय को समझने के पूर्व “ज्ञान” की अवधारणा को समझना होगा।

सर्वप्रथम यह समझना होगा कि सिर्फ किताबों से पढ़कर जो ज्ञान प्राप्त होता है वह भौतिक ज्ञान की श्रेणी में आता है तथा ज्ञान का क्षेत्र इससे अधिक व्यापक है। "ध्यान में ही ज्ञान है"। ज्ञान को मुख्यतः चार श्रेणी में वर्गीकृत किया जा सकता है।

- a) भौतिक ज्ञान
- b) तत्त्व ज्ञान
- c) आत्म ज्ञान
- d) ब्रह्म ज्ञान

a) भौतिक ज्ञान-

एक प्रकार से बुद्धि रूपी चेतना से प्राप्त ज्ञान होता है जिसमें सामाजिक ज्ञान, नीति ज्ञान, शास्त्र ज्ञान, ज्योतिषि ज्ञान, खगोलीय ज्ञान, भौतिक विज्ञान इत्यादि को सम्मिलित किया जाता है जो चेतना के अंश को जानने में मदद करते हैं साथ ही चेतना भौतिक जगत में किस प्रकार अस्तित्व में है एवं किस प्रकार जगत का संचालन कर रही है इसका ज्ञान भौतिक ज्ञान के अन्तर्गत आता है लेकिन भौतिक ज्ञान पूर्ण रूप से चेतना के उन अभौतिक आयाम (non-physical) को समझने एवं

महसूस करने में मदद नहीं करते। इसलिए कहते हैं ध्यान में ज्ञान प्राप्त होता है किताबों में नहीं।

b) तत्व ज्ञान -

यह वह ज्ञान है जो हमें हमारे जीवन, मानसिक कार्यों, आत्मा, चेतना के मूल भूत सत्य को समझने में मदद करता है। यह सर्वव्यापक चेतना के उन तत्वों को जानने के लिए महत्वपूर्ण है जिससे इस सृष्टि, जीव जंतु, प्रकृति का निर्माण हुआ है तथा किन-किन नियमों से इसका संचालन हो रहा है, किस प्रकार प्रकृति कारण, सूक्ष्म से होते हुए स्थूलता को प्राप्त हो रही है, यह जानना तत्व ज्ञान के अंतर्गत आता है। ब्रह्मांड के स्तर पर जिस चेतना ने ब्रह्मांड का निर्माण किया है उसी ने व्यक्ति का भी निर्माण किया है। इसलिए सहज होने के कारण हम यहाँ मनुष्य के तत्व ज्ञान की चर्चा करेंगे।

मनुष्य का निर्माण चेतना के कई सालों के विकास के परिणाम स्वरूप हुई है तथा व्यक्ति का प्रकृति के साथ सामंजस्य के लिए चेतना द्वारा उसे तैयार किया गया है। हम यहाँ इसका संक्षेप में ही वर्णन करेंगे। मनुष्य स्थूल रूप (Physical form) में पंचमहाभूत (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश) से निर्मित होता है। लेकिन चेतना को समझने के लिए व्यक्ति के अन्य 19 सूक्ष्म तत्व को समझना चाहिए जो इस प्रकार हैं- मन, बुद्धि, अहं, चित्त, पाँच ज्ञान इन्द्रियाँ (आँख, नाक, कान, जीव्हा, त्वचा) तथा पाँच कर्म इन्द्रियाँ (हाथ, पैर, गुदा, मुँह, उपस्थ) और पाँच प्राण (उदान, प्राण, अपान, समान, व्यान) तथा उपर्युक्त वर्णित सूक्ष्म तत्वों को उत्पन्न एवं विकास करने के लिए कारण तत्व भी मनुष्य में उपस्थित होते हैं। ये सभी सूक्ष्म तत्वों की प्रकृति, गुण मनुष्य के व्यवहार, कार्य एवं भौतिक शरीर के विकास को प्रभावित करते हैं। इसके अतिरिक्त उपयुक्त स्थूल और सूक्ष्म तत्वों को चेतना के साथ संरेखित करने के लिए मनुष्य और सर्वव्यापक चेतना के बीच आत्म तत्व भी उपस्थित होता है जिसे व्यक्ति को जानना चाहिए। यही से अगले चरण 'आत्म ज्ञान' को व्यक्ति प्राप्त कर सकता है।

इसी प्रकार समस्त ब्रह्मांड में कई सूक्ष्म तत्व, नियम, शक्तियाँ, अंतःक्रिया विद्यमान हैं जो ब्रह्मांडीय प्रज्ञा का रूप है जिसे जानना तत्व ज्ञान के अंतर्गत आता है। यह

क्षेत्र इतना व्यापक है जिसे किसी एक किताब या शब्दों में व्याख्या नहीं की जा सकती।

c) आत्म ज्ञान –

यह वह ज्ञान है जो अपने असली स्वरूप और आत्मा के ज्ञान पर केन्द्रित है। यह ज्ञान हमें बताता है कि हम शरीर नहीं हैं, मन भी नहीं हैं, हमारा वास्तविक स्वरूप शुद्ध चेतना है। व्यक्ति का शरीर पाँच कोश से ढका हुआ होता है। ये माया के आवरण हैं जो व्यक्ति आत्मा एवं चेतना को आनन्दमय कोश से अन्नमय कोश के क्रम में अधिक मात्रा में ढँकते हैं। इन कोशों का क्रम इस प्रकार है:

- (a) अन्नमय कोश (Physical body)
- (b) प्राणमय कोश (Ethereic body)
- (c) मनोमय कोश (Mental body)
- (d) विज्ञानमय कोश (Intellectual body)
- (e) आनन्दमय कोश (Bliss body)

अन्नमय कोश-

यह सबसे बाहरी कोश है इसके अन्तर्गत भौतिक तत्वों से बने शरीर को सम्मिलित करते हैं जिसके अन्तर्गत हड्डियाँ, रक्त, माँस आते हैं। व्यक्ति को चेतना या आत्मा को जड़ पदार्थ के साथ एकरूप कर शरीर के साथ बांधता है तथा व्यक्ति स्वयं को एक स्थूल शरीर (physical body) के साथ अस्तित्व को ही परम सत्य मान कर चलता है।

प्राणमय कोश-

अन्नमय कोश से सूक्ष्म प्राणमय कोश होता है। इसमें व्यक्ति सूक्ष्म स्तर पर प्राणशक्ति (Life force) की उपस्थिति का अनुभव करता है। इसमें श्वसन, पाचन और तंत्रिका तंत्र जैसी प्रमुख शारीरिक प्रणालियों का सुचारू संचालन शामिल है। व्यक्ति की चेतना को प्राणशक्ति से ढकता है। इस कोश में नाडियों के माध्यम से ऊर्जा (प्राण) प्रवाह को सम्मिलित करते हैं।

मनोमय कोश -

चेतन मन से संबंधित होता है जो इन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त किए गए अनुभव एवं भावना को पूर्ण सत्य मानता है तथा वास्तविक आत्मा से व्यक्ति को अलग करता है। यह कोश मानसिक एवं भावनात्मक विकास से संबंधित है।

विज्ञानमय कोश-

अवचेतन मन एवं अचेतन मन से संबंधित है। यह मनोमय कोश से सूक्ष्म है तथा व्यक्ति के आंतरिक ज्ञान (Intuition) से जुड़ा होता है। विज्ञानमय कोश व्यक्तिगत चेतना एवं सार्वभौमिक चेतना के बीच सेतु का कार्य करता है। त्रि-आयामी जगत के पीछे का सत्य इस ज्ञानमय कोश में छुपा होता है लेकिन अभी भी दृष्टा एवं दृश्य के बीच बारीक अंतर होता है।

आनंदमय कोश-

यह व्यक्ति के आत्मा से संबंधित कोश है या कहे वास्तविक स्वरूप से संबंधित है। यह कोश व्यक्ति के मन, बुद्धि, शरीर, प्राण से परे है तथा वास्तविक दृष्टा (observer) का ज्ञान कराने वाला कोश है। यह कोश बिना शरीर के निराकार, निर्गुण है एवं वास्तविक दृष्टा है। जो व्यक्ति के सभी कार्य को देखने वाला हो, निर्लिप्त हो उसे देखना संभव नहीं है। इस कोश में किसी प्रकार की कोई सुख-दुख की उत्तेजना नहीं होती है इसलिए इसे आनन्दमय कोश कहा गया है। यह चेतना के वास्तविक सत्य, अनंत अस्तित्व, आनंद का प्रतिबिंब स्वरूप है। जब व्यक्ति अन्नमय कोश, जड़मय कोश, ज्ञानमय कोश से चेतना का स्तर बढ़ाकर इस कोश में स्थापित करता है तो उसे स्वयं के उच्च स्व (Higher self) की जानकारी प्राप्त होती है या स्वयं दृष्टा बनने का अनुभव होता है। यह कोश अतिचेतन मन (super Consciousness) से संबंधित है तथा सर्वव्यापक चेतना से जुड़ने का द्वार है।

(d) ब्रह्म ज्ञान—

जो भी तत्व जो सर्वव्यापक चेतना में उपस्थित है उसे 'ब्रह्म' का वाचक माना जा सकता है लेकिन यह ज्ञान ध्यान से प्राप्त होगा न कि भौतिक जगत के ज्ञान से। ब्रह्मा

या चेतना अतिसूक्ष्म से भी सूक्ष्म है और अति व्यापक से भी व्यापक है। ब्रह्मा ज्ञान व्यक्तिगत चेतना को सर्वव्यापक चेतना में रूपांतरण के पश्चात संभव है। यह ज्ञान शब्दों के बजाय गहन ध्यान या समाधि में अनुभूति से जाना जा सकता है। “ब्रह्मसूत्र” के अनुसार स्वयं को जगत् रूप में प्रकट करने से ब्रह्म ही जगत् का उपादान कारण सिद्ध होता है अर्थात् प्रकट होने से पहले यह जगत् अव्यक्त रूप में था, उससे ही यह प्रकट हुआ है, “उस ब्रह्मा ने स्वयं को ही इस जगत् के रूप में प्रकट किया है। इस जगत् के जन्मादि (उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय) जिससे होते हैं, वह ब्रह्म है। जो इस लोक से ऊपर परम ज्योति प्रकाशित हो रही है जो त्रि-आयामी जगत्, समय के परे है, ब्रह्मा का वाचक है। अत्यधिक गहन ध्यान में इस ज्योति के दर्शन किए जा सकते हैं।

इस अध्याय में उपरोक्त “सांख्य योग” या “ज्ञान योग” का वर्णन किया गया है और स्वयं की चेतना (आत्मा) को सर्वव्यापक चेतना (ईश्वर) में रूपांतरित करने के लिए युद्ध करने पर बल दिया है। सर्वव्यापक चेतना को प्राप्त व्यक्ति के लक्षणों का भी वर्णन है और इस ज्ञान को व्यक्ति को स्वयं के कर्म करने पर लागू करने पर बल दिया गया है।

इसके अतिरिक्त चेतना को उन्नत करने के लिए मन, इन्द्रियों पर नियंत्रण पर बल दिया है जिससे बुद्धि शुद्ध और अन्तःकरण शुद्ध होकर व्यक्ति की व्यक्तिगत चेतना शुद्ध चेतना में बदली जा सके। इसी अनुक्रम में शुद्ध बुद्धि के अनुरूप कर्म कर्म करने पर बल दिया गया है एवं शुद्ध बुद्धि अनुरूप कर्म से योग को बताया गया है। साथ ही सर्वव्यापक चेतना (परमात्मा) को प्राप्त स्थिर बुद्धि वाले व्यक्ति के लक्षण भी बताए गए हैं। इसके अतिरिक्त बाद के श्लोकों में यह भी बताया गया है कि व्यक्ति की बुद्धि का नाश इन्द्रियों के प्रभाव, इच्छाओं, आसक्ति (Attachment) के कारण होता है जो बुद्धि के पतन होने से दुःख का कारण बनता है। और जो व्यक्ति अपनी चेतना को सर्वव्यापक चेतना में रूपांतरित कर लेता है (ब्राह्मी स्थिति) वो किस प्रकार इन्द्रियों के मोह से छुटकारा प्राप्त कर “ब्रह्मानन्द” (सत्-चित्-आनन्द) को प्राप्त होता है।

श्लोक 1:-

“तम् तथा कृपयाविष्टम् अश्रु-पूर्ण-आकुल-ईक्षणम् ।
विषीदन्तम् इदम् वाक्यम् उवाच मधुसूदनः ॥”

अर्थ :- करुणा से व्याप्त और आँसुओं से भरे, व्याकुल नेत्रों वाले, शोकग्रस्त अर्जुन के प्रति भगवान मधुसूदन (श्रीकृष्ण) ने यह वचन कहा।

सार:- यह श्लोक युद्धभूमि में अर्जुन रूपी साधक की उस गहरे मानसिक और आध्यात्मिक संघर्ष का वर्णन करता है, जब वह अपने ही सगे-संबंधियों (**प्रतीकात्मक रूप में उपस्थित मन की नकारात्मक प्रवृत्तियों**) के विरुद्ध शस्त्र उठाने से व्याकुल हो जाता है। श्रीकृष्ण, जो यहाँ **शुद्ध बुद्धि अथवा शुद्ध चेतना** के प्रतीक हैं, अर्जुन को उसके वास्तविक कर्तव्य और आत्म-परिवर्तन के मार्ग का बोध कराने के लिए संवाद प्रारम्भ करते हैं।

आध्यात्मिक दृष्टि से यह युद्ध केवल कुरुक्षेत्र का बाहरी युद्ध नहीं, बल्कि मनुष्य के भीतर चलने वाला मानसिक-आध्यात्मिक **आंतरिक युद्ध** है। जब साधक आत्म-रूपांतरण (*Transformation*) के मार्ग पर आगे बढ़ता है, तब उसे अपने भीतर उपस्थित सांसारिक इच्छाओं (**दुर्योधन**), आसक्ति (**कर्ण**), अहंकार (**भीष्म**), संस्कारों (**द्रोणाचार्य**) तथा मन की अन्य विकृत प्रवृत्तियों (**कौरवों**) का सामना करना पड़ता है।

इन प्रवृत्तियों को छोड़ना साधक के लिए सरल नहीं होता, क्योंकि वे उसके जीवन और व्यक्तित्व का लंबे समय से हिस्सा बनी होती हैं। यही अर्जुन का वास्तविक दुःख है—**अर्जुन अर्थात् स्वयं साधक**, अपने भीतर के पुराने संस्कारों, मोह और आसक्तियों को समाप्त करने की प्रक्रिया में हताश और व्याकुल हो जाता है।

करुणा और मोह से व्याप्त अर्जुन की इसी अवस्था में श्रीकृष्ण, अर्थात् **शुद्ध बुद्धि युक्त शुद्ध चेतना**, उसका मार्गदर्शन करने के लिए आगे आते हैं। इस प्रकार प्रथम श्लोक से ही इस अध्याय में उस महान आंतरिक यात्रा का आरम्भ होता है, जिसमें व्याकुल व्यक्तिगत चेतना को शुद्ध चेतना के मार्गदर्शन द्वारा उसके वास्तविक स्वरूप और कर्तव्य का बोध कराया जाता है।

श्लोक 2:-

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुना॥

अर्थ:- भगवान ने कहा: हे अर्जुन! इस संकट की घड़ी में यह मोह (मानसिक दुर्बलता) तुम्हें कहाँ से आ लगा? यह न तो श्रेष्ठ लोगों के आचरण के योग्य है, न ही यह स्वर्ग देने वाला है, और न ही यह सम्मानदिलाता है।

श्लोक 3:-

“क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तपा॥”

अर्थ:- हे पार्थ (अर्जुन)! यह नपुंसकता (मनोबल की कमी) तुम्हें शोभा नहीं देती। हे शत्रुओं का दमन करने वाले! हृदय की इस तुच्छ दुर्बलता को त्यागकर उठो और युद्ध के लिए तैयार हो जाओ।”

सार (श्लोक 2-3):- ये दो श्लोक अर्जुन (व्यक्ति) की मानसिक कमजोरी को त्याग कर अपने कर्तव्य (धर्म) के पालन के लिए प्रेरित करता है। यहाँ अर्जुन को व्यक्ति के **आत्मनियंत्रण** और **शुद्ध अंतःकरण** के प्रतीकात्मक रूप से बताया गया है। आत्मनियंत्रित और शुद्ध अंतःकरण वाला व्यक्ति जब मन और इन्द्रियों के प्रभाव से अपने मूल धर्म (वास्तविक कर्तव्य) से विचलित हो जाता है तब कृष्ण रूपी शुद्ध बुद्धि अर्जुन रूपी साधक को मार्गदर्शित करती है कि इस संकट की घड़ी (जब व्यक्ति स्वयं के मन की उत्तेजना के साथ रहना चाहता है और शुद्ध चेतना की तरफ उन्नति करना चाहता है) में ये आत्मनियंत्रित व्यक्ति (अर्जुन) में अज्ञानता और मनोबल की कमी कहाँ से आ गई। आत्मनियंत्रण का गुण प्रत्येक व्यक्ति में होता है लेकिन जब व्यक्ति मन और इन्द्रियों के प्रभाव में अपने लक्ष्य से विचलित हो जाता है तब उसे मार्गदर्शन की ज़रूरत पड़ती है और इस मार्गदर्शन का कृष्ण (शुद्ध बुद्धि) अर्जुन रूपी व्यक्ति को प्रेरित करने के लिए इन श्लोक का इस अध्याय में वर्णन किया गया है।

जो व्यक्ति आत्मनियंत्रित और शुद्ध अंतःकरण वाला हो ऐसा व्यक्ति “श्रेष्ठ व्यक्ति” है और ऐसे श्रेष्ठ व्यक्ति के लिए मन की प्रवृत्ति और इन्द्रियों के प्रभाव में आकर ऐसा दुख और मोह

का आचरण करना शोभा नहीं देता। ऐसा आचरण न ही चेतना को उन्नत करने वाला (स्वर्ग देने वाला) होता है न ही स्वयं की संतुष्टि (सम्मान) देने वाला। इस अनुक्रम में कृष्ण अर्जुन को प्रेरणा देने के लिए मनोबल की कमी को त्याग कर, अंतःकरण को कमजोर करने वाले विचार को (हृदय की तुच्छ दुर्बलता को त्याग कर) युद्ध (मानसिक-आध्यात्मिक युद्ध) के लिए तैयार होने के लिए प्रेरित कर रहे हैं और धर्म के पालन के लिए प्रेरित करते हैं।

इसके प्रत्युत्तर में पुनः अर्जुन कृष्ण से तर्क-वितर्क करने लगते हैं। जब व्यक्ति का अंतःकरण शुद्ध बुद्धि के मार्गदर्शन से किसी नवीन ज्ञान को ग्रहण करना प्रारम्भ करता है, तब भी उसके भीतर स्थित मन अपने पूर्व अनुभवों, संस्कारों और विचारों के आधार पर उस ज्ञान की परीक्षा करने लगता है। अर्जुन रूपी साधक भी अपने स्तर पर प्राप्त ज्ञान और अनुभव के आधार पर प्रश्न एवं तर्क प्रस्तुत करता है।

यह मनुष्य का स्वाभाविक व्यवहार है कि वह अपने स्थापित मानसिक विचारों में परिवर्तन का सहज रूप से विरोध करता है। जब तक उसे अपने सभी प्रश्नों का संतोषजनक उत्तर नहीं मिल जाता और उसका अंतःकरण उस सत्य को पूर्ण रूप से स्वीकार नहीं कर लेता, तब तक उसके भीतर तर्क-वितर्क चलता रहता है। व्यक्ति यह भी जानना चाहता है कि इन्द्रियों के प्रभाव और मानसिक संघर्षों के बीच आत्मनियंत्रण एवं समत्व से युक्त जीवन वास्तव में उसके लिए हितकर है या नहीं।

इसी आंतरिक संशय और सत्य को स्वयं अनुभव करके समझने की जिज्ञासा के कारण अर्जुन पुनः कृष्ण से तर्क-वितर्क करते हैं। वास्तव में अर्जुन के ये प्रश्न केवल उनके व्यक्तिगत संशय नहीं हैं, बल्कि प्रत्येक साधक के मन में उत्पन्न होने वाले उन प्रश्नों का प्रतीक हैं, जो चेतना के निम्न स्तर से उच्च चेतना की ओर यात्रा करते समय स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होते हैं।

श्लोक 4:-

“कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४ ॥”

अर्थ:-“हे मधुसूदन (कृष्ण)! मैं रणभूमि में भीष्म और द्रोण जैसे पूजनीय व्यक्तियों पर बाणों से कैसे युद्ध करूँगा? हे अरिसूदन (शत्रु-दमनकर्ता)! वे दोनों ही मेरे पूज्य हैं! यहाँ पुनः अर्जुन रूपी व्यक्ति अपने भीष्म रूपी अहं और द्रोण रूपी संस्कारों (आदतों) को समाप्त करने से डर रहा है और बार-बार विचार आ रहा है कि कि किस प्रकार अपने मन की शक्ति (बाणों) से अपने अहं और संस्कार को समाप्त कर पाएगा ।

सार (श्लोक 4):- जब व्यक्ति के मनोबल में कमी आती है, तब उसके भीतर स्वाभाविक रूप से संशय और भय उत्पन्न होने लगते हैं। अर्जुन की तरह साधक भी अपने भीतर उपस्थित **भीष्म रूपी अहंकार और द्रोणाचार्य रूपी संस्कारों एवं आदतों** को समाप्त करने से डरता है। उसे बार-बार यह विचार आता है कि वह अपने मन की शक्ति, अर्थात् **बाणों**, के द्वारा इतने गहरे और लंबे समय से स्थापित अहंकार एवं संस्कारों पर कैसे विजय प्राप्त कर पाएगा।

ध्यान और साधना के दौरान भी जब साधक अपेक्षित या आशानुरूप प्रगति नहीं कर पाता, तब उसके भीतर ऐसे विचार उत्पन्न होना स्वाभाविक है। वास्तव में, **अहंकार और संस्कार साधक की आंतरिक प्रगति के सबसे बड़े अवरोधों में से हैं**, क्योंकि वे व्यक्ति को बार-बार उसके पुराने विचारों, आदतों और पहचान की ओर खींचते हैं।

इस आंतरिक संघर्ष से बाहर निकलने के लिए अर्जुन रूपी व्यक्ति को **शुद्ध बुद्धि अथवा शुद्ध चेतना** के ज्ञान और मार्गदर्शन की आवश्यकता होती है। यही शुद्ध चेतना व्यक्ति को अपने भीतर के अहंकार और संस्कार रूपी शत्रुओं को पहचानने तथा उन पर विजय प्राप्त करने की शक्ति प्रदान करती है।

इसी कारण अर्जुन श्रीकृष्ण को ‘**अरिसूदन**’ अर्थात् शत्रुओं का दमन करने वाला कहकर संबोधित करता है। यहाँ कृष्ण बाहरी शत्रुओं के नहीं, बल्कि साधक के भीतर उपस्थित **अहंकार, मोह, भय, संशय और संस्कारों** जैसे आंतरिक शत्रुओं का दमन करने वाली **शुद्ध बुद्धि और चेतना** के प्रतीक हैं।

श्लोक 5:-

गुरुन् हत्वा भिक्षुकोऽप्यहं भोगेरुधिरप्रदिग्धान्।
अर्थकामान्निहत्वा नार्थं विजिगीषामहे वयम्।!

अर्थ - अर्जुन कहते हैं कि अपने गुरुजनों (भीष्म, द्रोण) को मारकर, भोगों को भोगने से अच्छा है कि मैं इस लोक में भीख माँगकर खाऊँ, क्योंकि खून से सने हुए भोगों से क्या लाभ होगा।

सार:- यह श्लोक अर्जुन के मोह और कर्तव्य-विमूढ़ता को दर्शाता है, जहाँ वे अपने क्षत्रिय धर्म (युद्ध करना) और व्यक्तिगत संबंधों (गुरुजनों को न मारने) के बीच फँसे हुए हैं। जब व्यक्ति मानसिक-आध्यात्मिक में उन्नति भी करना चाहता है (चेतना उन्नत के रूप में) और अहं, संस्कार जैसे तत्वों को त्यागना भी नहीं चाहता क्योंकि इन्हीं अहं, संस्कारों की वजह से व्यक्ति स्वयं और अन्य को अलग समझकर इन्द्रियों के भोगों को भोग पाता है और यही संस्कार उसे संतुष्टि भी प्रदान करते हैं। इनके बिना व्यक्ति अन्य भोगों की कल्पना भी नहीं कर सकता जो भविष्य में अहं और संस्कारों को समाप्त कर प्राप्त हो।

इस कारण व्यक्ति रूपी अर्जुन तात्कालिक और मोहयुक्त विचार करता है कि इससे बेहतर है कि इस भौतिक जगत में भीख माँगकर खाये क्योंकि जो भविष्य में भोग प्राप्त होंगे वो अपने संस्कारों और अहं को मारकर प्राप्त होंगे। यहाँ अर्जुन रूपी व्यक्तिगत चेतना अपने भीतर उपस्थित भीष्म रूपी अहंकार और द्रोण रूपी गहरे संस्कारों एवं आदतों को समाप्त करने के लिए अभी तैयार नहीं है। साधक को यह भय होता है कि जिन प्रवृत्तियों के साथ उसने जीवनभर अपनी पहचान बनाई है, उन्हें छोड़ने के बाद उसका अस्तित्व और जीवन कैसा होगा।

अहंकार और संस्कार भले ही साधक की आध्यात्मिक उन्नति में बाधक हों, फिर भी वे लंबे समय से उसके व्यक्तित्व का हिस्सा होते हैं। इसलिए जब साधक ध्यान और आत्म-परिवर्तन की प्रक्रिया में इन पुरानी प्रवृत्तियों को समाप्त करने का प्रयास करता है, तो उसके भीतर एक गहरा मानसिक संघर्ष उत्पन्न होता है।

अर्जुन का “भिक्षा माँगकर जीवन बिताना भी श्रेष्ठ है” कहना इस आंतरिक भय को दर्शाता है। व्यक्ति कभी-कभी अपने पुराने सीमित जीवन, दुखों और आदतों में बने रहना

स्वीकार कर लेता है, लेकिन अपने अहंकार और संस्कारों को छोड़कर एक नए चेतनात्मक जीवन में प्रवेश करने से डरता है।

“रुधिरप्रदिग्धान् भोगान्” अर्थात् रक्त से सने भोग यहाँ उस मानसिक पीड़ा के प्रतीक हैं, जो साधक को अपनी पुरानी पहचान, अहंकार और संस्कारों के विघटन के समय अनुभव होती है। इस प्रकार अर्जुन का यह द्वंद्व उस साधक की अवस्था को दर्शाता है जो परिवर्तन चाहता तो है, लेकिन परिवर्तन के लिए अपने भीतर की पुरानी प्रवृत्तियों को त्यागने का साहस अभी पूरी तरह विकसित नहीं कर पाया है।

श्लोक 6:-

न चैतद्विद्यः कतरनो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।

यानेव हत्वा न जिजीविषामः तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः!!

अर्थ:- और हम यह भी नहीं जानते कि हमारे लिए युद्ध करना और न करना इन दोनों में से कौन-सा श्रेष्ठ है, अथवा यह भी नहीं जानते कि उन्हें हम जीतेंगे या हमको वे जीतेंगे; और जिनको मारकर हम जीना भी नहीं चाहते, वे ही धृतराष्ट्र के पुत्र (हमारे संबंधी) मुकाबले में खड़े हैं।”

सार:- इस श्लोक में अर्जुन रूपी साधक अपनी मानसिक और आध्यात्मिक व्यथा, संशय तथा भविष्य के प्रति अस्पष्टता को व्यक्त करता है। साधक के मन में यह प्रश्न उठता है कि क्या चेतना की उन्नति के लिए यह आंतरिक एवं आध्यात्मिक युद्ध करना वास्तव में आवश्यक है? और यदि यह संघर्ष आवश्यक भी है, तो क्या इस मानसिक युद्ध के माध्यम से चेतना की वास्तविक उन्नति निश्चित रूप से प्राप्त हो जाएगी?

अर्जुन का दूसरा संशय इससे भी गहरा है। यदि साधना के माध्यम से चेतना उन्नत होकर व्यक्तिगत चेतना से सर्वव्यापक चेतना की ओर रूपांतरित हो भी जाती है, तो साधक अपने मन, इच्छाओं, आसक्तियों और उनसे जुड़ी हुई पुरानी पहचान को पूर्णतः समाप्त करने के लिए तैयार नहीं होता। व्यक्ति जिन इच्छाओं और मानसिक प्रवृत्तियों को अपने जीवन का हिस्सा मानता आया है, उनसे अलग होने का विचार भी उसे भय और असमंजस में डाल देता है।

यही अर्जुन का वास्तविक आंतरिक द्वंद्व है—यदि मैं इस युद्ध में विजय प्राप्त करूँ, तो मुझे अपने भीतर की उन प्रवृत्तियों को छोड़ना पड़ेगा जिनके साथ मेरा भावनात्मक संबंध है; और यदि मैं पराजित हो जाऊँ, तो मैं चेतना की उन्नति के मार्ग पर आगे नहीं बढ़ पाऊँगा।

ध्यान और साधना के मार्ग पर आगे बढ़ने वाले साधक भी इस स्थिति का अनुभव कर सकते हैं। ध्यान में वास्तविक प्रगति के लिए केवल कुछ समय का प्रयास पर्याप्त नहीं होता, बल्कि दीर्घकालिक, नियमित और अनुशासित साधना की आवश्यकता होती है। इस यात्रा में अनेक मानसिक बाधाएँ, पुरानी आदतें, इच्छाएँ, भय, संशय और परिस्थितियाँ साधक के मानसिक बल को कमजोर तथा मन को विचलित कर सकती हैं।

इसलिए अर्जुन का यह संशय केवल युद्धभूमि की दुविधा नहीं है, बल्कि उस प्रत्येक साधक की आंतरिक अवस्था का प्रतीक है जो पुरानी मानसिक चेतना और उच्च चेतना के बीच परिवर्तन की प्रक्रिया से गुजर रहा होता है। ध्यान के मार्ग पर चलने वाला व्यक्ति इस द्वंद्व को स्पष्ट रूप से अनुभव कर सकता है—जहाँ एक ओर उन्नति की आकांक्षा होती है, वहीं दूसरी ओर पुरानी इच्छाएँ और मानसिक पहचान उसे उसी स्थिति में बनाए रखने का प्रयास करती हैं।

श्लोक 7:-

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।

अर्थ:-मैं अपने कर्तव्य को लेकर असमंजस में हूँ, और चिंता और भय से घिरा हुआ हूँ। मैं आपका शिष्य हूँ, और आपके प्रति समर्पित हूँ। कृपया मुझे स्पष्ट रूप से बताएँ कि मेरे लिए सर्वोत्तम क्या है।

सार:- यहाँ अर्जुन रूपी आप स्वयं अपने वास्तविक धर्म (कर्तव्य) को लेकर असमंजस में है। अर्जुन रूपी आत्मनिर्ग्रन्थित और शुद्ध अन्तःकरण शुद्ध बुद्धि रूपी कृष्ण से मार्गदर्शन प्राप्त करना चाहता है क्योंकि शुद्ध अन्तःकरण शुद्ध बुद्धि के शिष्य रूप ही है।

इस तथ्य को आगे समझने के पूर्व यह समझना जरूरी है कि मनुष्य एक चेतना से युक्त प्राणी है और आत्मा ही उसका मूल स्वभाव है जैसा कि धर्म का अर्थ ही वह स्वभाव है जो किसी

व्यक्ति को उसके स्व-रूप(Self) में बनाये रखे। व्यक्ति (मनुष्य) न शरीर है, न मन है, न बुद्धि, न चित्त, न अहंकार, मनुष्य वह सर्वव्यापक चेतना या आत्मा है जो सत्-चित्त-आनंद स्वरूप में है। प्रत्येक व्यक्ति का प्राथमिक कर्म ही यही है कि वह सत्-चित्त-आनंद स्वरूप को प्राप्त करे। **सत्-चित्त-आनंद सर्वव्यापक चेतना का वह स्वरूप है जो अनंत अस्तित्व (सत्) में, अनंत चेतनायुक्त (चित्), एवं आनंद के साथ सभी जगह व्याप्त है।**

मनुष्य/प्राणी धर्म के सार्वभौमिक रूप को न जानने के कारण एवं व्यक्तिगत चेतना की सीमाओं से बंधे रहने के कारण **धर्म-कर्म-काल** के चक्र में फंसा हुआ है। जितना मनुष्य शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक स्तर पर धर्म की समझ रखता है उसी अनुरूप वह कर्म करता है और वह कर्म ही उसके समय (काल) का निर्धारण भी करता है। प्रत्येक कर्म की एक समय अवधि होती है जो उसका काल/समय कहलाता है जिसमें व्यक्तिगत चेतना फंसी रहती है और यही चक्र-प्राणी के साथ जन्म-जन्मांतर तक रहता है। जब मनुष्य/प्राणी सार्वभौमिक धर्म के वास्तविक उद्देश्य को समझ कर कर्म करता है अर्थात् वास्तविक उद्देश्य व्यक्तिगत चेतना को सर्वव्यापक चेतना में रूपांतरण करना है तब वह समय (काल) के आयाम को लांघ जाता है और इस धर्म-कर्म-काल के चक्र से मुक्त हो जाता है।

ध्यान और साधना के मार्ग पर एक समय ऐसा आता है, जब साधक को अनुभव होता है कि केवल अपने **मन और तर्क के आधार पर आगे बढ़ना पर्याप्त नहीं** है। क्योंकि जिस मन के विकारों को समाप्त करना है, वही मन स्वयं सही मार्ग का निर्णय करने में भी भ्रमित हो सकता है।

इसलिए अर्जुन का कहना—**“मैं आपका शिष्य हूँ और आपके प्रति समर्पित हूँ”—** आध्यात्मिक दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है। यहाँ शिष्यत्व का अर्थ केवल किसी व्यक्ति के प्रति समर्पण नहीं, बल्कि अपनी सीमित व्यक्तिगत चेतना को शुद्ध बुद्धि और उच्च चेतना के मार्गदर्शन के लिए खोल देना है।

जब साधक अपने अहंकार को कुछ समय के लिए भी त्यागकर स्वीकार करता है कि **“मैं स्वयं इस स्थिति को स्पष्ट रूप से नहीं समझ पा रहा हूँ”,** तभी वास्तविक सीखने और आंतरिक परिवर्तन का मार्ग खुलता है। अर्जुन का समर्पण वास्तव में उसकी कमजोरी नहीं, बल्कि आध्यात्मिक विकास की शुरुआत है।

श्लोक 8:-

न हि प्रापश्यामि ममापनुद्यात् यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियानाम्।
अवाप्य भूमौ असपत्नम् ऋद्धम् राज्यं सुराणाम् अपि च आधिपत्यम्

अर्थ:- मुझे इस पीड़ा को दूर करने का कोई उपाय नहीं मिल रहा है जो मेरी इन्द्रियों को सुखा रही है। भले ही मैं पृथ्वी पर एक समृद्ध और अद्वितीय राज्य जीत लूँ, या स्वर्गीय देवताओं के समान संप्रभुता प्राप्त कर लूँ, मैं इस दुःख को दूर नहीं कर पाऊँगा।

सार:- अर्जुन रूपी व्यक्तिगत चेतना के उस गहरे मोह और विषाद का वर्णन है, जब व्यक्ति अपनी चेतना को उन्नत करने तथा मानसिक और आध्यात्मिक विकास की दिशा में आगे बढ़ने का विचार तो करता है, लेकिन इस मार्ग पर चलने के लिए उसे अपने वर्तमान इन्द्रिय-सुखों, इच्छाओं और आसक्तियों से दूरी बनानी पड़ती है। यही त्याग उसके लिए मानसिक पीड़ा और आंतरिक संघर्ष का कारण बनता है।

अर्जुन कहते हैं कि उन्हें ऐसा कोई उपाय दिखाई नहीं देता जो उनके उस शोक को दूर कर सके, जो उनकी इन्द्रियों को मानो शुष्क कर रहा है। आध्यात्मिक दृष्टि से यह उस साधक की अवस्था है, जब पुरानी इच्छाओं और इन्द्रिय-सुखों से विरक्ति की प्रक्रिया प्रारंभ होती है, लेकिन उच्च चेतना का अनुभव अभी पूर्ण रूप से प्राप्त नहीं हुआ होता। व्यक्ति एक संक्रमण अवस्था में होता है—पुराने सुखों का आकर्षण कम होने लगता है, परंतु नए आध्यात्मिक आनंद का अनुभव अभी स्थिर नहीं हुआ होता।

यद्यपि व्यक्ति ज्ञान, मानसिक उन्नति और आध्यात्मिक साधना के माध्यम से सत्-चित्-आनंद स्वरूप चेतना जैसी उच्च अवस्था को प्राप्त करने की संभावना को समझता है, फिर भी उसके मन में संशय बना रहता है कि क्या भविष्य में प्राप्त होने वाला यह आनंद वास्तव में उन वर्तमान इन्द्रिय-सुखों से अधिक संतोष प्रदान करेगा, जिन्हें उसे अभी त्यागना पड़ रहा है।

यही अर्जुन का वास्तविक दुःख है। व्यक्ति उच्च चेतना की प्राप्ति तो चाहता है, परंतु उसके लिए आवश्यक वर्तमान आसक्तियों, इच्छाओं और इन्द्रिय-सुखों के त्याग से भयभीत भी होता है। इसलिए उसे ऐसा प्रतीत होता है कि चाहे वह संसार की सबसे बड़ी उपलब्धि या सर्वोच्च सुख प्राप्त कर ले, फिर भी वर्तमान मानसिक पीड़ा समाप्त नहीं होगी।

यह श्लोक साधक की उस गहन मनोवैज्ञानिक अवस्था को व्यक्त करता है, जहाँ वह **इन्द्रिय-सुखों और शुद्ध चेतना के आनंद के बीच खड़ा होता है**। एक ओर उसे सांसारिक सुखों को छोड़ने की पीड़ा होती है और दूसरी ओर उच्च चेतना को प्राप्त करने की आकांक्षा। यही द्वंद्व अंततः उसे शुद्ध चेतना के मार्गदर्शन और वास्तविक आत्मज्ञान की ओर ले जाता है।

श्लोक 9:-

सञ्जय उवाच-

**एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तपः।
न योत्स्ये इति गोविन्दम् उक्त्वा तूष्णीं बभूव ह॥**

अर्थ :संजय ने कहा—इस प्रकार कहकर, शत्रुओं का दमन करने वाले अर्जुन (गुडाकेश) ने मन और इन्द्रियों के स्वामी श्रीकृष्ण से कहा, "मैं युद्ध नहीं करूँगा", और फिर चुप हो गए।

सार:-इस श्लोक में अर्जुन को गुडाकेश कहा गया है, जिसका अर्थ है—वह जो निद्रा, जड़ता अथवा स्वयं पर नियंत्रण रखने की क्षमता रखता है। आध्यात्मिक दृष्टि से अर्जुन यहाँ **आत्मनियंत्रण और अंतःकरण की जागरूक शक्ति** का प्रतीक है। अर्जुन रूपी साधक के पास आत्मनियंत्रण की शक्ति होने के बावजूद व्यक्ति का मन, इन्द्रियों का प्रभाव, इच्छाएँ, आसक्तियाँ और पूर्व संस्कार कभी-कभी इतने शक्तिशाली हो जाते हैं कि नियंत्रण भी कमजोर पड़ने लगता है।

जब तक आत्मनियंत्रण की यह शक्ति किसी उच्च लक्ष्य—जैसे **ईश्वर की प्राप्ति अथवा व्यक्तिगत चेतना का सर्वव्यापक चेतना में रूपांतरण**—के प्रति स्थायी रूप से स्थापित नहीं हो जाती, तब तक व्यक्ति बार-बार मानसिक संघर्ष और विचलन का अनुभव कर सकता है।

इसी प्रकार अर्जुन रूपी **आत्मनियंत्रण**, जिसे “गुडाकेश” कहा गया है, अपने भीतर के कौरव रूपी नकारात्मक पक्षों पर विजय प्राप्त करने की क्षमता तो रखता है, किंतु मन और इन्द्रियों के प्रभाव, सांसारिक इच्छाओं, आसक्ति तथा पूर्व संस्कारों के कारण उसकी यह शक्ति अस्थायी रूप से दुर्बल पड़ जाती है। परिणामस्वरूप वह इस आंतरिक युद्ध को करने से ही इनकार कर देता है—**“मैं युद्ध नहीं करूँगा।”**

लेकिन इस श्लोक का महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि अर्जुन रूपी आत्मनियंत्रण अपनी दुविधा और असमर्थता को अपने भीतर दबाकर नहीं रखता, बल्कि उसे शुद्ध बुद्धि रूपी श्रीकृष्ण के समक्ष प्रस्तुत करता है। श्रीकृष्ण यहाँ उस उच्च चेतना और विवेक के प्रतीक हैं, जो केवल इन्द्रियों के प्रभाव को ही नहीं समझता, बल्कि मन को भी नियंत्रित और सही दिशा प्रदान करने की क्षमता रखता है।

यह साधक का आत्मनियंत्रण अस्थायी रूप से कमजोर पड़ जाता है, परंतु वह अपने अंतःकरण की व्यथा को शुद्ध बुद्धि और उच्च चेतना के मार्गदर्शन के सामने रख देता है। यही स्वीकार करने की अवस्था आगे चलकर उसके आंतरिक संघर्ष के समाधान और चेतना के वास्तविक रूपांतरण का आधार बनती है।

नोट:-उपरोक्त 1-9 के श्लोक अर्जुन रूपी व्यक्ति की मानसिक व्यथा का वर्णन और मानसिक-आध्यात्मिक युद्ध न करने के निर्णय को बताते हैं जिन सभी तर्कों को व्यक्ति की सीमित बुद्धि, सीमित चेतना, सीमित मन के द्वारा तात्कालिक परिस्थितियों के आधार पर वर्णन किया गया है। उपरोक्त अर्जुन की मानसिक व्यथा को सही दिशा प्रदान करने के लिए कृष्ण रूपी शुद्ध बुद्धि/शुद्ध चेतना के संदर्भ में आगे के श्लोक को व्यक्ति को मार्गदर्शिका के रूप में वर्णित किए गए हैं।

श्लोक 10:-

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारता।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः॥10॥

अर्थ :-"हे भरतवंशी धृतराष्ट्र! दोनों सेनाओं के बीच में शोक करते हुए उस अर्जुन को, अंतर्यामी श्रीकृष्ण ने हँसते हुए से यह वचन कहे!

सार:-इस श्लोक में व्यक्ति के पांडव (विवेकशील गुण) और कौरव (अंधे मन से उत्पन्न प्रवृत्तियों) के बीच मानसिक संघर्ष को देख कर अन्तर्यामी कृष्ण रूपी शुद्ध बुद्धि हँसते हुए आगे के ज्ञान योग के विषय के बारे में बतायेंगे। यहाँ “हँसते हुए” का अर्थ उपहास करना नहीं है, बल्कि अर्जुन के मोह और उसके भीतर छिपी हुई आत्मिक क्षमता को देखकर श्रीकृष्ण की करुणामयी, शांत और आत्मविश्वासपूर्ण मुस्कान है।

अर्जुन बाहरी रूप से महान योद्धा होते हुए भी उस समय शोक, मोह और मानसिक द्वंद्व में डूब गया था। ऐसा सभी व्यक्ति और साधक के साथ हो सकता है। श्रीकृष्ण रूपी शुद्ध बुद्धि को हमेशा ज्ञात होता है कि अर्जुन का यह भ्रम अस्थायी है और ज्ञान के प्रकाश से उसका अज्ञान दूर हो सकता है। इसलिए दोनों सेनाओं के मध्य, जीवन के सबसे बड़े संघर्ष के क्षण में, अंतर्धामी श्रीकृष्ण मुस्कराते हुए उसे सत्य का उपदेश देना प्रारंभ करते हैं।

इससे पूर्व अंतर आयाम (inter-dimension) “सर्वव्यापक शुद्ध चेतना” के आयाम को समझना जरूरी है जिसे इस श्लोक में **अन्तर्यामी कृष्ण** कहा गया है। सर्वव्यापक शुद्ध चेतना को एक आयाम के रूप में समझना वास्तव में आध्यात्मिक दर्शन और वैज्ञानिक दर्शन का संगम है। चेतना किसी वस्तु में घटित नहीं होती बल्कि स्वयं एक आयाम है जिसमें सब कुछ घटित हो रहा है। यह आयाम गैर-स्थानिक (non local) है अर्थात् चेतना किसी विशेष स्थान में उपस्थित नहीं है बल्कि एक ही चेतना सब जगह उपस्थित है।

मनुष्य की जो कि त्रिआयामी (3-Dimensional) स्वभाव का है, जिसके पास लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई है एवं जो आगे-पीछे, ऊपर-नीचे, दाएँ-बाएँ गति कर सकता है जो चतुर्थ आयाम (4th Dimensional) समय के साथ सम्पूर्णता से बंधा है जिसमें वह जन्म, विकास, मृत्यु को एक निश्चित कालक्रम में प्राप्त होता है और जो चौथा आयाम (समय) है वह सम्पूर्णता से 5 वाँ आयाम (5th Dimensional) सर्वव्यापक चेतना से बंधा हुआ है। जो जीव को जीवित होने, अनुभव करने, समझने, अस्तित्व को जानने में मदद करती है।

जहाँ तीसरे आयाम (3-D) में भौतिक शरीर समय-स्थान की सीमा में क्रियाकलाप करता है और चतुर्थ आयाम (4-D) में समय अनुसार जन्म-मृत्यु को प्राप्त होता है वही पाँचवें आयाम (5-D) में व्यक्ति शरीर, मन, समय की सीमाओं से ऊपर उठकर सभी में स्वयं की चेतना का विस्तार रूप देखता। यही चेतना का उच्च आयाम “शुद्ध चेतना” रूपी कृष्ण का आयाम है जो अलग आयाम में होने से “अंतर्धामी” की संज्ञा कृष्ण को दी गई है।

यही शुद्ध चेतना सभी वस्तु, जीवों को चेतना प्रदान किए हुए है, व्यवस्था प्रदान किए है और उनकी गतिशीलता, विकास को निर्धारित करता है साथ ही अनंत कण, पिंडों, प्राणियों को सही समय स्थान में सही बुद्धिमता, सही संयोजन, सही संतुलन के साथ संचालित कर रही है। यह वह आयाम है **जहाँ स्थान, समय का प्रभाव समाप्त हो जाता है यहाँ 'देखने**

वाला देखी जाने वाली वस्तु, देखने की प्रक्रिया' तीनों एक हो जाते हैं। यह सर्वव्यापक चेतना (शुद्ध चेतना) हर जगह हर समय उपस्थित है।

जब कृष्ण रूपी शुद्ध चेतना जिसने की भूत-वर्तमान -भविष्य के समय को अपने में अंतर्निहित कर रखी है और भविष्य के सभी परिणाम से अवगत है तो वह व्यक्ति रूपी अर्जुन के तात्कालिक और तुच्छ शोक को देख कर हँसती है। आगे शुद्ध चेतना (आत्मा) के ज्ञान को कृष्ण के माध्यम से विस्तृत वर्णन किया जाएगा।

कृष्ण उवाच:-

श्लोक 11:

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।

गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः।

अर्थ:- श्री कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि तुम उन लोगों के लिए शोक कर रहे हो जो शोक करने योग्य नहीं हैं, और ज्ञानी की तरह बातें भी कर रहे हो, लेकिन बुद्धिमान लोग न तो मरे हुए के लिए और न ही जीवित के लिए शोक करते हैं, क्योंकि आत्मा (शुद्ध चेतना) अमर है।

श्लोक 12:-

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।

न च एव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥

अर्थ :- "ऐसा कभी नहीं हुआ कि मैं नहीं था, या तुम नहीं थे, या ये सभी राजा नहीं थे; और न ही ऐसा है कि भविष्य में हम सब में से कोई भी अस्तित्वहीन हो जाएगा।"

सार(श्लोक 11-12):-उपरोक्त दो श्लोकों में श्रीकृष्ण अर्जुन रूपी व्यक्ति की व्यक्तिगत चेतना के सीमित दृष्टिकोण को शुद्ध करते हैं। अर्जुन का मन अपनी परिवर्तनशील वृत्तियों, इच्छाओं और उनसे उत्पन्न संबंधों के नष्ट होने की संभावना से शोकग्रस्त है। किंतु कृष्ण रूपी शुद्ध बुद्धि से प्रकाशित चेतना उसे समझाती है कि मन की परिवर्तनशील वृत्तियों

और इच्छाओं के लिए शोक करना उचित नहीं है, क्योंकि उनका स्वभाव ही उत्पन्न होना और समाप्त हो जाना है।

इसके विपरीत, शुद्ध चेतना अथवा आत्मा परिवर्तनशील नहीं है। मन की वृत्तियाँ, इच्छाएँ, भावनाएँ और उनसे निर्मित पहचान समाप्त हो सकती हैं, किंतु वह चेतना, जो इन सभी परिवर्तनों की साक्षी है, स्वयं इन परिवर्तनों के साथ समाप्त नहीं होती। इसलिए मन की किसी वृत्ति अथवा इच्छा के समाप्त होने पर शोक करने की आवश्यकता नहीं है।

जो व्यक्ति आत्मज्ञान को प्राप्त कर लेता है, वह कौरवों के प्रतीक अंधे मन से उत्पन्न आसक्ति, भय, इच्छा और मोह जैसी प्रवृत्तियों के नष्ट होने पर शोक नहीं करता। उसी प्रकार उनके बने रहने से भी उसकी शुद्ध चेतना प्रभावित नहीं होती, क्योंकि आत्मज्ञानी व्यक्ति स्वयं को मन की परिवर्तनशील अवस्थाओं से अलग, उनका साक्षी जानता है।

ऐसा कभी नहीं था कि मैं (शुद्ध बुद्धि युक्त चेतना) किसी काल में नहीं था और तुम (व्यक्ति की सीमित चेतना) भी किसी काल में नहीं थे और ऐसा भी नहीं है कि शरीर, मन के मरने पर भी ये चेतना नहीं रहेगी। शुद्ध चेतना समय(चतुर्थ आयाम) से परे उच्च आयाम है जिसकी उत्पत्ति -विनाश जैसे नियम नहीं लागू होते। सर्वव्यापक शुद्ध चेतना, समय-देश (Space-time) से परे एक उच्च आयाम है जिसमें निचले सभी आयाम अंतर्निहित हैं अर्थात् यह समय (चतुर्थ आयाम), त्रि-आयामी बहु ब्रह्मांड (3D-Multiverse), द्वितीय आयाम, प्रथम आयाम में सर्वत्र व्याप्त है तथा सभी आयामों की विशेषताएँ एवं गुणों का निर्धारण इसी चेतना द्वारा किया गया है। यही चेतना सभी व्यक्ति में चाहे वो राजा हो या रंक रहेगी चाहे शरीर-मन की मृत्यु ही क्यों न हो जाए।

इस प्रकार शुद्ध चेतना (आत्मा) की अमरता का प्रतिपादन करते हुए कृष्ण मन की वृत्ति, इच्छाओं, आसक्तियों के लिए व्यक्ति का शोक करना और चेतना उन्नति के लिए कर्म न करना अनुचित सिद्ध करते हैं। शोक परिवर्तनशील के नाश से उत्पन्न होता है, जबकि आत्मज्ञान उस शाश्वत चेतना की पहचान है जो सभी परिवर्तनों के पीछे सदैव साक्षी रूप में विद्यमान रहती है।

श्लोक 13:-

“देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥”

अर्थ:- जिस प्रकार आत्मा इस शरीर में बचपन, जवानी और बुढ़ापे से गुजरती है, वैसे ही वह दूसरे शरीर में जाती है; बुद्धिमान व्यक्ति इस परिवर्तन से मोहित नहीं होता, क्योंकि आत्मा शरीर की तरह बदलती नहीं, बल्कि शरीर बदलता है।

सार:- इस श्लोक में शुद्ध चेतना अर्थात् आत्मा के गुण को शरीर के विकासक्रम के माध्यम से समझाने का प्रयास किया गया है। जिस प्रकार त्रि-आयामी शरीर चतुर्थ आयाम अर्थात् समय के प्रभाव में जन्म, बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था से गुजरता हुआ मृत्यु को प्राप्त होता है, उसी प्रकार शरीर निरंतर परिवर्तनशील है। किंतु चेतना शरीर के प्रत्येक परिवर्तन के दौरान उसके साथ उपस्थित रहती है और मनुष्य को स्वयं तथा अपने आसपास की दुनिया के साथ अंतःक्रिया करके अनुभव, ज्ञान और समझ विकसित करने में सक्षम बनाती है।

शरीर और मन दोनों परिवर्तनशील हैं तथा मृत्यु के पश्चात् उनका वर्तमान स्वरूप समाप्त हो जाता है, किंतु शुद्ध चेतना अर्थात् आत्मा शरीर के परिवर्तन से प्रभावित नहीं होती। इसलिए ज्ञानी व्यक्ति शरीर के जन्म, विकास, वृद्धावस्था और मृत्यु को अंतिम सत्य नहीं मानता और इनके परिवर्तन से मोहित या अत्यधिक शोकग्रस्त नहीं होता। वह समझता है कि परिवर्तन शरीर और मन में होता है, शुद्ध चेतना में नहीं; शरीर बदलता है, किंतु आत्मा (शुद्ध चेतना) अपने मूल स्वरूप में स्थित रहती है।

श्लोक 14:-

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥

अर्थ:- हे कुन्तीपुत्र (अर्जुन)! इन्द्रियों और विषयों के संयोग से जो सदीं, गर्मी, सुख और दुख देने वाले हैं वे आते-जाते रहते हैं (उत्पत्ति-विनाशशील) और अनित्य (क्षणिक) है इसलिए हे भरतवंशी (भारत)! तुम उन्हें सहन करो (धैर्य रखो)

श्लोक 15:-

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते।

अर्थ:- हे पुरुषों में श्रेष्ठ अर्जुन! जिस धीर पुरुष को ये (सुख-दुःख आदि) विचलित नहीं करते, जो सुख और दुःख में समान रहता है, वह अमरत्व (मोक्ष) के योग्य हो जाता है।

सार:-(श्लोक 14-15) इन दो श्लोको में मन, इन्द्रियों के विषय में प्रकाश डाला है कि जब मन अहं की वजह से शरीर से जुड़ा होता है तो मन द्वारा शारीरिक ऊर्जा का प्रयोग इन्द्रियों के संवेदन को ग्रहण करने एवं शरीर के अन्य हिस्सों तक पहुँचाने में प्रयुक्त होता है लेकिन जैसे ही मन शांत हो जाता है तो ऊर्जा की अनियंत्रित वृत्ति भी शांत हो जाती है एवं व्यक्ति के ऊर्जा केन्द्र सक्रिय होकर ब्रह्मांडीय ऊर्जा से सहसंबंध स्थापित करने लगते हैं। ये इन्द्रियों के आवेग अनियंत्रित ऊर्जा रूप है जिससे सुख-दुःख, सर्दी-गर्मी जैसे अनुभव प्राप्त होते हैं जो समय के साथ परिवर्तनशील, विनाशशील, अनित्य है इसलिए साधक को इन्हें सहन करने की सलाह कृष्ण देते हैं और जिन व्यक्ति ने इन पर नियंत्रण पा लिया है और मन की वृत्ति (function) को शांत कर लिया है वो मोक्ष (व्यक्तिगत चेतना के शुद्ध चेतना में रूपांतरण) के योग्य है।

साधना के स्तर पर जब मन की चंचल वृत्तियाँ शांत होने लगती हैं, तब इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाले आवेगों के प्रति व्यक्ति की आसक्ति और प्रतिक्रिया कम होने लगती है। साधक सुख और दुःख, अनुकूलता और प्रतिकूलता को समान भाव से देखने का अभ्यास करता है। यही **समत्व** उसकी चेतना को बाहरी अनुभवों से ऊपर उठाकर उसके मूल स्वरूप की ओर ले जाता है। इस दृष्टि से इन्द्रियों और मन की वृत्तियाँ **परिवर्तनशील, क्षणिक और अनित्य** हैं, जबकि इनके अनुभवों को जानने वाली शुद्ध चेतना इनके परिवर्तन की साक्षी बनी रहती है। जो साधक इन द्वंद्वों से विचलित हुए बिना समभाव में स्थित रहता है, वह चेतना के गहरे स्तर का अनुभव करने और अंततः **अमृतत्व या मोक्ष** की ओर अग्रसर होने योग्य बनता है।

नोट:-अब आगे के श्लोक आत्मा (शुद्ध चेतना) की अपरिवर्तनशीलता, सत्य रूप, नित्य के स्वरूप का वर्णन करेंगे और ये मन, इन्द्रियों की वृत्ति परिवर्तनशील, असत्य, और अनित्य के स्वरूप का वर्णन करेंगे।

श्लोक 16:-

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥”

अर्थ:-असत् (नाशवान) वस्तु की कभी सत्ता (अस्तित्व) नहीं होती, और सत् (शाश्वत, अविनाशी) का कभी अभाव (नाश) नहीं होता। इन दोनों (सत् और असत्) का यह यथार्थ स्वरूप तत्त्वज्ञानी (ज्ञानी) पुरुषों द्वारा देखा गया है।

सार:- इस श्लोक में नाशवान भौतिक जगत, भौतिक शरीर, मन को इंगित किया गया है और अविनाशी, शाश्वत रूप में शुद्ध चेतना (आत्मा) को इंगित किया गया है। मनुष्य भौतिक ब्रह्मांड को जागृत अवस्था में अनुभव करता है और स्वयं को भी भौतिक शरीर के रूप में महसूस करता है और भौतिक ब्रह्मांड के साथ भौतिक शरीर के साथ अंतः क्रिया करता है एवं बाहरी दुनिया को अनुभव करता है। लेकिन इस अवस्था में व्यक्ति इस त्रि-आयामी जगत को सूक्ष्म तत्व (इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अहं, चित्त) के माध्यम से अनुभव करने में सक्षम होता है। ये सूक्ष्म तत्व व्यक्ति को जागृत अवस्था में ही नहीं बल्कि स्वप्न अवस्था में भी सक्रिय रहते हैं एवं सोते समय व्यक्ति इनकी मदद से सूक्ष्म ब्रह्मांड की सतह पर स्वप्न देखता है एवं इन्हीं की मदद से विभिन्न कल्पनाओं, दृश्यों का निर्माण करता है। जहाँ वह सूक्ष्म तत्वों की सहायता से कल्पनाओं एवं दृश्यों का निर्माण कर अलग दुनिया को बनाता है और वही वह स्वयं को उस सूक्ष्म ब्रह्मांड के साथ स्वयं को एकबद्ध कर स्वप्न को सत्य मान लेता है।

जबकि इन इन्द्रियों द्वारा महसूस किया जा रहा या देखा जा रहा न तो भौतिक ब्रह्मांड सत्य है न कि सूक्ष्म ब्रह्मांड सत्य है क्योंकि 'दोनों ब्रह्मांड (स्थूल एवं सूक्ष्म)' एवं 'दोनों शरीर (स्थूल एवं सूक्ष्म)' का अस्तित्व क्षणिक है एवं अनित्य है जैसे स्वप्न कुछ समय में टूट जाता है और स्वप्न की दुनिया (सूक्ष्म ब्रह्मांड) भ्रम लगता है या झूठा प्रतीत होता है उसी प्रकार मृत्यु पश्चात भी भौतिक ब्रह्मांड एवं भौतिक शरीर भ्रम लगता है। बस दोनों ब्रह्मांड एवं दोनों शरीर के अस्तित्व में समय का अंतर ही है। स्वप्न में शरीर कुछ समय या घंटे रह पाता है वैसे ही जाग्रत अवस्था में शरीर कुछ सालों के लिए रहता है और ब्रह्मांड के स्तर पर यह समय अवधि बहुत ही क्षणिक है जैसे वैज्ञानिकों द्वारा हमारे ब्रह्मांड की उम्र अभी तक लगभग 13.8 अरब वर्ष अनुमानित गई है और मनुष्य की जीवन की औसत आयु 100

वर्ष ही है तो यह अंतर स्पष्ट करता है कि मनुष्य का भौतिक शरीर, भौतिक ब्रह्मांड के सापेक्ष कितना कम समय के लिये एक भौतिक शरीर में रहकर स्वप्न की भाँति क्रियाकलाप करता है। जिस प्रकार हमारे जीवन की अपेक्षा स्वप्न क्षणिक होते हैं उसी प्रकार ब्रह्मांड की अपेक्षा हमारा जीवन भी स्वप्न की भाँति क्षणिक ही है। ऐसा अनुभव तत्त्व ज्ञान को प्राप्त तत्त्व ज्ञानी व्यक्ति चेतना के सत्य और असत्य रूपों को देख, अनुभव कर सकता है।

सर्वव्यापक (शुद्ध) चेतना को जानने एवं समझने के लिए स्थूल ब्रह्मांड को आँखों से देखने की क्षमता विकसित करने की जरूरत नहीं है न ही इन्द्रियों को विस्तारित करने की जरूरत है, इसके लिए अपने मन को इतनी गहराई में उतारने की है जिसमें मन किसी भी शरीर के स्तर (स्थूल, सूक्ष्म, कारण) के साथ अहं भाव न रखे एवं मन का कोई ढंग न रहे न बुद्धि, न चित्त, न अहं रहे तब जो मन के परे प्राप्त होगा वह सर्वव्यापक चेतना ही प्राप्त होगी। यह सर्वव्यापक चेतना मन के परे, समय के परे स्थित है इस स्थिति में समस्त ब्रह्मांड (स्थूल, सूक्ष्म, कारण) में जो भी गति, परिवर्तनशीलता हो रही है वह स्वयं आप बनते जाएंगे और आप में वो सभी प्रज्ञा (intelligence) समाहित हो जाएगी जो सर्वव्यापक चेतना द्वारा उत्पन्न है। इस स्थिति को ही 'ब्रह्म ज्ञान' कहा गया है, इस ज्ञान के पश्चात न ही कुछ जानने योग्य बचता है न ही कुछ छुपता है।

श्लोक 17:-

अविनाशी तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कर्तुमर्हति ॥

अर्थ:- तू उसको अविनाशी जान, जिससे यह सारा जगत व्याप्त है। इस अविनाशी का नाश करने में कोई भी समर्थ नहीं है।

श्लोक 18:-

अन्तवन्तः शरीराणि नित्यस्य उक्ताः शरीरिणः।

अनाशिनः अप्रमेयस्य तस्मात् युध्यस्व भारता।

अर्थ :- शरीर नाशवान है, लेकिन उसमें रहने वाली आत्मा (शुद्ध चेतना) अविनाशी, अप्रमेय (अपरिमेय) और नित्य है, इसलिए हे भरतवंशी (अर्जुन), शोक मत करो और युद्ध करो

सार(श्लोक 17-18):-इन श्लोकों में श्रीकृष्ण अर्जुन रूपी साधक को नाशवान शरीर और अविनाशी आत्मा अर्थात् शुद्ध चेतना के बीच स्पष्ट भेद समझाते हैं। जो तत्त्व सम्पूर्ण जगत में व्याप्त है, वह अविनाशी है; उसका नाश किसी भौतिक शक्ति द्वारा नहीं किया जा सकता। शरीर परिवर्तनशील और नाशवान है, जबकि उसमें स्थित चेतना नित्य, अविनाशी और अप्रमेय है।

चेतना की दार्शनिक दृष्टि से यही शुद्ध चेतना प्रत्येक प्राणी के अस्तित्व का मूल आधार है। वह शरीर, मन और इन्द्रियों की विभिन्न अवस्थाओं तथा उनके अनुभवों की साक्षी है। सूक्ष्म स्तर पर इसे समस्त अस्तित्व में व्याप्त मूल चेतन तत्त्व के रूप में देखा जाता है, जिसके आधार पर जीव-जगत अपने अस्तित्व और विकास की प्रक्रिया को अनुभव करता है।

शरीर समय के आयाम में जन्म, विकास, परिवर्तन और मृत्यु से गुजरता है; मन और इन्द्रियों की वृत्तियाँ भी निरंतर बदलती रहती हैं। लेकिन शुद्ध चेतना को इस दृष्टि से कालातीत और अपरिवर्तनशील माना गया है। इसलिए साधक को शरीर, मन और इन्द्रिय-वृत्तियों के परिवर्तन से भयभीत या आसक्त नहीं होना चाहिए।

यहाँ “युद्ध” केवल बाहरी युद्ध का प्रतीक नहीं, बल्कि साधना के स्तर पर अपने भीतर के अज्ञान, अहंकार, आसक्ति, भय, मोह और चंचल मानसिक वृत्तियों के विरुद्ध किया जाने वाला आंतरिक संघर्ष भी माना जा सकता है। साधक का लक्ष्य नाशवान शरीर या मन को नष्ट करना नहीं, बल्कि उनके साथ अपनी गलत पहचान को समाप्त करके अपने वास्तविक चेतन स्वरूप को पहचानना है।

यहाँ स्वयं के अविनाशी चेतना को जानने पर बल दिया जा रहा है जो शुद्ध चेतना ने समस्त जगत में व्याप्त है। यह शुद्ध चेतना हर प्राणी, अणु, ग्रहों, तारों, आकाश गंगाओं और ब्रह्मांडों

के विकास एवं अस्तित्व में योगदान देती है। यह भौतिक ब्रह्मांड, सूक्ष्म ब्रह्मांड और कारण ब्रह्मांड के अस्तित्व का आधार है। यह शुद्ध चेतना समय के आयाम के परे होने के कारण न ही जन्म लेती है न विनाश होता है। इसलिए शुद्ध चेतना को प्राप्त करने के लिए नाशवान शरीर, मन, इन्द्रिय वृत्ति को खोने से मत डर और मानसिक -आध्यात्मिक कर्म (युद्ध) कर। अब आगे के श्लोक आत्मा (शुद्ध चेतना) की विशेषताओं एवं गुणों का वर्णन करेंगे।

श्लोक 19:-

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥

अर्थ :-जो आत्मा को मारने वाला समझता है और जो इसे मरा हुआ मानता है, वे दोनों ही नहीं जानते; क्योंकि यह (आत्मा) वास्तव में न तो किसी को मारता है और न किसी के द्वारा मारा जाता है।

श्लोक 20:-

न जायते म्रियते वा कदाचिन्
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

अर्थ :-आत्मा किसी भी काल में न तो जन्म लेती है, न मरती है, और न ही यह उत्पन्न होकर फिर से होने वाली है; क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन (प्राचीन) है, शरीर के मारे जाने पर भी यह नहीं मारी जाती!

श्लोक 21:-

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्॥

अर्थ :-हे पृथापुत्र अर्जुन! जो पुरुष आत्मा को अविनाशी, नित्य, अजन्मा और अव्यय (अविनाशी) जानता है, वह किसको मरवाता है और कैसे किसको मारता है?

सार (श्लोक 19-21) :- इन श्लोकों में शुद्ध चेतना (आत्मा) की विशेषताओं और गुणों को बताया गया है कि जो व्यक्ति शुद्ध चेतना (आत्मा) को मरने और मारने वाला जानता है वो वास्तव में आत्मा (शुद्ध चेतना) के वास्तविक गुण को नहीं जानता। सर्वप्रथम यह समझना होगा कि 'मृत्यु' क्या है। सामान्य जनभाषा में मृत्यु भौतिक हाड़-माँस के शरीर से प्राणों (Life force) का मुक्त होना है एवं भौतिक अंगों (मस्तिष्क, हृदय, इन्द्रियाँ, पाचन अंगों इत्यादि) का कार्य करना बंद होना है। भौतिक मृत्यु में सिर्फ भौतिक शरीर से प्राण एवं चेतना मुक्त होती है लेकिन व्यक्ति का शरीर सिर्फ भौतिक ही नहीं होता, वह सूक्ष्म एवं कारण शरीर के रूप में भी होता है। व्यक्ति की मृत्यु पूर्णतः तब तक नहीं होती जब तक उसके सूक्ष्म शरीर एवं कारण शरीर अस्तित्व में रहते हैं। जब व्यक्ति के सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर की भी मृत्यु हो जाती है तब व्यक्ति 'मृत' होने की बजाय 'मुक्त' होता है और वह सर्वव्यापक चेतना या ब्रह्म में विलीन होकर 'मोक्ष' प्राप्त करता है लेकिन पूर्ण मुक्त होना इतना आसान नहीं है क्योंकि भौतिक शरीर की मृत्यु के पश्चात चेतना सूक्ष्म शरीर एवं कारण शरीर के रूप में विद्यमान रहती है। चेतना के स्तर पर देखें तो **जन्म और मृत्यु शरीर की घटनाएँ हैं, चेतना की नहीं।** शरीर और मन के माध्यम से चेतना स्वयं को एक व्यक्तिगत अस्तित्व के रूप में अनुभव करती है। शरीर की अवस्था बदलती रहती है—बाल्यावस्था, युवावस्था, वृद्धावस्था और मृत्यु—लेकिन इन सभी अवस्थाओं को जानने वाला चेतन तत्व अपने मूल स्वरूप में अपरिवर्तनशील माना जाता है।

शुद्ध चेतना (आत्मा) इन तीनों शरीर के परे भी विद्यमान होती है। यह साक्षी भाव में प्रवेक्षण (observer) का कार्य करती है जो शरीर, मन के कार्यों से अप्रभावित रहती है और शरीर, मन के परे उच्च आयाम (Higher dimension) में स्थित है। यह शुद्ध चेतना समय रूपी चतुर्थ आयाम के परे होने से न ही किसी काल में जन्म लेती है न ही मृत्यु को प्राप्त होती है और न ही बार-बार जन्म लेती है। यह अजन्मा, नित्य, सनातन, पुरातन है जो शरीर के मारे जाने पर भी नहीं मरती। अंतः जो अजन्मा, नित्य, सनातन, पुरातन है वो कैसे किसे मारेगा या मरवाएगा। एक ही शुद्ध चेतना सभी व्यक्तियों, सभी प्राणियों में विद्यमान है। व्यक्ति का अहं, बुद्धि, मन ही है जो स्वयं को सभी से अलग करके देखता, महसूस करता है जबकि शुद्ध चेतना को जानने वाला व्यक्ति यह जानता है की मेरी चेतना ही सभी में व्याप्त है फिर यह कैसे विभक्त होकर एक दूसरे को मारेगी या मरवाएगी।

यहाँ “कौन मारता है और किसे मारता है?” का आशय शुद्ध चेतना (आत्मा) और शरीर के बीच के भेद को समझाना है। ये श्लोक साधक को बताता है कि शरीर परिवर्तनशील है, जबकि आत्मा का स्वरूप नित्य है। इसलिए ज्ञानी व्यक्ति शरीर के परिवर्तन को अंतिम सत्य न मानकर उस अविनाशी चेतना को पहचानने का प्रयास करता है।

श्लोक 22:-

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

अर्थ (हिन्दी):- जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को छोड़कर दूसरे नए वस्त्रों को ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा (आत्मा) पुराने शरीरों को त्यागकर दूसरे नए शरीरों को प्राप्त होती है।

सार:- इस श्लोक में यह समझना जरूरी है कि शरीर त्रि-आयामी स्वभाव का है जो समय के चतुर्थ आयाम में अंतर्निहित है जिससे शरीर जन्म-विकास-मृत्यु को प्राप्त होता है। इस भौतिक जगत में कोई भी वस्तु या जीव है वह समय के कारण उत्पन्न हुई है और विनाश को भी प्राप्त होगी। लेकिन शुद्ध चेतना (आत्मा) समय के परे विद्यमान है जिस पर समय का प्रभाव नहीं पड़ता और न ही जन्म और मृत्यु जैसे नियम इस पर लागू होते हैं।

चेतना व्यक्ति के साथ जन्म और मृत्यु के बीच भी उपस्थित होती है और इनके परे की अवस्था में भी विद्यमान होती है बस शरीर के रूप, संरचना में परिवर्तन होता है। चेतना के रूप में मन, ऊर्जा (प्राण ऊर्जा), समय के तत्व व्यक्तिगत चेतना में अभौतिक रूप से विद्यमान रहते हैं चाहे भौतिक शरीर अस्तित्व में हो या न हो। और जैसे मनुष्य पुराने वस्त्र त्याग कर नया वस्त्र धारण करता है उसी प्रकार चेतना भी शरीर को बदल कर नए शरीर में उसी रूप में धारण होती है।

लेकिन मृत्यु पश्चात् व्यक्ति का सूक्ष्म शरीर जिसके अंतर्गत मन, बुद्धि, अहं, चित, सूक्ष्म इन्द्रियाँ, शारीरिक ऊर्जा की अपेक्षा सर्वव्यापक चेतना की ऊर्जा को ग्रहण कर जीवित रहता है और मन इच्छाओं, आसक्ति सहित सूक्ष्म शरीर को कर्म करवाता है और पुनर्जन्म के लिए प्रेरित करता है तथा सूक्ष्म शरीर, भौतिक ब्रह्मांड या अन्य सूक्ष्म ब्रह्मांड के समय-स्थान में गतिशील रहता है। व्यक्ति की ऊर्जा स्तर, मन स्तर या चेतना का स्तर निर्धारण करेगा कि

व्यक्ति मृत्यु पश्चात् किस युग में पुनर्जन्म लेगा या उसका सूक्ष्म शरीर या कारण शरीर की स्थिति का समय - स्थान क्या होगा।

श्लोक 23:-

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥"

अर्थ :- "इस आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकते, आग जला नहीं सकती, जल भिगो नहीं सकता और वायु सुखा नहीं सकती!

सार:-यहाँ शुद्ध चेतना को भौतिक वस्तु (पृथ्वी), जल, आग, वायु तत्व से अलग आयाम में होने की बात को दर्शाया गया है और इन तत्वों से इसके अप्रभावित रहने के गुण को दर्शाया गया है। इस शुद्ध चेतना को न ही शस्त्र काट सकते हैं, न ही आग जला सकती है न ही जल गला सकती और न ही वायु सूखा सकती है। इस श्लोक में श्रीकृष्ण शुद्ध चेतना के ऐसे स्वरूप का वर्णन करते हैं जो भौतिक तत्वों और उनके परिवर्तन के नियमों से अप्रभावित है। शस्त्र उसे काट नहीं सकते, अग्नि उसे जला नहीं सकती, जल उसे भिगो नहीं सकता और वायु उसे सुखा नहीं सकती। इसका तात्पर्य यह है कि आत्मा अर्थात् **शुद्ध चेतना को भौतिक पदार्थ की तरह नष्ट या परिवर्तित नहीं किया जा सकता।**

पंचमहाभूत—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—भौतिक जगत के विभिन्न स्तरों और गुणों का प्रतिनिधित्व करते हैं, जबकि चेतना को इन भौतिक तत्वों से भिन्न और इनके अनुभव की आधारभूत सत्ता के रूप में देखा गया है। शरीर इन्हीं भौतिक तत्वों से निर्मित है और इसलिए इनसे प्रभावित होता है; लेकिन आत्मा को इनसे परे, अविनाशी और अप्रभावित माना गया है।

चेतना स्वयं किसी भौतिक तत्व के समान वस्तु नहीं है, बल्कि वह वह मूल सत्ता है जिसके माध्यम से भौतिक जगत का अनुभव और अस्तित्व समझा जाता है। इसलिए चेतना को पृथ्वी, जल, अग्नि या वायु की तरह किसी पदार्थ के रूप में देखना उचित नहीं है।

शुद्ध चेतना समस्त भौतिक जगत, पंचमहाभूत (पृथ्वी, जल, आग, वायु, आकाश) को ऊर्जा प्रदान का स्रोत तो है लेकिन ये स्वयं कोई तत्व नहीं है। ये तत्व चेतना से ही निर्मित हुए हैं लेकिन स्वयं में चेतना ये तत्व नहीं है। चेतना द्वारा कंपन की दर में परिवर्तन करना ऊर्जा

और पदार्थ को एक-दूसरे में (आकाश-वायु-जल-अग्नि-पृथ्वी) परिवर्तित करते हैं जब कंपन धीमा होता है तो ऊर्जा घनीभूत होकर पदार्थ बनता है और जब कंपन तेज होता तो पदार्थ सूक्ष्म बनकर ऊर्जा में बदल जाती है लेकिन सर्वव्यापक चेतना के बिना यह संभव नहीं है।

श्लोक 24:-

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥

अर्थ :- यह आत्मा अच्छेद्य (काटा नहीं जा सकता), अदाह्य (जलाया नहीं जा सकता), अक्लेद्य (गीला नहीं किया जा सकता) और अशोष्य (सुखाया नहीं जा सकता) है; यह नित्य (हमेशा रहने वाला), सर्वगत (सर्वव्यापी), स्थाणु (स्थिर), अचल (अपरिवर्तनीय) और सनातन (शाश्वत) है!

सार:- यह आत्मा आपकी ही शुद्ध चेतना है। सभी ब्रह्मांड, प्राणी, समय, स्थान इसी चेतना में प्रकट होते हैं। सम्पूर्ण ब्रह्मांड में जो भी जीवजंतु, पेड़-पौधे, पंचतत्त्व उपस्थित हैं, उनमें घटित होने वाली पंचतन्मात्राएँ (शब्द, स्पर्श, रूप (दृश्य), रस (स्वाद), गंध) क्रियाएँ, मन की क्रियाएँ ये सभी इसी शुद्ध चेतना का हिस्सा हैं। इस शुद्ध चेतना को विभक्त (काटा) नहीं जा सकता, न ही किसी प्रकार से प्रभावित किया जा सकता (जला कर, गीला कर या सूखा कर) जिस कारण यह शुद्ध चेतना अपरिवर्तनीय है।

शुद्ध चेतना नित्य, सर्वगत, स्थाणु, अचल और सनातन है। समस्त ब्रह्मांड, जीव-जगत, मन, इन्द्रियाँ, पंचमहाभूत तथा उनसे संबंधित अनुभव इसी चेतना में प्रकट होते हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध जैसे पंचतन्मात्राओं के अनुभव, इन्द्रियों की गतिविधियाँ तथा मन की विभिन्न वृत्तियाँ चेतना के माध्यम से ही जानी जाती हैं। इसलिए चेतना स्वयं इन अनुभवों की वस्तु नहीं, बल्कि इन सभी अनुभवों को प्रकाशित करने वाली साक्षी सत्ता है।

सर्वव्यापक चेतना किसी एक शरीर या स्थान तक सीमित नहीं है। वह व्यक्ति के भीतर अनुभव के रूप में तथा समस्त अस्तित्व के आधार के रूप में व्याप्त मानी जाती है। इसे त्रि-आयामी भौतिक जगत और चतुर्थ आयाम के रूप में समझे जाने वाले समय से भी परे माना गया है। इसलिए चेतना को समय के प्रवाह में उत्पन्न होकर नष्ट होने वाली वस्तु नहीं माना जाता।

स्थानु और अचल का संकेत उसके मूल स्वरूप की अपरिवर्तनशीलता की ओर है। शरीर बदलता है, मन की वृत्तियाँ बदलती हैं, इन्द्रियों के अनुभव बदलते हैं और परिस्थितियाँ बदलती हैं, लेकिन इन परिवर्तनों को जानने वाली चेतना अपने मूल स्वरूप में परिवर्तनरहित मानी जाती है।

जैसे आँख अनेक वस्तुओं को देखती है, लेकिन सामान्यतः स्वयं को सीधे देखने के लिए दर्पण जैसे माध्यम की आवश्यकता होती है। उसी प्रकार चेतना सभी अनुभवों को जानने का आधार है, लेकिन स्वयं किसी अनुभव की भौतिक वस्तु नहीं है। वह देखने, सुनने, सोचने और अनुभव करने की प्रक्रियाओं के पीछे स्थित साक्षी भाव है।

श्लोक 25:-

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥

अर्थ:-आत्मा अव्यक्त (दिखाई न देने वाली), अचिन्त्य (जिसकी कल्पना न की जा सके) और अविकार्य (जिसमें कोई परिवर्तन न हो) है, इसलिए इसे इस प्रकार जानकर तुम्हें शोक करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि आत्मा अमर और अविनाशी है, केवल शरीर नश्वर है।

सार:-जो शुद्ध और सर्वव्यापक चेतना सभी गतिविधियों का स्रोत है यह वह आयाम है जहाँ स्थान, समय का प्रभाव समाप्त हो जाता है यहाँ 'देखने वाला देखी जाने वाली वस्तु, देखने की प्रक्रिया' तीनों एक हो जाते हैं। यह सार्व भौमिक चेतना हर जगह हर समय उपस्थित है। जब तक व्यक्ति स्वयं की व्यक्तिगत चेतना को सर्वव्यापक चेतना में रूपांतरित न कर ले तब तक इसकी कल्पना करना या परिभाषित करना पूर्ण रूप से संभव नहीं है। जब तक व्यक्ति स्वयं के अहं, मन, बुद्धि, चित्त के परे नहीं पहुँचेगा और समय-स्थान की सीमाओं में बंधा रहेगा तब तक वह स्वयं की चेतना को अहंबद्ध होकर कितना भी विस्तारित कर ले चेतना के वास्तविक पाँचवें आयाम को नहीं समझ एवं जान पाएगा। जैसे घड़ा मिट्टी से तब तक अलग है जब तक वह घड़ा है। जब मनुष्य अपने अहं (Ego) से ऊपर उठकर इस सर्वव्यापक चेतना से एकाकार होता है तब व्यक्ति को अनुभव होता है कि

'मैं नहीं, सब मैं ही हूँ' यानि व्यक्तिगत चेतना और सर्वव्यापक चेतना एक ही है। उपनिषदों और वेदांत दर्शन में व्यक्तिगत चेतना और सर्वव्यापक चेतना की एकता का प्रतिपादन करता है जिसमें "तत् त्वम् असि" वाक्य एक ही आत्मा/ सर्वव्यापक चेतना की घोषणा करता है। व्यक्तिगत चेतना एवं सर्वव्यापक चेतना एक ही है और आपस में अंतर संबंधित है जैसे समुद्र और लहर, घड़ा और मिट्टी।

इस वाक्य का प्रयोग सर्वव्यापक चेतना को पंचतत्त्वों (भौतिक जगत) से पार ले जाकर पाँचवें आयाम चेतना की ओर इशारा करता है कि सर्वव्यापक चेतना न ही शरीर है, न ही मन, न ही बुद्धि, न ही इन्द्रियाँ वह कोई न रूप है न ही नाम है। इस शुद्ध चेतना को विभक्त नहीं जा सकता, न ही किसी प्रकार से प्रभावित किया जा सकता जिस कारण यह शुद्ध चेतना "अपरिवर्तनीय" है। इस प्रकार आत्मा (शुद्ध चेतना) को जानकर, आत्मसात कर शरीर और मन के विषयों के लिए शोक करना उचित नहीं है और चेतना को उन्नत करने का प्रयास ही वास्तविक धर्म है।

श्लोक 26:-

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि ॥

अर्थ :- और यदि तुम आत्मा को सदा जन्मने वाला और सदा मरने वाला मानते हो, तो भी हे महाबाहु! तुम इस विषय में शोक करने के योग्य नहीं हो।"

श्लोक 27:-

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥

अर्थ :- जिसका जन्म हुआ है, उसकी मृत्यु निश्चित है; और जिसका निधन हो चुका है, उसका जन्म भी निश्चित है। इसलिए इस अनिवार्य कार्य (जन्म-मृत्यु) के लिए तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए।"

सार:- इन श्लोकों में श्रीकृष्ण अर्जुन रूपी साधक को एक वैकल्पिक दृष्टिकोण से भी जन्म और मृत्यु के सत्य को समझाते हैं। यदि कोई व्यक्ति आत्मा को नित्य और अविनाशी चेतना

के रूप में स्वीकार न करके उसे **जन्म लेने और मृत्यु को प्राप्त होने वाली सत्ता** भी माने, तब भी शोक का कोई स्थायी आधार नहीं बनता। क्योंकि जो जन्म लेता है, उसका शरीर समय के साथ परिवर्तन और मृत्यु को प्राप्त होता है; और जो मृत्यु को प्राप्त होता है, प्रकृति के क्रम में पुनः जन्म का कारण बनता है।

यहाँ **जन्म और मृत्यु को समय के चक्र** के रूप में देखा जा सकता है। त्रि-आयामी शरीर चतुर्थ आयाम अर्थात् समय के प्रभाव में निरंतर परिवर्तन करता है—जन्म, विकास, वृद्धावस्था और मृत्यु इसी परिवर्तनशील प्रक्रिया के चरण हैं। इसलिए मृत्यु को अस्तित्व का पूर्ण अंत मानना भी उचित नहीं है; वह एक अवस्था का अंत और दूसरी अवस्था की संभावित शुरुआत है।

शरीर परिवर्तनशील है और उसकी अवस्थाएँ समय के साथ बदलती रहती हैं। मन भी अनुभव, स्मृति, विचार और संस्कारों के कारण निरंतर परिवर्तनशील रहता है। इसलिए साधक को जन्म और मृत्यु के बीच होने वाले इन परिवर्तनों को व्यापक अस्तित्व-क्रम का हिस्सा समझना चाहिए, न कि केवल व्यक्तिगत हानि के रूप में।

श्रीकृष्ण का उद्देश्य अर्जुन रूपी साधक के शोक को यह समझाकर दूर करना है कि **जिस घटना को रोका नहीं जा सकता, उसके प्रति अत्यधिक शोक मन को और अधिक अशांत करता है।** विवेकशील व्यक्ति अनिवार्य परिवर्तन को स्वीकार करके अपने कर्तव्य और वर्तमान कर्म पर ध्यान केंद्रित करता है। व्यक्ति का मन, इन्द्रियाँ चेतना द्वारा ही कार्य करने में समर्थ हो पाते हैं, मन और इन्द्रियों को ऊर्जा प्रदान करने का स्रोत यही चेतना ही है। जब एक दिन मृत्यु के साथ मन, इन्द्रियाँ समाप्त हो जाएगी तो मन से उत्पन्न इच्छाओं, आसक्तियों, संस्कारों, अहं को मारने में शोक किस बात का करना है।

श्लोक 28:-

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।

अव्यक्तनिधनानि एव तत्र का परिदेवना॥

अर्थ :-हे भरतवंशी अर्जुन! समस्त जीव जन्म से पहले अप्रकट होते हैं, जन्म लेने पर प्रकट होते हैं, और मृत्यु होने पर फिर से अप्रकट हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में शोक करने का क्या कारण है!

सार:- समस्त जीव जन्म लेते हैं (प्रकट) होते हैं, और मृत्यु के साथ ही अप्रकट हो जाते हैं। इस शरीर का संबंध त्रि-आयामी जगत् से होता है जो चतुर्थ आयाम समय के साथ संचालित होता है जिस कारण मनुष्य का शरीर जन्म-विकास-मृत्यु को प्राप्त होता है। लेकिन चेतना पाँचवें आयाम से संबंधित है जो समय को भी उत्पन्न करती है। इसलिए इस शरीर के लिए भी शोक करना व्यर्थ है क्योंकि समय के साथ शरीर, मन और इससे जुड़ी इन्द्रियों का प्रभाव समाप्त हो जाएगा। जो बचा रह जाएगा वह पाँचवें आयाम की चेतना है इसलिए इस शरीर के लिए शोक करना उचित नहीं है। चेतना ने ऊर्जा से समय-स्थान (time-space) को बनाया और इसी समय-स्थान में बहु-ब्रह्मांड (multiverse) को बनाया। चतुर्थ आयाम समय (4-D Time) समस्त त्रि-आयामी जगत् की गतिशीलता एवं परिवर्तनशीलता से संबंधित है यह समय एक रेखीए प्रवाह है जिसमें अतीत-वर्तमान-भविष्य को एक दिशा में बहता हुआ अनुभव करते हैं। इसी समय अनुरूप व्यक्ति का भौतिक शरीर, मन, इन्द्रियाँ प्रकट और अप्रकट होता है जिस समय को हम अनुभव करते हैं वह स्थान (Space) से जुड़ा होता है जिससे ब्रह्मांड के प्रत्येक स्थान में समय की गति अलग-अलग होती है और गुरुत्वाकर्षण के अनुसार परिवर्तनशील होती है लेकिन सर्वव्यापक चेतना में 'वर्तमान -भूत- भविष्य' में तीनों एक साथ एक ही समय में घटित होते हैं।

हालांकि यह मनुष्य सोच है कि इन चार युगों में अभी कलियुग चल रहा है जबकि चेतना में चारों युग (समय) एक साथ उपस्थित हैं। यह तो व्यक्तिगत चेतना ही है जो व्यक्ति को उसके मृत्यु पश्चात् अगले जन्म में उसकी चेतना के अनुरूप व्यक्ति को सतयुग, त्रेता, द्वापर या कलियुग में पहुंचाती है। यह एक सर्वमान्य सिद्धांत है कि समय (time) ने ही स्थान (space) का सृजन किया है अतः व्यक्ति किस समय - स्थान (time-space) में होगा यह उसकी चेतना द्वारा ही निर्धारण किया जाएगा। अगर व्यक्ति की चेतना उन्नत है तो संभव है कि वह अगले जन्म में सतयुग में हो और चेतना निम्न है तो संभव है कि वह कलियुग में भटकता रहे। अगर व्यक्ति निरंतर अपनी चेतना को उन्नत कर इस चतुर्थ आयाम समय को भी लांघ जाए जिसे **समाधि (समय से आदि)** कहते हैं तो वह अव्यक्त, सर्वव्यापक चेतना में स्थित होकर सभी युगों, सभी ब्रह्मांडीय कणों, मनुष्य, जीवजंतु में व्याप्त हो जाएगा जिसे गीता, वेदान्त में 'परमधाम' कहा गया है। इसलिए इस इस परिवर्तनशील शरीर, मन के विषय में शोक करने की अपेक्षा चेतना को उन्नत करने का युद्ध का निर्णय उचित है।

श्लोक 29:-

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्ब्रूति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥

अर्थ :-कोई एक (आत्मा) को आश्चर्य की भाँति देखता है, कोई दूसरा (महापुरुष) इसका आश्चर्य की भाँति वर्णन करता है, और कोई दूसरा अधिकारी पुरुष इसे आश्चर्य की भाँति सुनता है; और कोई-कोई तो सुनकर भी इसे नहीं जानता !

सार:- इसमें आत्मा (शुद्ध चेतना) को विभिन्न योग विधियों का प्रयोग कर देखा, जाना (वर्णन), सुना जा सकता। यह शुद्ध चेतना के ध्यान विधि में प्रकाश रूप, ज्ञान रूप, नाद (sound) रूप की ओर इशारा किया जा रहा है।

जब उन्नत साधक (महापुरुष) ध्यान में उन्नति प्राप्त करता है तो तो शुद्ध चेतना को आज्ञा चक्र में प्रकाश रूप में देखने में सक्षम होता है, यह चेतना युक्त ऊर्जा (Conscious Energy) और सूचना क्षेत्र (Information Field) या शुद्ध बुद्धि (Pure Intelligence) भी है। यह पाँचवाँ आयाम है जहाँ शुद्ध ज्ञान, शुद्ध चेतना का प्रवाह है। ब्रह्मा सूत्र में इसलिए ब्रह्मा/ सर्वव्यापक चेतना को प्रकाश स्वरूप ब्रह्मा कहा गया है। ध्यान में यह प्रकाश आज्ञा चक्र में प्रकाशित होता है जो बाहरी प्रकाश न होकर आंतरिक प्रकाश है। सभी ग्रह, तारे, प्राणी प्रत्येक कण सभी इसी प्रकाशमान चेतना की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। वेदों में कहा गया है "सर्वं खल्विदं ब्रह्मा" - यह संपूर्ण जगत ब्रह्म (चेतन प्रकाश) है यह चेतन प्रकाश या पाँचवाँ आयाम का प्रकाश सर्वव्यापक चेतना से जुड़ने का माध्यम है जहाँ व्यक्ति शरीर, मन से परे स्वयं को और चेतन प्रकाश को एक देखता है।

वैसे ही दूसरे उन्नत साधक शुद्ध चेतना की चेतना क्षेत्र (conscious filed) से ज्ञान प्राप्त कर इसके तत्व की विवेचना करने में सक्षम हो पाता है। जिस तत्व ज्ञान और आत्मज्ञान का वर्णन पूर्व में वर्णन किया गया है। यह वह ज्ञान है जो अपने असली स्वरूप और आत्मा के ज्ञान पर केन्द्रित है। यह ज्ञान हमें बताता है कि हम शरीर नहीं हैं, मन भी नहीं हैं, हमारा वास्तविक स्वरूप शुद्ध चेतना है। व्यक्ति का शरीर पाँच कोश से ढका हुआ होता है। ये माया के आवरण हैं जो व्यक्ति आत्मा एवं चेतना को आनंदमय कोश से अन्नमय कोश के क्रम में अधिक मात्रा में ढँकते हैं। यह ज्ञान चेतना के वास्तविक सत्य, अनंत अस्तित्व, आनंद का वर्णन करने में व्यक्ति को सक्षम करता है। इसलिए वास्तविक ज्ञान "तत्त्व ज्ञानी",

“आत्म ज्ञानी “ महापुरुष ही दे सकता है जैसे मेरे परम गुरु “ महावतार बाबाजी “ ने कई समर्पित साधक, क्रियायोगी साधको को प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से जन कल्याण के लिए तत्व ज्ञान प्रदान किया है।

इसी प्रकार कई साधक उच्च चेतना को “ओम ध्वनि” या आदिनाद के रूप में सुनते हैं। जब परमचेतन मन में संकल्प सहित कंपन या स्पंदन पैदा किया तो वह प्रथम ध्वनि या ओम् के रूप में प्रकट हुई। ध्वनि तरंग कोई वस्तु नहीं, यह ऊर्जा का रूप है जब मनुष्य बोलता है, मंत्र जपता या नाम जप करता है तो वह स्वयं की आंतरिक चेतना एवं मन की तरंग को ब्रह्मांडीय तरंग या परमचेतन मन की तरंग से जोड़ता है। ये तरंगे ब्रह्मांड में प्रतिध्वनित (resonate) होती हैं इसलिए कहा गया है 'शब्द ही ब्रह्मा है' और शब्द ही वह माध्यम है जो व्यक्तिगत चेतना को सर्वव्यापक चेतना से जोड़ता है।

अध्यात्मिक साधना में मंत्र जाप, कीर्तन, नाम जप इसलिए करते हैं कि ये ध्वनि तरंगे मन, प्राण और चेतना की कंपन आवृत्ति को बदल देती हैं। हर मंत्र की अपनी कंपन आवृत्ति (Vibrational Frequency) होती है, जब साधक उसका उच्चारण करता है तो वह धीरे-धीरे अपनी चेतना को उच्च कंपन आवृत्ति में ले जाता है लेकिन सिर्फ मुख से मंत्र जाप, नाम जाप, कीर्तन महत्वपूर्ण नहीं है बल्कि मानसिक जाप, सूक्ष्म मौन जाप भी अधिक प्रभावकारी है। बाह्य रूप में जब कोई ध्वनि नहीं होती तब भीतर एक सूक्ष्म नाद सुनाई देता है इसे “अनाहत नाद” कहते हैं। अनाहत नाद वह ध्वनि है जो किसी दो वस्तुओं के टकराने से नहीं बल्कि परमचेतन मन या आत्मा की गहराई से उठती है। यह वही तरंग है जो साधक को सर्वव्यापक चेतना तक पहुँचाती है।

ध्वनि कोई केवल भौतिक घटना नहीं यह चेतना की तरंग है जो शुद्ध मौन से चलकर शब्द में प्रकट होती है। जहाँ त्रि-आयामी ध्वनि (3D sound) भौतिक जगत में कानों एवं मस्तिष्क द्वारा अनुभव की जाती है वहीं सूक्ष्म उच्च आयाम की ध्वनि अपनी चेतना के ऊर्जा या कंपन रूप में अनुभव किया जाता है। यह ध्वनि गहन ध्यान में कंपन के रूप में महसूस की जा सकती है एवं सुनी जा सकती है।

इसके अतिरिक्त शुद्ध चेतना सभी व्यक्ति में विद्यमान है और यही शुद्ध चेतना मन, बुद्धि, अहं, चित्त द्वारा शरीर से अहंबद्ध होकर सीमित हो गई है इसलिए कई लोग यह तत्व जानते हुए भी इसे (शुद्ध चेतना) को न जानते हैं, न देखते हैं, न सुनते हैं।

श्लोक 30:-

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि॥

अर्थ :-हे अर्जुन! यह आत्मा जो शरीर में निवासरत है सदा ही अवध्य (अविनाशी) है। इसलिए, सभी प्राणियों के लिए तुम शोक करने के योग्य नहीं हो।

सार:- इस श्लोक में व्यक्ति रूपी अर्जुन को मार्गदर्शित किया जा रहा है की यह शुद्ध चेतना सभी जीव प्राणी में हमेशा से ही अवध्य है अर्थात् शुद्ध चेतना को नहीं मारा जा सकता चाहे कोई भी व्यक्ति मृत्यु को ही क्यों न प्राप्त हो। यही एक ही शुद्ध चेतना सभी शरीर में विद्यमान है और किसी व्यक्ति की मृत्यु पर इसका वध नहीं होता इसलिए किसी भी व्यक्ति के मरने पर शोक नहीं करना चाहिए और इसी शरीर से इच्छाएँ, संस्कार, आसक्ति का भी जन्म होता है तो इनको मारने पर भी किसी प्रकार के शोक करने की ज़रूरत नहीं है।

श्रीकृष्ण अर्जुन को यह बोध कराते हैं कि प्रत्येक शरीर में स्थित **आत्मा अर्थात् शुद्ध चेतना अवध्य और अविनाशी** है। शरीर जन्म लेता है, विकसित होता है और मृत्यु को प्राप्त होता है, लेकिन शरीर के नष्ट होने से उसमें विद्यमान चेतना का नाश नहीं होता। इसलिए किसी प्राणी की मृत्यु को शुद्ध चेतना की मृत्यु मानकर शोक करना अज्ञानजनित दृष्टि है। **शरीर अनेक हैं, लेकिन चेतना का मूल स्वरूप एक ही है।** व्यक्ति स्वयं को शरीर, मन, नाम, संबंध और व्यक्तिगत पहचान से अलग करके जब अपने चेतन स्वरूप को पहचानता है, तब उसे समझ में आता है कि मृत्यु शरीर की अवस्था का परिवर्तन है, चेतना का विनाश नहीं।

साधना के आंतरिक स्तर पर शरीर और मन से जुड़ी **इच्छाएँ, आसक्तियाँ, अहंकार और संस्कार** व्यक्ति के अनुभवात्मक व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं। साधना में जब इन आसक्तियों और अहंकारात्मक वृत्तियों का क्षय होता है, तो साधक को इसे अपने अस्तित्व के नष्ट होने के रूप में नहीं देखना चाहिए। इसके विपरीत, यह **व्यक्तिगत चेतना की सीमाओं से ऊपर उठने की प्रक्रिया** है। इसलिए यहाँ “मारना” या “वध” केवल शारीरिक अर्थ में नहीं समझना चाहिए। आंतरिक साधना में इसका संकेत उन मानसिक वृत्तियों के क्षय से भी लिया जा सकता है जो व्यक्ति को अपने वास्तविक स्वरूप से दूर रखती हैं।

श्लोक 31:-

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥

अर्थ: अपने धर्म (क्षत्रिय के कर्तव्य) को देखते हुए भी तुम्हें विचलित नहीं होना चाहिए। क्योंकि धर्म के लिए किए जाने वाले युद्ध से बढ़कर क्षत्रिय के लिए कोई दूसरा कल्याणकारी कार्य नहीं है।

श्लोक 32:-

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्॥

अर्थ: कि हे पार्थ! जो युद्ध बिना मांगे ही प्राप्त होता है और जो स्वर्ग के द्वार के समान खुला हुआ है, ऐसे युद्ध को भाग्यवान क्षत्रिय ही पाते हैं, जो कि धर्म की रक्षा का एक सुअवसर है और उनके लिए अत्यंत सुखदायी है।

सार (श्लोक 31-32) :- इन दो श्लोकों में क्षत्रिय व्यक्ति के धर्म पर विचार किया जाएगा। जैसा पूर्व में बताया गया है कि ‘क्षत्रिय’ वह है जो बुरी मानसिक प्रवृत्ति, इन्द्रियों की बुरी प्रवृत्ति, ईच्छाओं, अहं, को मारने के लिए मानसिक और आध्यात्मिक युद्ध करना चाहता है और उन सभी प्रवृत्ति, विचारों, भावनाओं, संस्कारों को मारना चाहता है जो उसकी चेतना को उन्नत करने में बाधक है।

‘धर्म’ के विषय में भी पूर्व में बताया गया है कि आपका धर्म वही है जो आपकी चेतना को उन्नत करे, कर्म ही वही है जो आपकी चेतना के अनुरूप हो चाहे वह कोई भी माध्यम हो। आपको जो चेतना प्रदान की गई है वह धर्म के लिये प्रदान की गई और उसी अनुरूप कर्म ही वास्तविक ‘कर्म’ है। सर्वव्यापक चेतना ने अनंत संभावनाओं के साथ अनंत प्राणी समुदाय बनाये हैं जिनके अलग-अलग धर्म (कर्तव्य) हैं।

लेकिन कुछ ही व्यक्तियों को सर्वव्यापक चेतना के ज्ञान, प्रकाश, ओम नाद की प्राप्ति का अवसर प्राप्त होता है और किसी व्यक्ति को मानसिक-आध्यात्मिक संघर्ष का मौका प्राप्त हुआ है तो वो “भाग्यवान क्षत्रिय” है जिसे व्यक्तिगत चेतना को सर्वव्यापक चेतना (ब्रह्म)

में रूपान्तरण के लिए धर्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्र की रणभूमि प्राप्त हुई है और क्षत्रिय धर्म का कर्तव्य बुरी मानसिक प्रवृत्ति, इन्द्रियों की बुरी प्रवृत्ति, ईच्छाओं, अहं, को मार कर व्यक्तिगत चेतना को सर्वव्यापक चेतना में रूपांतरित करना है जिससे वह “ब्राह्मी स्थिति” को प्राप्त कर सके।

श्लोक:-33

“अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं सङ्ग्रामं न करिष्यसि ।

ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥

अर्थ:-"यदि तुम इस धर्मयुक्त युद्ध (अपने कर्तव्य) को नहीं करोगे, तो तुम अपने स्वधर्म (कर्तव्य) और कीर्ति (यश) को त्यागकर पाप को प्राप्त होगे।"

श्लोक 34:-

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।

सम्भावितस्य चाकीर्तिं मरणादतिरिच्यते

अर्थ:-और सब लोग तुम्हारी बहुत काल तक रहने वाली अपकीर्ति (बदनामी) का भी कथन करेंगे, और माननीय पुरुष के लिए अपकीर्ति मरण से भी बढ़कर है!

श्लोक 35:-

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।

येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्॥

अर्थ :-"और जिनकी दृष्टि में तुम पहले बहुत सम्मानित होकर अब लघुता को प्राप्त होगे, वे महारथी लोग तुझे भय के कारण युद्ध से हटा हुआ मानेंगे।"

श्लोक 36:-

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः।

निन्दन्तस्तवा सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्॥

अर्थ:-"तुम्हारे शत्रु तुम्हारी सामर्थ्य की निंदा करते हुए, तुम्हें बहुत से न कहने योग्य (कठोर और अपमानजनक) वचन कहेंगे। उससे बढ़कर दुःख और क्या होगा!

सार (श्लोक 33-36):- उपरोक्त में क्षत्रिय व्यक्ति को धर्म पालन न करने पर क्या क्या हानि हो सकती है इस पर विचार किया गया है। इसमें सामाजिक दृष्टिकोण और आध्यात्मिक दृष्टिकोणों से समझा जा सकता है। पूर्व में चेतना के उन्नत के क्रम में ऊर्जा स्तर पर निम्न कंपन आवृत्ति चेतना (low vibrational frequency consciousness) और उच्च कंपन आवृत्ति चेतना (High vibrational frequency consciousness) की अवधारणा को बताया गया है। अगर व्यक्ति का ऊर्जा स्तर या कंपन आवृत्ति उच्च है तो वह सकारात्मक सोच, सकारात्मक भावना, सकारात्मक विचार इत्यादि रखेगा और अगर ऊर्जा या कंपन आवृत्ति (Vibrational Frequency) निम्न है तो वह नकारात्मक सोच, भ्रम, अवसाद से ग्रस्त रहेगा जो उसके आगामी समय या भविष्य को भी प्रभावित करेगा।

जब व्यक्ति अपने मूल स्वभाव के अनुसार कर्म नहीं करता जैसे क्षत्रिय धर्म का कर्तव्य बुरी मानसिक प्रवृत्ति, इन्द्रियों की बुरी प्रवृत्ति, ईच्छाओं, अहं जैसी निम्न कंपन आवृत्ति प्रवृत्तियों को त्याग कर स्वयं को उच्च कंपन आवृत्ति प्रवृत्तियों में स्थापित करना है। तब व्यक्ति निम्न कंपन आवृत्ति के गुणों (शर्म, डर, अवसाद, काम, क्रोध, लोभ) को प्राप्त होगा जिसे “पाप” के रूप में इंगित किया गया है। सामाजिक दृष्टिकोण से देखे तो ऐसा व्यक्ति जो शर्म, डर, अवसाद, काम, क्रोध, लोभ जैसे गुणों से युक्त होता है वो कभी भी समाज में सम्मानित स्थान प्राप्त नहीं कर सकता फिर ऐसा व्यक्ति “शुद्ध चेतना (ईश्वर)” जैसे दिव्य गुणों को कैसे प्राप्त हो पाएगा।

ऐसा पुरुष जिसके पास अर्जुन रूपी “आत्मनियंत्रण” की शक्ति हो तो ऐसा व्यक्ति जब निम्न कंपन आवृत्ति के गुणों में स्वयं को स्थापित करेगा तो समाज भी उसकी बदनामी करेगा जो मरने से भी बुरा है। और जिन व्यक्तियों की नज़र में तुम बहुत सम्मानित होते होगे वो भी तुम्हें वो सम्मान नहीं देंगे।

श्लोक 35 उन ध्यान करने वाले साधको की भी ओर इशारा करता है जो ध्यानी पहले ध्यान के द्वारा अच्छे गुणों को प्राप्त हो जाते हैं और समाज, गुरु, संतों, ऋषियों में सम्मानित दृष्टिकोणों से देखे जाते हैं लेकिन जब साधक ध्यान में भटकाव के द्वारा पुनः अपनी निम्न कंपन आवृत्ति के गुणों में आने लगता है तो उसे सचेत करने के लिए ये श्लोक बताया गया है कि व्यक्ति अपगति को प्राप्त होगा तो उसने जो सम्मान अर्जित किया है वह भी खो देगा।

विकृत मन ही व्यक्ति का सबसे बड़ा शत्रु है जो कई अनैतिक कर्म भी व्यक्ति से करवाता है जिससे व्यक्ति का मन, इच्छाएँ, अहं ही उसे एक दिन भावात्मक रूप से ठेस पहुँचाएगा। और यही विकृत मन उसे चेतना उन्नत करने के क्रम में मानसिक-आध्यात्मिक युद्ध में उसके मनोबल को कम करके युद्ध से हटा देगा।

श्लोक 37:-

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥

अर्थ :-"या तो तुम युद्ध में मारे जाओगे तो स्वर्ग प्राप्त करोगे, या जीतकर पृथ्वी का राज्य भोगोगे। इसलिए, हे अर्जुन, दृढ़ निश्चय के साथ उठो और युद्ध करो।

सार:-व्यक्ति के प्रत्येक विचार या भाव ऊर्जा के किसी कंपन आवृत्ति में ही घटित होते हैं। मृत्यु के पश्चात् अगर व्यक्ति उच्च कंपन आवृत्ति जिसमें व्यक्ति शांति, आनंद, प्यार, सद्भाव के विचार या भाव रखता है तो व्यक्ति का सूक्ष्म शरीर चेतना के उसी कंपन आवृत्ति में स्थित हो जाएगा जिस कारण वह सूक्ष्म शरीर किसी ऐसे लोक में पहुंचे जिस स्थान में शांति, आनंद, प्यार, सद्भाव का माहौल हो जिसे आम जनभाषा में '**स्वर्ग लोक**' कहा गया है।

अगर व्यक्ति निम्न कंपन आवृत्ति जिसमें डर, लोभ, क्रोध, मोह इत्यादि भाव विचार आते हैं तो संभव है सूक्ष्म शरीर उसी प्रकार लोक (स्थान) को प्राप्त हो जिसे '**नरक लोक**' कहा गया है। इस श्लोक में चेतना को उन्नत करने के क्रम में विभिन्न योगिक तकनीकों का प्रयोग करता हुआ और ध्यान करता हुआ साधक अगर मृत्यु को भी प्राप्त हो जाता है तो व्यक्ति का सूक्ष्म शरीर चेतना की उच्च कंपन आवृत्ति को प्राप्त कर स्वर्ग लोक को प्राप्त होगा और अगर इसी जीवन में यह मानसिक-आध्यात्मिक संघर्ष जीत जाता है तो इसी पृथिवी में सभी अभाव से दूर हो जाएगा और स्थायी शांति, आनंद, शुद्ध चेतना को प्राप्त होगा इसलिए अर्जुन रूपी व्यक्ति को चंचल मन, इच्छाओं, आसक्ति, अहं, बुरे संस्कारों के विरुद्ध युद्ध के लिए खड़ा हो जाना चाहिए।

श्लोक 38:-

सुखदुःखं समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

अर्थ :-सुख-दुःख, लाभ-हानि और जय-पराजय को एक समान समझकर, उसके बाद युद्ध के लिए तैयार हो जाओ। इस प्रकार युद्ध करने से तुम पाप को प्राप्त नहीं होगे।

सार:- चंचल मन का कार्य ही व्यक्ति को द्वैतता में रखना होता है चाहे सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय हो। सभी मन द्वारा ही उत्पन्न होती है। जैसे अगर व्यक्ति की इच्छा पूर्ण हो जाए तो वह मन को सुख देती है और इच्छाएँ अपूर्ण रहने पर दुःख देती है और सुख-दुःख सापेक्ष अवधारणा है क्योंकि दुःख है तभी सुख है और सुख है तभी दुःख है। सुख-दुःख की उत्तेजना एक ऊर्जा रूप है जो समय के साथ परिवर्तनशील है।

अगर किसी चीज या वस्तु से आपको सुख प्राप्त हुआ तो इसका मतलब वह सुख के उत्तेजना की ऊर्जा आपके मन के लिये उस समय के लिये आभाव से दूर रखती है लेकिन समय के साथ यह ऊर्जा क्षीण होने के कारण पुनः दुःख उत्पन्न होने लगता है। जब सुख-दुःख की उत्तेजना सापेक्ष (रिलेटिव) होने और इनकी ऊर्जा समय साथ क्षीण होने की प्रवृत्ति के कारण मनुष्य हमेशा मानसिक रूप से आभावग्रस्त रहता है।

इसी प्रकार लाभ-हानि, जय पराजय भी मानसिक वृत्ति है। लेकिन इनसे परे और मन के परे जो अप्रभावित रूप से सर्वत्र विद्यमान है वो शुद्ध चेतना (आत्मा) है। इसे प्राप्त करने के लिए अर्जुन रूपी व्यक्ति को मानसिक-आध्यात्मिक युद्ध करने के लिए तैयार हो जाना चाहिए जिससे वह मन की विकृत कार्य, इन्द्रियों के कार्य, इच्छाओं, आसक्तियों इत्यादि चेतना को निम्न करने वाले तत्वों को मारने से निम्न कंपन आवृत्ति के गुणों (शर्म, डर, अवसाद, काम, क्रोध, लोभ) जैसे “पाप” को प्राप्त नहीं होगा।

श्लोक 39:-

“एषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि॥”

अर्थ:- हे पार्थ (अर्जुन)! यह (आत्म-ज्ञान रूपी) बुद्धि, जो सांख्य (विश्लेषणात्मक ज्ञान) के विषय में है, वह तुम्हें बताई गई है। अब तुम इसे (कर्मयोग के विषय में) सुनो। जिस बुद्धि से युक्त होकर तुम कर्मों के बंधन (फल की आसक्ति) को पूरी तरह से त्याग दोगे (नष्ट कर दोगे)।

सार:- अभी तक इस अध्याय में सांख्य योग (ज्ञान योग) के बारे में बताया गया है जिससे व्यक्ति रूपी अर्जुन शुद्ध चेतना (आत्म ज्ञान) के बारे में बौद्धिक समझ रखे लेकिन सिर्फ बौद्धिक ज्ञान रखने से व्यक्ति अपनी चेतना को सर्वव्यापक चेतना में रूपांतरित नहीं कर पाएगा इसलिए व्यक्ति के “कर्म” पर आगे के श्लोक में बल दिया जा रहा है जिससे व्यक्ति शुद्ध चेतना में स्वयं की चेतना का रूपांतरण कर सके है और इस ज्ञान (सांख्य योग) के अनुरूप कर्म कर अपनी चेतना को शुद्ध चेतना में मिलाना ही “कर्म योग” है।

जिससे व्यक्ति की बुद्धि कर्म बंधन को भलीभांति त्याग देगी। प्रत्येक व्यक्ति जन्म के साथ ही कुछ कर्म करता है जो उसके अवचेतन मन (subconscious mind) पर गहरा प्रभाव रखते है और यही उसके आगे चलकर आदत और संस्कार बनते है जो उसे उसके अवचेतन मन अनुसार शरीर को कर्म करने पर विवश करते है। अवचेतन मन की विचार प्रक्रिया और चेतना पैटर्न (conscious pattern) मन को उसके शरीर के साथ बाँधते है और यही से व्यक्ति का “कर्म बंधन” शुरू होता है। लेकिन शुद्ध चेतना को प्राप्त करने के क्रम में किये गए कर्म व्यक्ति की व्यक्तिगत चेतना, अवचेतन मन की विचार प्रक्रिया, चेतना पैटर्न को रूपांतरित कर सर्वव्यापक चेतना में रूपांतरित करके व्यक्ति को सभी कर्म बंधन से मुक्त करता है।

“कर्मयोग” शरीर के माध्यम से ऐसा कर्म या कार्य जिससे मन की तरंग शांत हो जाए या कहे मन का शुद्धिकरण हो जाता है ताकि व्यक्ति अपनी आभासी चेतना या निम्न चेतना को उच्च वास्तविक चेतना से जोड़ पाएं जिसे आत्मा या उच्च स्व (Higher self) कहा जाता है तथा अंततः सर्वव्यापक चेतना तक पहुँच सके। इसके लिए जरूरी है कि मन को इस स्तर पर पहुँचाना कि मन किसी वस्तु के प्रति आसक्त (Attach) न हो न ही किसी कार्य के फल के प्रति उसकी भावना न रहे तथा किसी भी कार्य को फल की इच्छा से करने की प्रवृत्ति न रहे, तभी मन शांत हो पाएगा तथा अहं का त्याग करते हुए सभी कर्म सर्वव्यापक चेतना

(omnipresent Consciousness) द्वारा हो रहे है यह जान पाएगा जिससे वह चेतना के कर्म के स्वरूप को समझ पाएगा।

श्लोक 40:-

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥

अर्थ :- इस (कर्मयोग) में न तो प्रयास का नाश होता है और न ही कोई हानि होती है। इस धर्म (कर्मयोग) का थोड़ा-सा भी अभ्यास (साधन) बड़े भय (जन्म-मृत्यु) से रक्षा कर लेता है।

सार:- प्रत्येक कर्म व्यक्ति की चेतना को किसी न किसी रूप में प्रभावित करता है जो उसके चेतना पैटर्न (conscious pattern) को बनाता है लेकिन जब व्यक्ति कर्मयोग (स्वयं की चेतना का सर्वव्यापक चेतना में रूपांतरण के लिए कर्म) का आरम्भ करता है तो इस कर्म के प्रयास का प्रभाव कभी भी समाप्त नहीं होता क्योंकि यह कर्म भी व्यक्ति की चेतना में छाप (पैटर्न) छोड़ देता है और जब व्यक्ति के लिए अनुकूल परिस्थिति बनती है तो पुनः इस चेतना में छाप (पैटर्न) की वजह से चेतना के उन्नत के लिए व्यक्ति कर्म करने लगता है।

आपकी चेतना ही निर्धारित करती है कि व्यक्ति के विचार, भाव किस-किस समय-परिस्थिति में किस किस प्रकार होंगे जिस कारण कौन-कौन से कर्म व्यक्ति जीवन में करेगा। अगर व्यक्ति को क्षत्रिय धर्म के पालन के लिए धर्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्र की परिस्थिति प्राप्त होती है (श्लोक 2:32) तो अपनी चेतना में छिपे हुए इस कर्म योग के बीज (चेतना पैटर्न) के अनुरूप वह पुनः आध्यात्मिक उन्नति करता है इस प्रकार इस कर्म का कोई दोष भी नहीं है और न ही इसके बीज का नाश होता है।

लेकिन अगर इस कर्मयोग के अभ्यास द्वारा व्यक्ति चेतना थोड़ा भी उन्नत कर लेता है तो उसकी चेतना निम्न कंपन आवृत्ति से उच्च कंपन आवृत्ति में पहुँचने में सक्षम हो जाती है तो निम्न कंपन आवृत्ति के गुण में “ भय ” को समाप्त कर देती है जिससे इस कर्मयोग के साधन से जन्म-मृत्यु के भय से भी नहीं रहता। इस प्रकार वास्तविक ज्ञान के अनुरूप कर्म करने पर व्यक्ति को ज्ञात रहता है कि शरीर तो नाशवान है और शुद्ध चेतना ही शाश्वत है तो

यह कर्मयोग व्यक्ति को शरीर संबंधी इच्छाओं, आसक्तियों को दूर करने भी मदद करता है जिससे शरीर के जन्म-मृत्यु से व्यक्ति को भय नहीं लगता ।

श्लोक 41:-

**व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥**

अर्थ :-हे अर्जुन (कुरुनन्दन)! इस कर्मयोग (निःस्वार्थ कर्म) के मार्ग पर चलने वाले साधक की बुद्धि एक ही लक्ष्य पर केंद्रित होती है। इसके विपरीत, जो लोग स्थिर निश्चय वाले नहीं होते (अव्यवसायी), उनकी बुद्धियाँ अनेक शाखाओं वाली (विभिन्न इच्छाओं और विचारों से भरी) और अनंत होती हैं।

सार:- मन के वस्तुओं, भाव, संवेदनाओं में अंतर (difference) करने वाले आयाम को “बुद्धि” कहते हैं। बुद्धि वह मानसिक शक्ति है जिससे मनुष्य समझता है, विचार करता है, सही-गलत का निर्णय करता है और उचित कार्य का चयन करता है। कर्मयोग के अंतर्गत **निष्काम कर्म** को एक साधन के रूप में लिया जा सकता है जिसमें फल की इच्छा का त्याग कर कर्म को कर्तव्य भाव से कर सफलता एवं असफलता से विचलित हुए बिना कर्म करने पर बल देता है जिसका उद्देश्य अहं भाव का त्याग, मन के विचलन को दूर करना । इस प्रक्रिया के निरंतर अभ्यास से व्यक्ति का मन त्रि-आयामी दृश्य जगत से हटकर सभी कर्मों के पीछे पांचवे आयाम की चेतना की प्रज्ञा (Intelligence) को जानना तथा प्रकृति के तीन गुण (सत्व, तमस, रजस) के बलों (forces) को समझता है। जिससे मन के विचलन को दूर कर, अहं भाव का त्याग कर व्यक्ति की **बुद्धि स्थिर** हो जाती है और शुद्ध चेतना से एकरूप हो जाती है ।

जब तक बुद्धि शरीर, मन के स्तर पर निर्णय लेगी तब तक व्यक्ति की चेतना सीमित रहेगी जैसे घड़ा स्वयं को तब तक मिट्टी से अलग समझता रहेगा जब तक उसका अहं, बुद्धि घड़े तक सीमित रहेगी लेकिन जैसे ही बुद्धि स्थिर होकर अहं त्याग करती है तो घड़ा पुनः सर्वोप स्वयं को मिट्टी समझ पाता है ।

जिन व्यक्ति की बुद्धि स्थिर नहीं होती उनका मन अनियंत्रित रहने से बुद्धि शरीर, मन के संबंध में विभिन्न विचारों, ईच्छाओं के साथ व्यक्ति को संसार में भटकाता रहता है। इसलिए

सकाम मनुष्य की बुद्धि बहुत भेद वाली होती है और अनंत इच्छाओं के साथ अनियंत्रित मन के साथ विचलित रहती है ।

श्लोक 42:

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥

अर्थ:- हे पार्थ! जो मूर्ख लोग वेदों के (दिखावटी) वाक्यों में ही आसक्त रहते हैं और कहते हैं कि स्वर्ग से बढ़कर और कुछ भी नहीं है, वे इस प्रकार की अलंकृत (फूलों जैसी) वाणी बोलते हैं।

श्लोक 43:

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥

अर्थ:- वे (स्वर्ग की कामना से) जन्म और कर्मफल देने वाली, भोग तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए बहुत सी क्रियाओं (अनुष्ठानों) का वर्णन करते हैं।

श्लोक 44:

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥

अर्थ:- जो लोग इन (दिखावटी) बातों से मोहित हो जाते हैं और भोग तथा ऐश्वर्य में अत्यधिक आसक्त रहते हैं, उनकी निश्चयात्मिका बुद्धि (परमात्मा में स्थिर होने वाली बुद्धि) समाधि (आत्म-साक्षात्कार) में नहीं लग पाती है!

सार(श्लोक 42-44):- इन श्लोकों में “द्वैत सिद्धांत” में फसने लगे लोगों की ओर इशारा करते हैं जो अच्छा-बुरा, सही-गलत, लाभ-हानि, स्वर्ग-नरक में विश्वास रखते हैं क्योंकि अंतिम अस्तित्व “अद्वैत” शुद्ध चेतना का ही है जो सभी चीजों का स्रोत है। अच्छा-बुरा, सही-गलत, लाभ-हानि, स्वर्ग-नरक इत्यादि अस्थिर मन, अस्थिर बुद्धि, अहं के कारण उत्पन्न

द्वैत सिद्धांत (Duality concept) है और सापेक्षता के सिद्धांत (relativity concept) के अनुसार बने हुए हैं जहाँ अगर एक ओर सकारात्मक सिद्धांत के अस्तित्व स्वीकार होते ही दूसरा नकारात्मक सिद्धांत स्वतः स्वीकार होने लगता है। जैसे अगर स्वर्ग है तो संभव है नरक भी होगा लेकिन वास्तव में शुद्ध चेतना के अलावा कुछ भी नहीं है और जो अस्तित्व द्वैत प्रकृति के रूप में दिख रहा है वो चंचल मन, अस्थिर बुद्धि, अहं के कारण उत्पन्न हुआ है।

प्रकृति अपने **तीन गुणों (सत्व-रजस-तमस)** के साथ अस्तित्व में है और इस प्रकृति के अस्तित्व का स्रोत सर्वव्यापक चेतना है अगर कोई इस सर्वव्यापक चेतना एवं शुद्ध चेतना के स्थान पर प्रकृति के सत्व या तमस गुणों में आसक्ति रखते हैं तो वे लोग मूर्ख समान ही हैं और जहाँ सत्व गुण स्वर्ग के रूप में इस श्लोक में प्रतीकात्मक रूप से बताया गया है। जो लोग वेदों के वाक्यों -अर्थों में फसे हुए हैं उसी को अंतिम सत्य बिना मर्म तत्व को जाने बिना और अनुभव किए बिना मान लेते हैं और मन की कल्पना अनुसार स्वर्ग जैसे वाक्यों के तत्व को समझे बिना उसी को परम सत्य मान लेते हैं और इसी स्वर्ग के भोग, विलासिता की कामना से कर्म करते हैं वे कभी भी स्वयं की शुद्ध चेतना को नहीं जान पाते न ही उनकी बुद्धि स्थिर हो पाती है क्योंकि वही बुद्धि स्थिर है जो शुद्ध चेतना में बिना विचलन (without deflection), बिना द्वैतता (without duality), बिना सापेक्षता (without relativity) के स्थित है।

स्वर्ग और नरक तो व्यक्ति की मानसिक स्थिति है और यह मन चेतना द्वारा ऊर्जा प्राप्त करता है। व्यक्ति की मनःस्थिति जैसी होगी वैसी ही उसकी कंपन आवृत्ति, भाव, परिस्थिति होंगे जो द्वैत सिद्धांत और सापेक्ष सिद्धांत पर आधारित हैं। जो लोग इस द्वैत में चाहे स्वर्ग हो या नरक, सत्व हो या तमस जैसे किसी भी गुण में आसक्त होंगे वे आत्म-साक्षात्कार को प्राप्त नहीं हो सकते क्योंकि आत्म-साक्षात्कार व्यक्ति यह अनुभव करता है कि उसकी चेतना सभी में व्याप्त है चाहे वह अच्छा हो या बुरा हो, सही हो या गलत हो, स्वर्ग हो या नरक हो।

श्लोक 45:-

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥

अर्थ:-हे अर्जुन! वेद (मुख्यतः) गुणों (सत्त्व, रज, तम) के विषय में बात करते हैं। तुम इन तीनों गुणों से ऊपर उठो, हर्ष-शोक आदि द्वंद्वों से रहित हो जाओ, नित्य सत्त्व (परमात्मा) में स्थिर रहो, और लाभ-हानि (योग-क्षेम) की चिंता छोड़कर आत्मवान (आत्मतत्त्व में स्थित) बनो!

सार:-जैसे ऊर्जा सकारात्मक, तटस्थ, नकारात्मक होती है और अणु (पदार्थ) को प्रोटॉन (सकारात्मक आवेश), न्यूट्रॉन (तटस्थ आवेश) और इलेक्ट्रॉन (नकारात्मक आवेश) के समायोजन से निर्मित करती है उसी प्रकार प्रकृति के तीन गुण हैं -सत्त्व, रजस, तमस् जिसके आधार पर ब्रह्मांड का निर्माण, संचालन, संहार का कार्य करती है। यह प्रकृति द्वैत सिद्धांत और सापेक्षता के सिद्धांत के आधार पर संचालित होती है उसी प्रकार व्यक्ति का मन भी इन्हीं गुणों के प्रभाव में व्यक्ति के कर्म, व्यवहार, सोच भी प्रभावित होते हैं लेकिन सभी ऊर्जा, प्रकृति, मन के गुणों का स्रोत सर्वव्यापक चेतना है।

इसलिए वेदों में, शास्त्रों में, भौतिक विषय किसी न किसी प्रकार से इन तीनों गुणों की व्याख्या करते हैं इसलिए आत्म तत्त्व की प्राप्ति के लिए इन गुणों, द्वैतता के ऊपर उठकर द्वन्द्व रहित होने के लिए यह श्लोक व्यक्ति को मार्गदर्शित करता है। सुख-दुख, लाभ-हानि जैसे द्वंद से ऊपर उठकर नित्य, शाश्वत चेतना पर मन को स्थित करने का प्रयास करना चाहिए।

मन एक तरंग (Mind wave) के रूप में कार्य करता है जब तक मन की तरंग शांत नहीं होगी तथा अहं (ego) से जुड़ी रहेगी तब तक सर्वव्यापक चेतना का अनंत, निर्गुण रूप. या वास्तविक रूप को नहीं समझा जा सकता।

नोट :-यह मन नित्य, शाश्वत, शुद्ध चेतना में किस प्रकार स्थापित होगा वो आगे के अध्यायों में चर्चा की जाएगी।

श्लोक 46:-

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके ।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥

अर्थ :-जैसे सब ओर से भरे हुए बड़े सरोवर के मिलने पर छोटे कुएँ का जितना प्रयोजन (उपयोग) रहता है, उसी प्रकार ब्रह्म को तत्त्व से जानने वाले ज्ञानी मनुष्य का सभी वेदों में उतना ही प्रयोजन रह जाता है!

सार:- जो तत्त्व ज्ञानी, आत्म ज्ञानी, ब्रह्म ज्ञानी पुरुष होते हैं जिन्हें यह ज्ञान होता है कि उन्हीं की शुद्ध चेतना सभी में व्याप्त है। "मैं ही वह परम सत्य हूँ जो द्रष्टा, दृश्य है वह एक ही चेतना का अंग है जो दर्शाता है कि व्यक्ति और सर्वव्यापक चेतना (ब्रह्म) एक ही है। वह ब्रह्म ज्ञानी व्यक्ति स्वयं की चेतना को सभी में व्याप्त देखता और महसूस करता है। वह ब्रह्म ज्ञानी पुरुष त्रिआयामी जगत, चतुर्थ आयाम समय के परे सर्वव्यापक चेतना में स्थापित होकर प्रकृति, ऊर्जा, मन के सभी क्रियाकलापों का स्रोत हो जाता है और सभी द्वैतता और सापेक्षता को बिना मन को प्रभावित किए साक्षी भाव से देखता है। जैसे समुद्र को प्राप्त पुरुष (सर्वव्यापक चेतना में स्थापित पुरुष) छोटे कुएँ की प्राप्ति (व्यक्तिगत चेतना में सीमित पुरुष) में कोई रुचि नहीं रखता न ही सर्वव्यापक चेतना को प्राप्त व्यक्तिगत चेतना के कर्म, भाव, मनः स्थिति में किसी का प्रयोजन रखता है उसी प्रकार ब्रह्म (शुद्ध चेतना) को प्राप्त पुरुष वेदों के द्वैत, सापेक्ष वाक्यों में प्रीति, आसक्ति नहीं रहती।

इसके अतिरिक्त व्यक्तिगत चेतना की जरूरत मनुष्य के अस्तित्व में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है तथा मनुष्य स्वयं और अपने आस-पास की दुनिया के साथ अंतः क्रिया कर समझ विकसित करने में सक्षम होता है। यह शरीर, मन को सांसारिक क्रियाकलाप, सामाजिक अंतःक्रिया करने में मदद करता है इसलिए व्यक्तिगत चेतना का भी प्रयोजन है लेकिन सर्वव्यापक चेतना को प्राप्त पुरुष(ब्रह्म) सिर्फ स्वयं के शरीर, समाज के लिए ही कर्म नहीं करता बल्कि सर्वव्यापी द्रष्टिकोण रखते हुए समस्त ब्रह्मांडीय योजना को साकार करने के लिए स्रोत के रूप में कार्य करता है। जैसे समुद्र सभी लहरों, बूंद के अस्तित्व के लिए आधार प्रदान करता है वैसे ही स्वव्यापक चेतना को प्राप्त पुरुष सभी ऊर्जा, मन, समय के लिए आधार एवं स्रोत का कार्य करता है।

सर्वव्यापक चेतना को समझने के लिए मन, बुद्धि, अहं, चित्त, इन्द्रियों इत्यादि जैसे सूक्ष्म तत्व प्रदान किया है जिससे व्यक्तिगत चेतना का निर्माण होता है लेकिन व्यक्तिगत चेतना सर्वव्यापक चेतना के सापेक्ष कुछ ऐसी ही है जैसे समुद्र और तालाब ।

श्लोक 47:-

**" कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥"**

अर्थ :- तुम्हारा अधिकार केवल कर्म करने में है, उसके फल में कभी नहीं; इसलिए फल की इच्छा से कर्म मत करो, और न ही कर्म न करने में तुम्हारी आसक्ति हो। यह श्लोक कर्मयोग का मूल मंत्र है, जो निष्काम कर्म (बिना फल की इच्छा के कर्म) का उपदेश देता है।

सार:-कर्मयोग शरीर के माध्यम से ऐसा कर्म या कार्य जिससे मन की तरंग शांत हो जाए या कहे मन का शुद्धिकरण हो जाता है ताकि व्यक्ति अपनी आभासी चेतना या निम्न चेतना को उच्च वास्तविक चेतना से जोड़ पाएं जिसे आत्मा या उच्च स्व (Higher self) कहा जाता है तथा अंततः सर्वव्यापक चेतना तक पहुँच सके।

इसके लिए जरूरी है कि मन को इस स्तर पर पहुँचाना कि मन किसी वस्तु के प्रति आसक्त (Attach) न हो न ही किसी कार्य के फल के प्रति उसकी भावना न रहे तथा किसी भी कार्य को फल की इच्छा से करने की प्रवृत्ति न रहे, तभी मन शांत हो पाएगा तथा अहं का त्याग करते हुए सभी कर्मसर्वव्यापक चेतना (omnipresent Consciousness) द्वारा हो रहे है यह जान पाएगा जिससे वह चेतना के कर्म के स्वरूप को समझ पाएगा।

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन" अर्थात् तुम्हें कर्म करने का अधिकार है, फल का नहीं ।

कर्मयोग के अंतर्गत निष्काम कर्म को एक साधन के रूप में लिया जा सकता है जिसमें फल की इच्छा का त्याग कर कर्म को कर्तव्य भाव से कर सफलता एवं असफलता से विचलित हुए बिना कर्म करने पर बल देता है जिसका उद्देश्य अहं भाव का त्याग, मन के विचलन को दूर करना तथा सर्वव्यापक चेतना को ही कर्ता समझना। इस प्रक्रिया के निरंतर अभ्यास से व्यक्ति का मन त्रि-आयामी दृश्य जगत से हटकर सभी कर्मों के पीछे सर्वव्यापक चेतना की

प्रज्ञा (Intelligence) को जानना तथा प्रकृति के तीन गुण (सत्व, तमस, रजस) के बलों (forces) को समझना।

वहीं चेतना के स्तर पर, व्यक्तिगत चेतन मन (Conscious Mind) के स्तर पर सोच-विचार कर निर्णय लेने के लिए सीमित स्तर पर स्वतंत्र इच्छा रखता है। वह ज्ञान इन्द्रियों द्वारा प्राप्त सूचना, परिस्थितियों में बुद्धि द्वारा निर्णय ले सकता है और यहीं उसके कर्म आगे के कर्म एवं कर्मफल को निर्धारित करते हैं। लेकिन अवचेतन मन के स्तर पर व्यक्ति के निर्णय संस्कारों एवं पूर्व कर्मों, सूचनाओं द्वारा नियंत्रित होते हैं जहाँ व्यक्ति की स्वतंत्र इच्छा सीमित हो जाती है। इस स्तर पर व्यक्ति जागरूक न होने पर अवचेतन मन के मानसिक पैटर्न द्वारा ही नियंत्रित होकर निर्णय लेता है। वहीं अचेतन मन के स्तर पर स्वतंत्र इच्छा लगभग समाप्त हो जाती है। यहाँ व्यक्ति को चयन करने की स्वतंत्रता समाप्त हो जाती है।

व्यक्ति की गहरी आदतें, भाव, प्रवृत्तियाँ, जैविक क्रियाएँ, व्यक्ति के निर्णय, चयन को स्वचालित रूप से नियंत्रित करती हैं। लेकिन व्यक्ति अतिचेतन मन (Super Conscious Mind) के स्तर पर पहुँच कर आत्म जागरूक होकर अपनी प्रकृति, विचार भावनाओं, आदतों पर पूर्ण नियंत्रण कर सकता है और विभिन्न विकल्पों में स्वतंत्र निर्णय ले सकता है। उसकी इच्छा ईश्वरी इच्छा या सर्वव्यापक चेतना की क्रियाओं के साथ एक रूप होने लगती है और जब व्यक्ति का अति चेतन मन **परम-चेतन मन (Supreme Mind)** के साथ एक हो जाता है तो कोई इच्छा (will) नहीं रहती यहाँ सब कुछ सर्वव्यापक चेतना या ब्रह्मा की इच्छा में विलीन हो जाता है, व्यक्ति केवल साक्षी होता है।

श्लोक 48:-

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।

सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥”

अर्थ :- हे अर्जुन! आसक्ति (लगाव) को त्याग कर, सफलता (सिद्धि) और असफलता (असिद्धि) में समान भाव रखते हुए, योग में स्थित होकर अपने कर्तव्य कर्म करो; यही समभाव ही योग कहलाता है। यह श्लोक कर्मयोग के सिद्धांत को बताता है, जहाँ व्यक्ति फल की चिंता किए बिना केवल कर्म पर ध्यान केंद्रित करता है।

सार:- व्यक्ति हमेशा से ही एक स्वतंत्र प्राणी है एवं हर समय उसके पास स्वतंत्र इच्छा है बशर्ते वह स्वयं की आत्मा या सर्वव्यापक चेतना से विमुख न हो या कहे व्यक्तिगत चेतना को सीमित न करे और न ही अन्य बंधनों में स्वयं को बांध कर स्वयं की स्वतंत्र इच्छा को न खोए इसलिए सर्वप्रथम व्यक्ति को व्यक्तिगत चेतना को सर्वव्यापक चेतना में रूपान्तरण करने का प्रयास करना चाहिए।

जब व्यक्ति स्वयं की चेतना को सर्वव्यापक चेतना में रूपान्तरित कर लेता है तब शुद्ध बुद्धि सभी कर्मों में समान भाव रखती है और इसी समत्व को “योग” कहा गया है। तब धनंजय रूपी व्यक्ति समस्त कर्म, विचार, घटनाओं को स्वयं की चेतना में घटित होता पाता है जिसे साक्षी भाव के रूप में जान पाता है।

साक्षी भाव में व्यक्ति सभी मन, ऊर्जा, समय का साक्षी (witness) बन जाता है लेकिन स्वयं उनमें लिप्त नहीं होता। इसलिए योग में स्थित होकर कर्मों को करने की सलाह दी जा रही है जिसमें न ही कर्मों के प्रति आसक्ति (attachment) हो न ही कर्मों के फल में सिद्धि-असिद्धि अर्थात् हानि-लाभ, सुख-दुख इत्यादि द्वैत भाव हो। इन कर्मों से प्राप्त जो भी द्वैत भाव हो उन्हें समान रूप से समझना चाहिए क्योंकि ये द्वैत भाव मन के कारण उत्पन्न होते हैं जबकि शुद्ध चेतना मन के परे स्थित अद्वैत आयाम है जिसमें व्यक्ति को स्वयं की चेतना को रूपान्तरित करने का प्रयास करना चाहिए और यही व्यक्ति का कर्तव्य-कर्म भी है।

इस तरह कर्मयोग में 'समत्व भावना' में व्यक्ति को सभी स्थिति में (सुख-दुःख, लाभ-हानि, सफलता-असफलता) में समान भावरखने का प्रयास करने की साधना की जाती है ताकि मन के असंतुलन को दूर कर मन को सर्वव्यापक चेतना में स्थापित करने तथा त्रि-आयामी जगत की सीमित प्रज्ञा (Limited Intelligence) को उच्च चेतना की प्रज्ञा में स्थित करना लक्ष्य होता है।

श्लोक 49:-

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः॥

अर्थ:-"हे धनञ्जय (अर्जुन)! सकाम कर्म (फल की इच्छा वाले कर्म) बुद्धियोग (ज्ञान योग) से बहुत हीन हैं। इसलिए, तुम बुद्धि योग (ज्ञानयोग) की ही शरण लो; क्योंकि फल की इच्छा करने वाले (सकाम) लोग अत्यंत दीन (कृपण) होते हैं।

श्लोक 50:

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥

अर्थ :-"बुद्धि से युक्त (समत्व भाव वाला) पुरुष इसी लोक में पुण्य और पाप, दोनों को त्याग देता है। इसलिए तुम योग (समत्व भाव) में लग जाओ, क्योंकि योग ही कर्मों में कुशलता है।

श्लोक 51:-

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥

अर्थ :-"क्योंकि समबुद्धि से युक्त ज्ञानीजन, कर्मों से उत्पन्न होने वाले फल को त्याग कर, जन्म रूपी बन्धन से मुक्त हो निर्विकार (दुःख रहित) परम पद को प्राप्त हो जाते हैं।

सार(श्लोक 49-51) :- उपरोक्त श्लोक 49-51 को समझने के लिए कर्मयोग (समत्व भावना) और ज्ञान योग के संदर्भ को साथ साथ समझना जरूरी है। कर्मयोग जहाँ मन को स्थिर करने के लिए "निष्काम कर्म" और "समत्व भावना" पर बल देते हुए योग की बात करता है वही ज्ञान योग (बुद्धि योग) ज्ञान को आत्मसात कर योग की बात करता है।

चाहे आप कर्म योग का मार्ग अपनाएँ या भक्ति योग का, ज्ञान योग का या राज योग का मार्ग का अपनाएँ एक समय पश्चात ये चारो मार्ग एक हो जाते है और चारो योग के मूलभूत

तत्व आपकी चेतना में समाहित होने लगते हैं। कहने के लिये ये मार्ग अलग - अलग दिखाई पड़ते हैं लेकिन इन योग मार्ग पर आगे बढ़ने पर सभी योग आपकी चेतना में एक साथ घटित होने लगते हैं। चाहे वह कर्म योग का निष्काम कर्म, सम भाव हो या सत्य का ज्ञान हो (आत्म ज्ञान) अंततः सभी मार्ग आपकी व्यक्तिगत चेतना को उन्नत कर समाधि के स्तर पर ले जाते हैं एवं सर्वव्यापक चेतना में आपकी चेतना को स्थापित करते हैं जिसे “योग” कहा गया है।

जब व्यक्ति समत्व भावना से युक्त होकर आत्म ज्ञान द्वारा योग को प्राप्त होता है और इस प्रक्रिया (कर्म) में निरंतर स्थित रहता है जिसे सर्वोत्तम कर्म माना गया है और इस प्रकार के कर्म की अपेक्षा। “सकाम कर्म” अत्यंत ही निम्न कोटि का है। इसलिए जो व्यक्ति अपनी कौशल से सर्वव्यापक राज्य को प्राप्त करने की क्षमता रखता हो जिसे “धनंजय” कहा गया है ! धनंजय नायक एक नाम है, जिन्होंने युद्धों के माध्यम से धन अर्जित किया; जो शक्ति और विजय का प्रतीक है। व्यक्ति का वास्तविक धन उसकी चेतना है जो जन्म के साथ और मृत्यु के बाद उसके साथ रहती है। इसी चेतना को उन्नत करने के माध्यम से मानसिक-आध्यात्मिक युद्ध में विजय प्राप्त करने वाला व्यक्ति अर्जुन रूपी धनंजय को गीता के श्लोकों में संबोधित किया गया है।

जो व्यक्ति इस **समबुद्धि** युक्त होकर अपने मन को स्थापित कर लेता है वो द्वैतता जैसे पाप-पुण्य के कर्मफल को त्याग देता है और मुक्त हो जाता है। व्यक्ति का मन, अस्थिर बुद्धि, अहं ही है जो उसे सांसारिक इच्छा, कामना, सुख-दुख, लाभ -हानि, लोभ, मोह, मद इत्यादि विषयों में बाँधे रहता है और व्यक्तिगत चेतना को शुद्ध चेतना के रूपान्तरण से दूर रखता है। इसलिए व्यक्ति को समत्व रूप योग (सम कर्म भाव+ ज्ञान योग) में मन को लगाने का प्रयास करना चाहिए जिससे कर्म बंधन से छुटकारा मिल जाता है।

पुनः स्मरण रहें कि आपका धर्म वही है जो आपकी चेतना को उन्नत करे, कर्म ही वही है जो आपकी चेतना के अनुरूप हो चाहे वह कोई भी माध्यम हो। आपको जो चेतना प्रदान की गई है वह धर्म के लिये प्रदान की गई और उसी अनुरूप कर्म ही वास्तविक कर्म है। मनुष्य धर्म के सार्वभौमिक रूप को न जानने के कारण एवं व्यक्तिगत चेतना की सीमाओं से बंधे रहने के कारण “धर्म-कर्म-काल” के चक्र में फंसा हुआ है। जितना मनुष्य शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक स्तर पर धर्म की समझ रखता है उसी अनुरूप वह कर्म करता है और

वह कर्म ही उसके समय (काल) का निर्धारण भी करता है। प्रत्येक कर्म की एक समय अवधि होती है जो उसका काल/समय कहलाता है जिसमें व्यक्तिगत चेतना फंसी रहती है और यही चक्र-प्राणी के साथ जन्म-जन्मांतर तक रहता है।

इस प्रकार सम बुद्धि ज्ञानीजन कर्म फल से उत्पन्न होने वाले फल एवं बंधन को त्याग कर जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्त होकर निर्विकार शुद्ध चेतना (परम पद) को प्राप्त हो जाते हैं। व्यक्ति निरंतर अपनी चेतना को उन्नत कर इस चतुर्थ आयाम समय को भी लांघ जाए जिसे समाधि (समय से आदि) कहते हैं तो वह अव्यक्त, सर्वव्यापक चेतना में स्थित होकर सभी युगों, सभी ब्रह्मांडीय कणों, मनुष्य, जीवजंतु में व्याप्त हो जाएगा जिसे गीता में 'परमपद' कहा गया

श्लोक 52:-

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥

अर्थ :- "जिस समय तुम्हारी बुद्धि मोह रूपी दलदल को भलीभाँति पार कर जायेगी, उस समय तुम सुने हुए और सुनने में आने वाले इस लोक और परलोक सम्बन्धी सभी भोगों से वैराग्य को प्राप्त हो जाओगे।"

श्लोक 53:-

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥

अर्थ :- "जिस समय तुम्हारी बुद्धि, जो वेदों के सकाम वचनों (फलों की इच्छा वाले कर्मकांडों) से विचलित हो गई है, परमात्मा में स्थिर और अचल हो जाएगी, उस समय तुम योग को प्राप्त कर लोगे (आत्म-साक्षात्कार कर लोगे)।

सार (श्लोक 52-53):- जब व्यक्ति चेतना को उन्नत कर आत्म साक्षात्कार (self realisation) करता है तब उसे स्पष्ट होता है कि यह चेतना ही है जो मन में घटित होने वाली घटनाओं, भावनाओं, चित्रण एवं इनकी गतिशीलताओं के प्रति सजग है और यह चेतना व्यक्ति को भी संचालित कर रही है एवं जीवन का अनुभव प्रदान कर रही है और मन

ही है जिसके विभिन्न तत्व (बुद्धि, अहं, स्मृति) ही मोह, ईच्छाओं का कारण है जबकि चेतना इनसे अलग है और निर्लिप्त होकर भी सभी कर्मों, भाव के प्रति सजग है।

जब मन और इसके अन्तर पैदा करने वाला आयाम बुद्धि, अहं, स्मृति इन मोह रूप से दलदल को पार कर जाएगी तब व्यक्ति व्यक्तिगत चेतना को शुद्ध चेतना में रूपान्तरण कर इस लोक-परलोक संबंधी सभी भोगों के प्रति वैराग्य को प्राप्त होगा क्योंकि इस ब्रह्मांड में या अन्य ब्रह्मांड में या सूक्ष्म जगत में कहीं भी भोग उपस्थित है वह मन की वृत्ति ही है उसके अलावा कुछ भी नहीं है और मन का स्रोत चेतना है इसलिए जब मन को कोई ढंग नहीं रह जाता न बुद्धि, न अहं, न चित्त (स्मृति) तब जो उपस्थित रहता है वह सर्वव्यापक शुद्ध चेतना ही है जो निराकार, अगोचर एवं अनन्त है और सभी संभावनाओं (Possibilities) से युक्त है। व्यक्तिगत चेतना से सर्वव्यापक चेतना को प्राप्त व्यक्ति सभी भोगों, इच्छाओं, असक्तियों से मुक्त हो जाता है क्योंकि सभी सम्भावनाएँ, क्रियाकलापों, नियम का स्रोत वह स्वयं बन जाता है।

परम पद को प्राप्त व्यक्ति का मन, बुद्धि क्रमशः परमचेतन मन, शुद्ध बुद्धि के रूप में रूपांतरित हो जाता है। यह साधारण चेतन मन, अवचेतन या अचेतन मन से परे की अवस्था है। यह मन नहीं बल्कि शुद्ध चेतना का रूप है। यह वह स्तर है जहाँ मन समाप्त हो जाता है केवल अनंत अस्तित्व, शुद्ध चेतना एवं आनंद शेष रह जाता है अर्थात् यह मन की सत् चित् और आनंद की स्थिति है। परम चेतन मन वह सर्वोच्च चेतना है जो समस्त विचार, अस्तित्व को समाहित करता है और सभी प्राणियों को प्रभावित करता है। यह एक अव्यक्तिक, सर्वव्यापक विचार है जहाँ वस्तु के बारे में सोचना वस्तु के अस्तित्व के समान है। परमचेतन मन में वह सभी संभावनाएँ एवं प्रज्ञा (Intelligence) उपस्थित है जो कोई एक व्यक्ति अपने मन में सोच, विचारकर सकता है।

मन की सभी योजनाएँ, भावनाएँ, नियम, स्मृति इत्यादि **परमचेतन मन** में समाहित है। साथ ही इस मन में सिर्फ एक व्यक्ति के मन के विचार, भावनाएँ एवं योजनाएँ ही नहीं बल्कि पृथ्वी पर उपस्थित सभी मनुष्य के मन के विचार, भावनाएँ, योजनाएँ इसमें समाहित हैं, इसके अतिरिक्त कई अरब ग्रहों, तारों में रहने वाले कई अरब जीव-जंतु एवं पेड़-पौधों के मन के विचार, भावनाएँ एवं योजनाएँ इसमें अंतर्निहित होती है। इसके अतिरिक्त ब्रह्मांड में

कही भी जीवन है चाहे वह एक आयामी दुनिया, दो आयामी दुनिया, त्रि- आयामी जगत या चतुर्थ आयामी जगत में रहने वाले प्राणियों के मन के विचार भी इसमें समाहित है।

जब व्यक्ति का मन, बुद्धि भाँति -भाँति के वचनों को सुनकर भी विचलित नहीं होती और शुद्ध चेतना में अचल, स्थिर हो जाती है तब व्यक्ति मन, इन्द्रियों, शरीर द्वारा होने वाले सम्पूर्ण कर्मों में कर्तापन (अहं) का त्याग कर एवं आसक्ति (Attachment) का त्याग कर एवं कर्मफल की इच्छा का त्याग कर सच्चिदानन्दधन परमात्मा में निरंतर एक ही भाव से स्थित है वह पुरुष योग (परमात्मा) को प्राप्त करता है।

अर्जुन उवाच

श्लोक 54:-

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।

स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत ब्रजेत किम् ॥

अर्थ:-अर्जुन ने कहा: हे केशव! समाधि में स्थित, स्थिर बुद्धि वाले व्यक्ति की भाषा (या लक्षण) क्या होती है? वह स्थिर बुद्धि वाला व्यक्ति कैसे बोलता है, कैसे बैठता है और कैसे चलता है?

सार:-यहाँ तक पढ़ने पर जिस प्रकार अर्जुन को जिज्ञासा हो रही है उसी प्रकार इस श्लोक तक पहुँचने पर आप (साधक) को भी यह जिज्ञासा होती है कि परमात्मा (सर्वव्यापक चेतना) को प्राप्त, समाधि में स्थित स्थिरबुद्धि व्यक्ति के क्या-क्या लक्षण हो सकते हैं। जब कोई साधक चेतना को उन्नत के क्रम में आगे बढ़ता है तो उसे कैसे पता चलेगा की उसकी बुद्धि स्थिर हो रही है, या समाधि को प्राप्त होता है। इस जिज्ञासा के रूप में स्थिर बुद्धि पुरुष कैसे बोलता है (उसके मनः स्थिति एवं भाव क्या होते हैं), कैसे बैठता है (बिना मन एवं भाव रहित समय में कैसी स्थिति रहती है) और कैसे चलता है (स्थिर बुद्धि व्यक्ति का आचरण कैसा होता है)।

सामान्य अर्थ में स्थिर बुद्धि व्यक्ति के मनः स्थिति, भाव, व्यवहार के बारे में बताने के उद्देश्य और आगे के श्लोकों के लिए आधार के लिए इस श्लोक का वर्णन यहाँ किया गया है जहाँ शुद्ध चेतना को प्राप्त कृष्ण रूप इसकी व्याख्या करेंगे। कृष्ण वो

सभी है जिसने स्वयं की चेतना को शुद्ध कर लिया है जैसे व्यास जी और मेरे गुरु महावतार बाबाजी। वैसे ही ईश्वर स्वरूप आत्मज्ञानी अवतारी पुरुष आगे के श्लोकों की व्याख्या स्टीक रूप से कर सकते हैं जिसका प्रयास आगे किया गया है।

श्लोक 55:-

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥

अर्थ :- "हे अर्जुन! जब मनुष्य मन में उठने वाली सभी इच्छाओं का पूरी तरह त्याग कर देता है और अपनी आत्मा में ही संतुष्ट रहता है, तब वह 'स्थितप्रज्ञ' (स्थिर बुद्धि वाला) कहलाता है।

श्लोक 56:-

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥

अर्थ :- जो दुखों में विचलित नहीं होता, सुखों में जिसकी कोई इच्छा नहीं होती, और जो राग (आसक्ति), भय और क्रोध से मुक्त होता है, उसे ही स्थिर बुद्धि वाला मुनि (ज्ञानी) कहा जाता है।

श्लोक 57:-

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

अर्थ :- जो व्यक्ति हर जगह (सभी वस्तुओं और परिस्थितियों में) स्नेह से रहित है, और शुभ (अच्छी) या अशुभ (बुरी) वस्तुओं को प्राप्त करके न तो प्रसन्न होता है और न ही द्वेष करता है, उसकी बुद्धि स्थिर (स्थिर प्रज्ञा) होती है।

सार (श्लोक 55-57):- मनुष्य का मन निरंतर विचारों, इच्छाओं, स्मृतियों और भावनाओं की तरंगों से प्रभावित होता रहता है। इन्हीं मानसिक तरंगों के माध्यम से बुद्धि निर्णय करती है, अहंकार कर्तापन का अनुभव करता है और चित्त पुराने संस्कारों एवं स्मृतियों को सक्रिय

करता है। परिणामस्वरूप मन में इच्छा, कामना, आसक्ति, लोभ, भय, क्रोध तथा सुख-दुःख के द्वंद्व उत्पन्न होते हैं।

लेकिन जब साधक धीरे-धीरे मन में उठने वाली इच्छाओं और आसक्तियों से मुक्त होकर अपने वास्तविक स्वरूप की ओर लौटता है, तब उसका सुख बाहरी वस्तुओं और परिस्थितियों पर निर्भर नहीं रहता। वह मन, इन्द्रियों और शरीर द्वारा कर्म करते हुए भी अपने भीतर कर्तापन के अहंकार तथा कर्मफल की अपेक्षा का त्याग कर देता है। उसकी चेतना निरंतर परम चेतना में स्थित होने लगती है और वह अपनी शुद्ध चेतना में ही संतोष एवं आनंद का अनुभव करता है। यही अवस्था **स्थितप्रज्ञता** की अवस्था है।

स्थिर बुद्धि वाले व्यक्ति के भीतर मानसिक तरंगों का अनावश्यक उतार-चढ़ाव शांत हो जाता है। इसलिए दुःख आने पर उसका मन विचलित नहीं होता और सुख प्राप्त होने पर उसमें तीव्र लालसा उत्पन्न नहीं होती। राग, भय और क्रोध जैसे अहंकारजन्य विकार भी धीरे-धीरे समाप्त होने लगते हैं।

सामान्य मनुष्य सुख और दुःख की क्षणिक तरंगों के पीछे चलता रहता है। सुख मिलने पर उसे उसे बनाए रखने की इच्छा होती है और दुःख आने पर उससे बचने की। क्योंकि दोनों अनुभव परिवर्तनशील हैं और उनकी मानसिक ऊर्जा समय के साथ क्षीण होती रहती है, इसलिए व्यक्ति निरंतर किसी न किसी अभाव या असंतोष का अनुभव करता रहता है।

इसके विपरीत, मन की तरंगों को शांत करने वाला मुनि बाहरी परिस्थितियों से अपनी आंतरिक शांति को नियंत्रित नहीं होने देता। वह वैराग्य और समत्व की अवस्था में रहते हुए शुभ-अशुभ, लाभ-हानि, सुख-दुःख और प्रशंसा-निंदा जैसे द्वैतों से ऊपर उठने का प्रयास करता है। इसलिए शुभ वस्तु या परिस्थिति प्राप्त होने पर वह अत्यधिक उत्साहित नहीं होता और अशुभ परिस्थिति आने पर द्वेष या घृणा से भर नहीं जाता।

अर्थात् स्थितप्रज्ञ व्यक्ति वह है जिसकी चेतना बाहरी परिस्थितियों की बदलती तरंगों से मुक्त होकर अपने भीतर स्थित शांति, संतोष और आत्मस्वरूप में स्थिर हो जाती है। स्थिर बुद्धि वाले व्यक्ति की मन की तरंग शांत हो जाती है न ही दुःख में मन विचलित होता है और न ही सुख में मन में उसके लिए तीव्र इच्छा (स्पृह) होती है और अहं के दोष गुण जैसे राग, भय, क्रोध नष्ट हो जाते हैं। ऐसा मुनि उदासीन

(वैराग्य) रहकर द्वैत नियमों के परे शुभ-अशुभ वस्तु को प्राप्त कर न प्रसन्न होता है न ही द्वेष रखता है।

श्लोक 58:-

**यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥**

अर्थ :-"जब कोई व्यक्ति अपनी इन्द्रियों को उनके विषयों से इस प्रकार हटा लेता है, जिस प्रकार कछुआ अपने सभी अंगों को अपने खोल के अंदर समेट लेता है, तब समझो कि उसकी बुद्धि स्थिर (आत्मज्ञान में) हो गई है।"

सार:-इस श्लोक में इन्द्रिय विषयों (शब्द, स्पर्श, दृश्य, रस, गंध) से मन को हटाने से मन और बुद्धि स्थिर करने बारे में बताया है कि किस प्रकार व्यक्ति "स्थितप्रज्ञ" बन सकता है या स्थित प्रज्ञ पुरुष "स्थिर बुद्धि" के लिए क्या करता है।

व्यक्ति के पास पाँच इन्द्रियाँ हैं जिनके द्वारा हमें सूचना प्राप्त होता है, जो हैं: आँख (दृष्टि), कान (श्रवण), नाक (गंध), जीभ (स्वाद), और त्वचा (स्पर्श) इन्हीं के सम्मिलित रूप मन ज्ञानेन्द्रियों से (ज्ञान) प्राप्त करता है और फिर बुद्धि के माध्यम से कर्मेन्द्रियों को कार्य करने के लिए प्रेरित करता है, जिससे बाहरी दुनिया के साथ हमारा संबंध स्थापित होता है। मन तब तक विचलित रहेगा जब तक वह ज्ञान इन्द्रियों द्वारा प्राप्त सूचना पर प्रतिक्रिया करता रहेगा और कर्मेन्द्रियों के माध्यम से शरीर के कार्य करने से ऊर्जा शरीर के बाहर खर्च करता रहेगा। जिस कारण मन और बुद्धि स्थिर न होकर सांसारिक प्रपंच में फँसे रहेंगे और मन के स्रोत के रूप में शुद्ध चेतना में मन विलीन नहीं हो पाएगा।

स्थितप्रज्ञ पुरुष अपने मन और बुद्धि को स्थिर करने के लिए इन्द्रियों के विषयों से मन को हटा लेता है। स्थिरबुद्धि युक्त व्यक्ति का मन मुख्य रूप से पाँच ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त सूचना पर प्रतिक्रिया देना बंद कर देता है तो धीरे धीरे मन की तरंग स्थिर और शांत हो जाता है जिससे मन के अंतर करने वाले आयाम बुद्धि, अहं भी अपनी वृत्ति खोने है और जब मन में किसी विषयों के प्रति कोई तरंग नहीं होती है तो मन, बुद्धि, चित्त, अहं, स्मृति की प्रवृत्ति का त्याग कर व्यक्ति अपने स्व (Self) या आत्मा (शुद्ध चेतना) में स्थापित हो जाता है। यही शुद्ध चेतना "शुद्ध बुद्धि" और "स्थितप्रज्ञता" का प्रतिबिंब है।

श्लोक 59:-

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥

अर्थ:-जो पुरुष इन्द्रियों के भोग से दूर रहता है (निराहार रहता है), उसकी इन्द्रियाँ विषयों से हट जाती हैं। लेकिन, उन विषयों में जो रस (आसक्ति, इच्छा) रह जाती है, वह तब तक नहीं जाती, जब तक कि वह व्यक्ति परमात्मा का अनुभव नहीं कर लेता; परमात्मा का अनुभव होने पर वह रस (इच्छा) भी समाप्त हो जाता है।

श्लोक 60:-

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥

अर्थ:-इन्द्रियाँ इतनी प्रबल और अशांत (प्रमाथीनि) होती हैं कि वे प्रयत्नशील बुद्धिमान मनुष्य के मन को भी बलपूर्वक हर लेती हैं (प्रसभं मनः हरन्ति), खासकर जब आसक्ति (attachment) का पूरी तरह नाश नहीं होता, जो मन को विषयों की ओर खींच लेता है।

श्लोक 61:-

"तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

अर्थ :-

"इसलिए, साधक को चाहिए कि वह उन सभी इन्द्रियों को वश में करके, समाहित चित्त (एकाग्र मन) होकर मेरे (ईश्वर /शुद्ध चेतना) के परायण होकर बैठे, क्योंकि जिस पुरुष की इन्द्रियाँ वश में होती हैं, उसी की बुद्धि स्थिर हो जाती है।

सार (श्लोक 59-61):- जब व्यक्ति ध्यान के क्रम में इन्द्रियों के प्रत्याहार (withdraw of senses) का प्रयास शुरू करता है तो उस व्यक्ति की इन्द्रियाँ विषयों के भोगों से दूर होने लगती है लेकिन पूर्व में उस व्यक्ति ने ज्ञान इन्द्रियों के माध्यम से जो इच्छाएँ (desires) और आसक्ति (attachment) विषयों के प्रति उत्पन्न की थी और स्मृति (memory) के रूप में

अभी भी न्यूरोन नेटवर्क में उपस्थित है जिससे ध्यान के दौरान मन में ये इच्छाएँ और आसक्तियाँ विचलन पैदा कर देती है। इसलिए सिर्फ़ इन्द्रियों के प्रत्याहार से ही मन स्थिर होकर शुद्ध चेतना को प्राप्त नहीं होगा बल्कि इसके लिए मन रूपी सरोवर में उठने वाली सांसारिक इच्छाएँ, विचार, स्मृति के रूप में ज़मा इच्छाएँ, आसक्तियाँ, संस्कार और कल्पनाओं के रूप में जो चितवृत्ति है उनका भी निरोध करना ज़रूरी है जिसे सामान्य अर्थ में “चित्त वृत्ति निरोध” कहा जाता है। जब चितवृत्तियाँ शांत हो जाती हैं तब मन-बुद्धि पूरी तरह स्थिर हो जाता है और मनुष्य अपने वास्तविक स्वरूप (शुद्ध चेतना) को जान पाता है।

चित्त जो मन, इच्छाएँ, विचार, भावनाएँ, यादें, संस्कार, कल्पनाएँ, आसक्ति सहित मानसिक गतिविधियों के पूरे स्पेक्ट्रम को दर्शाता है, यह हमारे आंतरिक अनुभव का वो गहरा हिस्सा है जहाँ सब कुछ संग्रहीत होता है उसको शांत कर ध्यान में बैठा साधक “स्थिरबुद्धि” को प्राप्त करता है।

देखा जाए प्रत्येक दिन व्यक्ति सोते समय इन्द्रियों का प्रत्याहार कर लेता है लेकिन मन इतना शक्तिशाली है कि वो मनुष्य के स्मृति के रूप में भंडारित ज्ञान इन्द्रियों से प्राप्त सूचना का सहारा लेकर और बुद्धि के माध्यम से स्वप्न में नये दृश्य, कल्पना, योजना, क्रियाओं का निर्माण कर नई दुनिया बना लेता है। इसी प्रकार जब ध्यान में साधक इन्द्रियों का प्रत्याहार करता है तो या तो वह सो/बेहोश हो जाता है या मन नई कल्पना का निर्माण कर लेता है जिससे साधक ध्यान में उन्नति नहीं कर पाता। इसलिए सिर्फ़ इन्द्रिय विषयों के प्रत्याहार के साथ साथ चित्त वृत्ति निरोध को भी मन को स्थिर करने के लिए ज़रूरी है।

जो स्थितप्रज्ञ व्यक्ति होता है वो इन्द्रियों के प्रत्याहार के साथ साथ किसी भी विषयों में न इच्छा रखता है न ही आसक्ति रखता है। मन को सर्वव्यापक चेतना (परमात्मा) में स्थिर कर आसक्ति, इच्छाओं से मुक्त हो जाता है और अपनी शुद्ध चेतना को सर्वव्यापक चेतना में ही स्थिर कर संतुष्ट रहता है। भले ही कोई व्यक्ति बुद्धिमान हो और इन्द्रियों को वश में करने का प्रयास कर रहा हो, ये इन्द्रियाँ बलपूर्वक उसके मन को अपनी ओर खींच लेती हैं। यह तब होता है जब व्यक्ति की आसक्ति (किसी चीज़ से लगाव या इच्छा) पूरी तरह खत्म नहीं होती; यह आसक्ति ही इन्द्रियों को बल देती है। आत्म-नियंत्रण केवल कर्मों पर नियंत्रण नहीं, बल्कि विचारों और वासनाओं पर भी नियंत्रण रखने की आवश्यकता पर जोर देता है,

क्योंकि इन्द्रियाँ सूक्ष्म रूप से मन को भटका देती हैं। इसलिए साधक को इन्द्रिय विषय को नियंत्रित कर और समाहित चित्त (ऐसा मन, अहं, स्मृति जो शुद्ध चेतना में केंद्रित हो) होकर ध्यान में बैठना चाहिए जहाँ शुद्ध चेतना में किसी प्रकार का विकार न हो। यही शुद्ध चेतना “शुद्ध एवं स्थिर बुद्धि” का स्रोत भी है।

श्लोक 62:-

**ध्यायातो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते।**

अर्थ:-मनुष्य जब इन्द्रिय-विषयों (जैसे रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द) का निरंतर चिंतन करता है। तो उन विषयों में उसकी आसक्ति (लगाव) पैदा हो जाती है। उस आसक्ति से उन विषयों की कामना (तीव्र इच्छा) उत्पन्न होती है और जब वह कामना पूरी नहीं होती, तो उस इच्छा के बाधित होने से क्रोध उत्पन्न होता है।

श्लोक 63:-

**क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥**

अर्थ :-क्रोध से मनुष्य मूढ़ (भ्रमित) हो जाता है, भ्रम से उसकी स्मृति (याददाश्त) खो जाती है, स्मृति के खो जाने से बुद्धि (ज्ञान) का नाश हो जाता है, और बुद्धि के नाश होने से वह मनुष्य अपनी स्थिति से गिर जाता है (पतन हो जाता है)।

सार (श्लोक 62-63):-इन दो श्लोकों में व्यक्ति के मनोविज्ञान को बेहतर तरीके से समझाया गया है और व्यक्ति/ध्यान करने वाले साधक को चेताया भी गया है कि मन को चिक्क करने से कैसे रोका जाए। जब व्यक्ति किसी इन्द्रियों के विषय जैसे रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द पर मन की ऊर्जा को लगाता है तो मन के अन्तर करने वाले आयाम बुद्धि या तो उससे आकर्षित होती है या विकर्षित। विषयों का आकर्षण उस विषय में मन, बुद्धि को आसक्त कर देता है जैसे व्यक्ति किसी दृश्य का चिंतन कर सकता है जो उसके मन को आकर्षित करता है या कोई भोज पदार्थ के विषय में सोचता है तो मन उस दृश्य या भोज से आसक्त

हो जाने के कारण बार-बार उस विषय में चिंतन करने लगता है और उससे संबंधित कर्म करने लगता है।

जैसे विभिन्न सिनेमा वेबसाइट, पोर्न वेबसाइट ने दृश्य रूप में व्यक्तियों के मन को विकृत और कमजोर किया है वही लज़ीज़ भोज पदार्थों जैसे बर्गर, पिज़्ज़ा, ड्रस

मन को ऐसे भोज पदार्थ के साथ आसक्त किया है जिससे मनुष्य का आंतरिक रूप शरीर, मन कमजोर हुआ है। इसी प्रकार जब ध्यान में बैठा साधक किसी भी इन्द्रिय विषयों का चिंतन करने लगता है तो ये विषय उसके ध्यान में उन्नति में बाधक होते हैं।

ये इन्द्रिय विषय उस विषय के प्रति आसक्त होने से बार-बार मन को उस विषय के प्राप्त करने के प्रति इच्छा उत्पन्न करती है अगर वह इच्छा पूर्ण हो जाती है तो यह इच्छा मन में हमेशा के लिए स्मृति रूप में बैठ जगह बना लेती है और इच्छा अपूर्ण रहने से व्यक्ति के मन में द्वेष और क्रोध उत्पन्न करती है। यह क्रोध व्यक्ति को सही निर्णय और सोचने की क्षमता को कमजोर करता है जिससे उसकी स्मृति भी भ्रमित हो जाती है। व्यक्ति की स्मृति में भ्रम के कारण ही वह अपने मूल स्वरूप (शुद्ध चेतना) को जान नहीं पाता। मैं वास्तव में कौन हूँ, मेरे जीवन का क्या उद्देश्य है, उसका अस्तित्व का क्या कारण है, जन्म-मृत्यु के बीच वह क्यों अस्तित्ववान है, जन्म के पहले वह कौन था और मृत्यु के बाद क्या रहेगा इत्यादि विषय पर व्यक्ति की स्मृति भ्रमित हो जाती है और स्मृति के भ्रमित होने से बुद्धि (ज्ञानशक्ति) का नाश हो जाता है।

व्यक्ति चेतना युक्त प्राणी है और सर्वव्यापक चेतना से व्यक्तिगत चेतना को प्राप्त हुआ है जैसे समुद्र (सर्वव्यापक चेतना) में लहरे (व्यक्तिगत चेतना) बार -बार उत्पन्न होती है लेकिन जब लहर अपना अहं युक्त स्वभाव को भूल कर पुनः समुद्र में विलीन होती है तो पुनः व्यक्तिगत चेतना (लहर) समुद्र (सर्वव्यापक चेतना) बन जाती है। लेकिन इन्द्रिय विषय, स्मृति भ्रम, सीमित मन, अहं, विकृत बुद्धि से व्यक्ति के शुद्ध चेतना की ज्ञान शक्ति का नाश हो जाता है जिससे वह अपनी स्थिति को गिरा देता है।

आयाम (Dimension) के आधार पर इस श्लोक को समझने में इसकी व्याख्या और स्पष्ट होती है। सर्वव्यापक चेतना (उच्च आयाम) ने परम चेतन मन और सार्वभौमिक ऊर्जा को उत्पन्न किया जिसने आगे चलकर चतुर्थ आयाम समय-स्थान (Time-Space) का सृजन किया और विभिन्न समय रेखाओं (Timelines) में बहुब्रह्मांड (Multiverse) बनाये

जिसमें अरबों तारे, अरबों ग्रह, अरबों आकाशीय पिण्ड, अरबों जीव प्राणी और अरबों मनुष्यों को बनाया। इसके अतिरिक्त द्वि - आयामी जगत, प्रथम आयामी जगत का सृजन इसी सर्वव्यापक चेतना ने किया। जैसे ही सर्वव्यापक चेतना (उच्च आयाम) से अलग मनुष्य (त्रि आयाम) ने स्वयं को त्रि - आयामी जगत के साथ सहसंबंध स्थापित किया तो मनुष्य, शरीर, मन, बुद्धि, अहं के द्वारा ही व्यक्तिगत चेतना तक सीमित हो गया और वह उच्च आयाम के प्रति या अन्य आयाम के प्रति कम जागरूक हो गया और अनंत संभावनाओं में स्वतंत्र होने की अपेक्षा शरीर और मन के स्तर की संभावनाओं के प्रति ही आंशिक स्वतंत्रता को प्राप्त हो पाया।

श्लोक 64:-

**रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥**

अर्थ:-परन्तु, जो साधक अपने वश में की हुई, राग-द्वेष से रहित इन्द्रियों के द्वारा विषयों (सांसारिक भोगों) में विचरण करता हुआ भी उनमें लिप्त नहीं होता, वह अंतःकरण की प्रसन्नता (शांति) को प्राप्त होता है।

श्लोक 65:-

**प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥**

अर्थ:-जब अंतःकरण (मन) प्रसन्न और शांत होता है, तो सभी दुखों का नाश हो जाता है और बुद्धि शीघ्र ही परमात्मा में स्थिर हो जाती है, जिससे व्यक्ति को परम शांति और ज्ञान की प्राप्ति होती है।

सार (श्लोक 64-65):-जब साधक अपनी इन्द्रियों को अपने वश में कर लेता है और राग-द्वेष से मुक्त होकर संसार के विषयों का अनुभव करता है, तब वह संसार में रहते हुए भी संसार के बंधनों में नहीं फँसता। इन्द्रियों का पूर्ण त्याग आवश्यक नहीं है; वास्तविक साधना यह है कि इन्द्रियों के विषयों का प्रयोग करते हुए भी मन उनमें आसक्त न हो और बाहरी परिस्थितियाँ साधक की आंतरिक शांति को विचलित न कर सकें।

जब मन इन्द्रियों के आकर्षण और विकर्षण से मुक्त होता है, तब साधक का अंतःकरण धीरे-धीरे शांत और प्रसन्न होने लगता है। इस अवस्था में मन अहंकार से जुड़कर स्वयं को कर्ता नहीं मानता, बुद्धि परिवर्तनशील परिस्थितियों के प्रभाव में भ्रमित नहीं होती और चित्त में संचित पुरानी स्मृतियाँ एवं संस्कार मन को निरंतर विचलित नहीं करते। परिणामस्वरूप अंतःकरण की सूक्ष्म चेतन व्यवस्था शुद्ध होने लगती है।

यही शुद्ध अंतःकरण व्यक्ति के भीतर स्थित उसके वास्तविक और विवेकशील अर्जुन-स्वरूप का प्रतीक है। शुद्ध अंतःकरण केवल क्षणिक सुख नहीं, बल्कि शांति और आनंद की उस गहरी अवस्था का अनुभव है, जहाँ साधक की बुद्धि धीरे-धीरे शुद्ध चेतना में स्थिर होने लगती है। जब अंतःकरण शुद्ध होता है, तब बाहरी परिस्थितियों की शक्ति मन को विचलित करने में कम हो जाती है। बुद्धि स्पष्ट, स्थिर और विवेकपूर्ण होकर सत्य और असत्य के बीच भेद करने लगती है। अहंकार का कर्तापन क्षीण होने लगता है और चित्त की अशुद्धियाँ शांत होकर निर्मलता की ओर बढ़ती हैं। इस प्रकार शुद्ध अंतःकरण व्यक्ति को उसकी अपनी शुद्ध चेतना का स्पष्ट अनुभव कराने का माध्यम बनता है।

इसी अंतःकरण की प्रसन्नता और शांति के कारण दुःखों का प्रभाव समाप्त होने लगता है। यहाँ दुःखों का नाश केवल बाहरी समस्याओं के समाप्त हो जाने का अर्थ नहीं है, बल्कि उन परिस्थितियों के प्रति मन की पीड़ा, भय, आसक्ति और प्रतिरोध का समाप्त होना है। जब बुद्धि पूर्णतः स्थिर और निर्मल होती है, तब वह आत्मा अर्थात् शुद्ध चेतना में स्थित होकर सर्वव्यापक चेतना अर्थात् परमात्मा के अनुभव की दिशा में अग्रसर होती है।

अर्थात्, इन्द्रियों पर नियंत्रण का वास्तविक परिणाम संसार से पलायन नहीं, बल्कि संसार में रहते हुए भी आंतरिक रूप से स्वतंत्र होना है। इन्द्रियों के विषयों के बीच रहते हुए भी जिसका मन शांत, अंतःकरण निर्मल और बुद्धि आत्मचेतना में स्थिर रहती है, वही साधक वास्तविक शांति, आनंद और परम चेतना की अनुभूति के निकट पहुँचता है।

नोट:-इसके विपरीत, जिस व्यक्ति का मन और इन्द्रियाँ उसके नियंत्रण में नहीं होतीं, वह विषयों के आकर्षण में बहकर मानसिक अशांति, मोह और भ्रम का अनुभव करता है। इसके नकारात्मक परिणामों का वर्णन आगे के श्लोकों में किया गया है।

श्लोक 66:-

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥

अर्थ:-जो मन और इन्द्रियों को वश में नहीं करता उसमें दृढ़ निश्चय बुद्धि नहीं होती और जो बुद्धि वश में नहीं है, उसमें ईश्वर-प्रेम या कर्तव्यपरायणता की भावना नहीं होती। न भावनाहीन को शांति नहीं मिलती, और जो अशांत है, उसे सुख कैसे मिल सकता है।

श्लोक 67:-

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥

अर्थ:-जिस प्रकार जल में विचरण करती हुई नाव को वायु हर लेती है (बहा ले जाती है), उसी प्रकार विषयों में भटकती हुई इन्द्रियों में से जिस एक इन्द्रिय के साथ मन लग जाता है, वह एक इन्द्रिय ही उस मनुष्य की बुद्धि को हर लेती है।"

श्लोक 68:-

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

अर्थ :-इसलिए, हे महाबाहो! जिस मनुष्य की इन्द्रियाँ इन्द्रियों के विषयों से पूरी तरह वश में की हुई हैं, उसकी बुद्धि (ज्ञान) स्थिर है।

सार (श्लोक 66-68):- इन्द्रिय विषयों में व्यक्ति का मन आसक्त होने से मन कई सूचना को संग्रहित करने लगता है और बुद्धि उन सूचनाओं को अंतर कर सही- गलत, लाभ -हानि, मान-अपमान इत्यादि के आधार पर निर्णय लेती है जिस कारण द्वैतता (dualism) में बुद्धि फँसी रहती है और अनेक सूचनाओं को व्यवस्थित और मन के अनुरूप निर्णय करने के कारण अस्थिर भी हो जाती है। इन्द्रियों-मन-बुद्धि के एक ऐसा गठजोड़ (nexus) बन जाता है कि इन्द्रियों से प्राप्त किसी भी महत्वहीन जानकारी में बुद्धि प्रतिक्रिया करने लगती है जिससे व्यक्ति की बुद्धि भी उसके वश में नहीं रहती। जब बुद्धि वश में नहीं रहती तो वह

बुद्धि न ही शुद्ध चेतना (आत्मा) में स्थिर रहती और न ही सर्वव्यापक चेतना (ईश्वर) प्रेम की तरफ झुकती। इस प्रकार की बुद्धि इन्द्रियों और मन द्वारा संचालित होती है।

जैसा कि विदित है मन एक तरंग रूप में इन्द्रियों के प्रभाव से चंचल होता है जिस कारण व्यक्ति की बुद्धि भी चंचल मन अनुरूप अस्थिर हो जाती है जिस कारण भ्रमित बुद्धि वास्तविक धर्म (कर्तव्य) से विमुख हो जाती है। आपका धर्म वही है जो आपकी चेतना को उन्नत करे, कर्म ही वही है जो आपकी चेतना के अनुरूप हो चाहे वह कोई भी माध्यम हो। इसलिए बुद्धि को ईश्वर (सर्वव्यापक चेतना) में स्थिर करने पर गीता में बल दिया गया है।

जब व्यक्ति किसी भी इन्द्रिय विषयों (आँख (दृष्टि), कान (श्रवण), नाक (गंध), जीभ (स्वाद), और त्वचा (स्पर्श) का प्रयोग बाह्य सूचना प्राप्त करने के लिए प्रयुक्त करता है तो व्यक्ति का मन उस विषय के साथ आसक्त होने के कारण मन उस विषय के साथ भटक या विचलित हो जाता है जैसे नाव रूपी मन को वायु रूपी विषय हर लेते हैं। इसलिए व्यक्ति की ज्ञानिन्द्रियों (आँख, कान, नाक, जीभ, त्वचा) को सभी विषयों (दृष्टि, श्रवण, गंध, स्वाद, स्पर्श) से वश में करके मन और बुद्धि को स्थिर किया जा सकता है।

जब ध्यान करने के पश्चात् साधक पुनः भौतिक जगत में इन्द्रियों का प्रयोग करता है तो उसे सचेत रहना चाहिए की ध्यान में उसने जो स्थिरता प्राप्त की थी वह इन्द्रियों के विषयों के प्रभाव से मन और बुद्धि को चंचल न कर दे जिससे भविष्य में ये विषय ध्यान में बाधक बने। कई ऐसे अनेक साधक हैं जो ध्यान के कुछ समय बाद इन्द्रिय विषयों के जाल में मन को फँसा लेते हैं और ध्यान करना छोड़ देते हैं जिसे वो अपने कर्तव्य पथ से भटक जाते हैं इसलिए जरूरी है की स्थिर बुद्धि के लिए ध्यान के दौरान और ध्यान के पश्चात् साधक को इन इन्द्रिय विषयों पर नियंत्रण रखना चाहिए। और जिसकी इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, चित्त नियंत्रण में हैं हैं हैं उसकी बुद्धि स्थिर है।

श्लोक 69:-

यस्यां जागृति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।

यस्यां जागृति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

अर्थ :-जो समस्त प्राणियों के लिए रात्रि के समान है, उस नित्य ज्ञानस्वरूप परम सुख की प्राप्ति में स्थितप्रज्ञ योगी जागता है और जिस नाशवान् सांसारिक सुख की प्राप्ति में सब प्राणी जागते हैं, परमात्मा के तत्त्व को जानने वाले मुनि के लिए वह रात्रि के समान है।

सार:- यहाँ सांसारिक व्यक्ति और आत्मज्ञानी व्यक्ति की तुलना दोनों की जागरूकता (awareness) और ज्ञान (knowledge) के आधार पर दिन-रात के रूप में किया गया है। सांसारिक व्यक्ति इन्द्रियों के सक्रिय (जाग्रत) रहने पर संसार का अनुभव कर पाता है (दिन के समान) और इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान को ही वास्तविक ज्ञान मानता है, जागरूक होना समझता है और इसी सांसारिक अनुभव से इच्छाओं, आसक्ति, सांसारिक लक्ष्यों को ही अंतिम सत्य मान लेता है जैसे कई भौतिक व्यक्ति का अंतिम लक्ष्य पैसा कमाना है, तो किसी का अंतिम लक्ष्य कोई उच्च पद प्राप्त करना लेकिन जो आत्मज्ञानी व्यक्ति है वो सिर्फ अपनी चेतना उन्नत में ध्यान केंद्रित करता है और वह अपनी इन्द्रियों का प्रत्याहार कर ध्यान-धारणा-समाधि में निरंतर अपनी जागरूकता में वृद्धि और “वास्तविक ज्ञान” में वृद्धि करता है (तत्त्व ज्ञान-आत्मज्ञान-ब्रह्मज्ञान के क्रम में)। उसके लिए इन्द्रिय विषय सुप्त (रात्रि) समान हों जाते हैं उस आत्मज्ञानी व्यक्ति के लिए अंतिम लक्ष्य चेतना को शुद्ध करना और व्यक्तिगत चेतना को सर्वव्यापक चेतना (ईश्वर) में रूपान्तरण करना होता है।

आत्मज्ञानी व्यक्ति को न पैसे से मतलब होता है न ही पद से, स्वयं की (आत्मा) चेतना में संतुष्ट रहता है। जब आत्मज्ञानी व्यक्ति इन्द्रियों का प्रयोग सांसारिक कर्म करने के लिए प्रयोग करता भी है तो यह जाग्रत(दिन) अवस्था उस आत्मज्ञानी व्यक्ति के लिए ज्यादा प्रयोजन नहीं रखती यह अवस्था आत्मज्ञानी व्यक्ति के लिए वैसे ही है जो सामान्य व्यक्तियों के लिए रात्रि के सम्मान होती है जो किसी भी प्रयोजन की नहीं होती। जब सामान्य व्यक्ति रात्रि के समय इन्द्रियों को बेसुध कर सो जाता और इन्द्रियों विषयों से संवेदना को तो रोक देता है लेकिन साथ ही जागरूकता भी खो देता है।

सामान्य व्यक्ति स्वयं की व्यक्तिगत चेतना के द्वारा इन्द्रियों (पाँच ज्ञान इन्द्रियों) एवं मन के माध्यम से इस त्रि-आयामी जगत को देखती, सुनती, महसूस, सूँघती, चखती है तथा प्रकृति

के तीन गुणों (सत्व, रजस, तमस) के आधार पर मन इसे महसूस करता है एवं ग्रहण करता है। व्यक्तिगत चेतना इसी को सम्पूर्ण सत्य मान कर मन को इन तीन गुणों में फँसा कर व्यक्ति से कार्य कराती रहती है। लेकिन सर्वव्यापक चेतना के शुद्ध आयाग को जानने वाला व्यक्ति मन को इन तीनों गुणों के परे ले जा कर तथा अहं का त्याग कर मन को शांत कर बुद्धि को स्थिर कर एवं चित् वृत्ति निरोध कर शुद्ध चेतना में स्थापित हो जाता है। आत्मज्ञानी व्यक्ति दिन में भी इन्द्रियों से प्रत्याहार कर पूर्ण जागरूकता के साथ ध्यान में जाग्रत अवस्था में रहता है।

श्लोक 70:

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥

अर्थ:-जैसे चारों ओर से जल से भरा हुआ, अचल और स्थिर समुद्र, नदियों के जल को अपने अंदर समा लेता है, पर विचलित नहीं होता, उसी प्रकार, सभी इच्छाएँ (भोग) जिस स्थितप्रज्ञ (ज्ञानी) पुरुष के अंदर बिना किसी विकार के समा जाती हैं। वही पुरुष परम शांति को प्राप्त करता है, न कि वह जो केवल इच्छाओं की पूर्ति चाहता है।

श्लोक 71:-

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निष्स्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥

अर्थ :-"जो मनुष्य सभी इच्छाओं (कामनाओं) का त्याग कर, लालसा रहित, ममता रहित और अहंकार रहित होकर जीवन जीता है, वही शांति (परम सुख) को प्राप्त करता है।

सार (श्लोक 70-71):- मन, बुद्धि, अहं, चित्त, इन्द्रियों द्वारा व्यक्ति प्रकृति के गुणों से प्रभावित होकर निरन्तर इच्छाओं और आसक्ति के साथ व्यक्ति संसार में फँसा रहता है। व्यक्ति मन बुद्धि, चित्त, अहं द्वारा निर्मित संसार को ही परम सत्य मानकर कर्म करता रहता है और शरीर मन की सीमाओं में बंधे रहने के कारण सर्वव्यापक चेतना या आत्मा की वास्तविकता से दूर रहता है। जब व्यक्ति अपनी चेतना को सर्वव्यापक चेतना/शुद्ध चेतना में रूपांतरित कर स्थितप्रज्ञ की अवस्था हासिल कर लेता है तब यह स्पष्ट हो जाता है की तुम

ही ब्रह्म (चेतना) हो तथा जो दृष्टा (observer) है वह तुम ही थे और जो दृश्य था वह भी तुम ही थे। इसके अलावा न कुछ था न कुछ है। **दृष्टा एवं दृश्य में भेद खत्म हो जाता है** जिस कारण वह सभी ओर से परिपूर्ण हो जाता है तथा मन में जो समय वृत्ति, ऊर्जा वृत्ति तरंग के रूप में विद्यमान है उसे पार कर समय से आदि मन पहुँच जाता जिसे यौगिक भाषा में **"निर्विकल्प समाधि"** (ब्राह्मी स्थिति) कहा जाता है। इस अवस्था में किसी प्रकार के भोग साधक को विचलित नहीं करते बल्कि वह स्वयं में सभी भोगों, इच्छाओं को समाहित करता है।

आयाम के आधार समझने पर जब ध्यान में मन पूर्ण शांत हो जाता है, जब मन में किसी प्रकार की कामना, इच्छा, ममता (आसक्ति) नहीं रहती और मन के तत्व के रूप में “अहं” को पूर्णतः त्याग देता है, किसी भी प्रकार के विचारों का प्रवाह रूक जाता है तब मन जिस परमचेतन अवस्था को प्राप्त होता है तब साधक जिस शुद्ध चेतना में प्रवेश करता है जहाँ न अतीत है, न भविष्य है केवल अब (Now) है जिसमें सब है। इस अवस्था में आप अनुभव करते हैं कि त्रिआयामी जगत के सभी क्रियाकलाप और चतुर्थ आयाम समय भी आपके भीतर है और आप स्वयं भौतिक जगत और समय से परे हैं जिसमें सभी निचले आयाम घटित हो रहे हैं। यह सर्वव्यापक चेतना की अवस्था सत्-चित्-आनंद कि स्थिति है जो किसी प्रकार का सुख नहीं है न ही दुःख है बल्कि यह सुख-दुःख से परे की स्थिति है जो अनंत अस्तित्व, अनंत चेतना, आनंद (समभाव) के साथ बिना विचलन के साक्षीभाव रूप में स्थित है और यही परम शांति की अवस्था है जो साधक को स्थितप्रज्ञ होने पर प्राप्त होती है।

श्लोक 72:-

**एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वाऽस्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥**

अर्थ :-हे पार्थ (अर्जुन)! यह ब्रह्म को प्राप्त हुए पुरुष की स्थिति है। इस स्थिति को प्राप्त करने के बाद कोई मोहित (भ्रमित) नहीं होता। यदि कोई व्यक्ति जीवन के अंत समय में भी इस ब्राह्मी स्थिति में स्थित रहता है, तो वह ब्रह्मनिर्वाण (ब्रह्म में लीन या मोक्ष) को प्राप्त कर लेता है!

सार:- जो ब्रह्मा (सर्वव्यापक चेतना) में विस्तृत हो जाता है वह स्वयं “ब्रह्म” बन जाता है। मुण्डक उपनिषद् में इसलिए कहा गया है “ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति” अर्थात् ब्रह्मा को जानने वाला स्वयं ब्रह्मा बन जाता है।

उपरोक्त परम शान्ति (सत्-चित्-आनंद), स्थितप्रज्ञ (स्थिर बुद्धि) की स्थिति ब्रह्म (सर्वव्यापक चेतना/शुद्ध चेतना) को प्राप्त पुरुष की होती है। यहाँ ब्रह्म सर्वव्यापक चेतना का वाचक है जो प्रत्येक अणु, प्रत्येक कोशिकाएँ, प्रत्येक जीव प्राणी, प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक पिंड, प्रत्येक ग्रह, प्रत्येक तारों, प्रत्येक आकाशगंगा, प्रत्येक ब्रह्मांडों में विद्यमान है। साथ ही सर्वव्यापक चेतना सभी ब्रह्मांडों में और इनसे परे भी विद्यमान है। यह किसी एक व्यक्ति, वस्तु या स्थान तक सीमित नहीं होती बल्कि हर जीव, पदार्थ, ऊर्जा, विचार के मूल में यही चेतना कार्यरत होती है। सर्वव्यापक चेतना पूर्ण जागरूकता की स्थिति है एवं एक ऐसी सर्वव्यापक बुद्धि जो हर चीज को जोड़ती एवं संचालित करती है। इसे शुद्ध चेतना (Pure Consciousness) भी कहते हैं। यह असीम, निराकार, कालातीत और स्थानातीत है। असीम (अनंत) उस अर्थ में है, जो हमारी व्यक्तिगत चेतना से परे है, जब तक कि आप अपनी व्यक्तिगत चेतना को सर्वव्यापी चेतना में नहीं बदल देते। निराकार (Formless) उस अर्थ में है, क्योंकि वह चेतना कोई रूप या वस्तु नहीं है। काल-स्थान (Time-space) से परे, वह (सर्वव्यापी चेतना) अन्य उच्च आयामों (higher dimensions) में अस्तित्व रखती है। यह गति या परिवर्तन का स्रोत है, लेकिन स्वयं अपरिवर्तनीय (not changeable) है। सभी ब्रह्मांड, प्राणी, समय, स्थान इसी चेतना में प्रकट होते हैं। सम्पूर्ण ब्रह्मांड में जो भी जीवजंतु, पेड़-पौधे, पंचतत्त्व उपस्थित हैं, उनमें घटित होने वाली पंचतन्मात्राएँ (शब्द, स्पर्श, रूप (दृश्य), रस (स्वाद), गंध) क्रियाएँ, मन की क्रियाएँ ये सभी सर्वव्यापक चेतना का हिस्सा हैं।

इस स्थित (ब्राह्मी स्थिति) में पहुँचा योगी कभी भी मोहित नहीं होता और ब्रह्मानन्द (सत्-चित्-आनंद) को प्राप्त होता है।

अध्याय - 3

कर्मयोग

यह अध्याय “कर्म योग” की विस्तृत व्याख्या करता है। इस अध्याय में कर्म के माध्यम से चेतना के विकास एवं व्यक्तिगत चेतना का सर्वव्यापक चेतना में रूपांतरण पर प्रकाश डाला है। इस कर्मयोग के अंतर्गत “निष्काम कर्म” और “समत्व भाव” सहित कर्म करने पर बल दिया गया है। “कर्म” का आशय इन्द्रियों को वश में करने वाले कर्म जो मन, बुद्धि को नियंत्रित एवं संतुलित कर स्थिर करे और ईच्छाओं, आसक्तियों को दूर करे। यह कर्म “धर्म” अनुरूप करने पर भी केंद्रित है जिसे इस अध्याय में “यज्ञ” की उपाधि दी गई है।

आपका ‘धर्म’ वही है जो आपकी चेतना को उन्नत करे, ‘कर्म’ वही है जो आपकी चेतना के अनुरूप हो चाहे वह कोई भी माध्यम हो। प्रत्येक व्यक्ति का प्रमुख लक्ष्य यही है कि वह “सत्-चित्-आनंद” स्वरूप को प्राप्त करे और चेतना को उन्नत करने की प्रक्रिया ही “हवन रूपी यज्ञ” है जिसमें मनुष्य शरीर में स्थित चेतना केन्द्रों को सक्रिय करना और सत्-चित्-आनंद स्वरूप में स्वयं को रूपांतरित करना सम्मिलित है जिसे इस अध्याय में “यज्ञ” उपाधि प्रदान की है।

सत्-चित्-आनंद सर्वव्यापक चेतना का वह स्वरूप है जो अनंत अस्तित्व (सत्) में, अनंत चेतनायुक्त (चित्), एवं आनंद के साथ सभी जगह व्याप्त है। आपको जो चेतना प्रदान की गई है वह धर्म (कर्तव्य) के लिये प्रदान की गई और उसी अनुरूप कर्म ही “वास्तविक कर्म” है। सर्वव्यापक चेतना ने अनंत संभावनाओं के साथ अनंत प्राणी समुदाय बनाये हैं जिनके अलग-अलग धर्म (कर्तव्य) हैं। उस अनंत संभावनाओं में अनंत प्राणियों में एक आप भी हैं जिनके लिये भी धर्म (कर्तव्य) का निर्धारण किया गया है। इसलिये स्वयं की चेतना के मूल धर्म को समझ कर कर्म किया जाना ही आपका वास्तविक धर्म-कर्म है। प्रत्येक मनुष्य के लिये अलग-

अलग धर्म है जिसमें चेतना को उन्नत करना, आनंद पाने की सभी संभावनायें है बशर्ते उस धर्म को प्रकृति के गुणों, शरीर, मन से परे जाकर समझने की जरूरत है।

प्रत्येक व्यक्ति कुछ न कुछ कर्म कर रहा है लेकिन चेतना को उन्नत करना और स्वयं की चेतना का शुद्ध चेतना या सर्वव्यापक चेतना में रूपांतरण करना सभी सकाम कर्म करने से श्रेष्ठ है जो यज्ञ के समान पवित्र क्रिया है। कर्मयोग में व्यक्ति को इस प्रक्रिया (व्यक्तिगत चेतना को सर्वव्यापक चेतना में रूपांतरण) में “मन और इन्द्रियों के विषयों” को नियंत्रित और संतुलित करने पर भी बल दिया गया है क्योंकि बिना इनके नियंत्रण के चेतना को उन्नत करना और चेतना को शुद्ध करना संभव नहीं है।

इस अनुक्रम में जब अर्जुन रूपी व्यक्ति चेतना के विकास और आत्मबोध के मार्ग पर अग्रसर होता है, तो उसके भीतर भी एक द्वंद्व उत्पन्न होता है। वह विचार करता है कि चेतना का रूपांतरण करना तथा इसके लिए मन और इन्द्रियों के विषयों पर नियंत्रण स्थापित करना भी कहीं न कहीं एक उद्देश्यपूर्ण प्रयास है, अर्थात् क्या यह भी सकाम कर्म की श्रेणी में नहीं आता?

इसी आंतरिक द्वंद्व को समाप्त करने के लिए गुरु रूपी, शुद्ध चेतना में स्थित कृष्ण अर्जुन रूपी साधक का मार्गदर्शन करते हैं। वे उसे समझाते हैं कि कर्म का बंधन केवल कर्म करने से नहीं, बल्कि उसके प्रति आसक्ति और फल की कामना से उत्पन्न होता है।

अनेक व्यक्ति कर्मयोग रूपी निष्काम कर्म और ज्ञानयोग रूपी आत्मज्ञान एवं ब्रह्मज्ञान को अलग-अलग मार्ग मानते हैं, जबकि वास्तव में दोनों एक ही सत्य के दो पहलू हैं। कर्मयोग व्यक्ति को कर्म करते हुए आसक्ति से मुक्त करता है, जबकि ज्ञानयोग उसे उसके वास्तविक स्वरूप का बोध कराता है। एक बाहरी कर्मों को शुद्ध करता है और दूसरा आंतरिक चेतना को प्रकाशित करता है।

इन सभी योग मार्गों का मूल मर्म अंततः एक ही है— मन (Mind) को शांत करना, मन में उत्पन्न होने वाली अनियंत्रित विचार-तरंगों, ऊर्जा-तरंगों और कालबोध से उत्पन्न मानसिक तरंगों को शांत कर चेतना को सर्वव्यापक चेतना की ओर मोड़ना।

जब मन शांत होता है, तब साधक को यह ज्ञान प्राप्त होता है कि “तुम ही ब्रह्म हो, तुम ही शुद्ध चेतना हो।” तब दृष्टा (Observer) और दृश्य (Observed) का भेद समाप्त होने लगता है। साधक अनुभव करता है कि जो देखने वाला था, वह भी वही था और जो देखा जा रहा था, वह भी उसी चेतना की अभिव्यक्ति था। अंततः द्वैत का आवरण हटने पर केवल एक ही सत्य शेष रहता है—न इसके अतिरिक्त कुछ था, न कुछ है और न कुछ अलग हो सकता है; सर्वत्र वही एक शुद्ध, सर्वव्यापक चेतना विद्यमान है।

व्यक्ति एवं सभी जीव-प्राणी प्रकृति के गुणों और धर्मों के अनुसार कर्म करने के लिए बाध्य हैं। जैसे—श्वास लेना, भूख लगना, ज्ञानेंद्रियों द्वारा बाहरी संसार से सूचनाएँ ग्रहण करना तथा प्राप्त सूचनाओं के आधार पर मन और बुद्धि द्वारा संकल्प-विकल्प के माध्यम से निर्णय लेना। ये सभी प्रक्रियाएँ प्रकृति के स्वाभाविक नियमों के अंतर्गत निरंतर चलती रहती हैं।

परंतु इन स्वाभाविक कर्मों के साथ-साथ यदि व्यक्ति अपनी चेतना को उन्नत करने में सफल होता है, तो उसके भीतर एक गहन मानसिक एवं आध्यात्मिक युद्ध प्रारंभ होता है। इस अवस्था में उसे अपने कर्मक्षेत्र में स्थित रहते हुए अपने स्वधर्म अर्थात् वास्तविक कर्तव्य को पहचानना और उसका पालन करना आवश्यक होता है। चेतना का विकास व्यक्ति को कर्म से दूर नहीं करता, बल्कि उसे कर्म के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान कराता है। तब व्यक्ति मोह, भय, आसक्ति और व्यक्तिगत स्वार्थ से प्रेरित होकर कर्म नहीं करता, बल्कि जागरूकता और उच्च चेतना के साथ अपने वास्तविक कर्तव्य का निर्वहन करता है। यही मानसिक-आध्यात्मिक युद्ध में विजय प्राप्त करने तथा कर्मयोग के माध्यम से आत्मिक उन्नति का मार्ग है।

इस अध्याय में स्पष्ट किया गया है कि इन्द्रिय-विषय और मन की वृत्तियाँ व्यक्ति के स्वाभाविक जीवन का अभिन्न अंग हैं। ये व्यक्ति को सांसारिक क्रियाकलापों में भाग लेने, अपने आसपास के वातावरण के साथ अंतःक्रिया करने तथा अपने अस्तित्व और अनुभवों को समझने में सहायता करती हैं।

इन्द्रियों और मन का बलपूर्वक त्याग कर देने मात्र से उनका प्रभाव समाप्त नहीं होता, क्योंकि बाहरी रूप से विषयों का त्याग करने के बावजूद मन और इन्द्रियाँ

व्यक्ति के भीतर सक्रिय रहते हैं तथा विषयों का चिंतन करते रहते हैं। इसलिए गीता में इन्द्रियों के पूर्ण दमन या बलात् त्याग के स्थान पर उनके संतुलित नियंत्रण और विवेकपूर्ण संचालन पर बल दिया गया है।

जब मन इन्द्रिय-विषयों के आकर्षण और अनियंत्रित इच्छाओं के कारण अस्थिर होता है, तब व्यक्ति अनेक अनावश्यक कर्मों, आसक्तियों और मानसिक संघर्षों में उलझ जाता है। इसके विपरीत, जब मन और इन्द्रियाँ संतुलित एवं नियंत्रित होती हैं, तब व्यक्ति अपनी ऊर्जा को व्यर्थ के कर्मों में खर्च करने के स्थान पर अपने वास्तविक कर्म, कर्तव्य और स्वधर्म की ओर केंद्रित कर सकता है।

गीता का यह अध्याय व्यक्ति को कर्म से विमुक्त करने के लिए नहीं, बल्कि उसे अनियंत्रित मानसिक और इन्द्रियगत प्रवृत्तियों से मुक्त करके उसके वास्तविक कर्म-धर्म की ओर प्रवृत्त करने के लिए मार्गदर्शन प्रदान करता है। यही कर्मयोग का मूल उद्देश्य है—मन की अस्थिरता के बीच भी संतुलन बनाए रखते हुए जागरूकता और निष्काम भाव से अपने वास्तविक कर्तव्य का पालन करना है।

अर्जुन उवाच

श्लोक 1:-

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥ 1॥

अर्थ :-अर्जुन ने कहा: हे जनार्दन! यदि आप कर्म से ज्ञान को श्रेष्ठ मानते हैं, तो फिर हे केशव! मुझे इस भयंकर कर्म (युद्ध) में क्यों लगा रहे हैं?

सार:-अर्जुन यहाँ आप (साधक) ही है जो पूर्व के अध्यायों को पढ़कर यह प्रश्न उठा सकते हैं कि “जब शुद्ध चेतना का ज्ञान श्रेष्ठ है और स्वयं की चेतना को जानना महत्वपूर्ण है तो फिर भयंकर कर्म रूपी इन्द्रियों को वश में करने वाले कर्म और ईच्छाओं, आसक्तियों को दूर करने वाले कर्म पर क्यों बल दिया जा रहा है।

इसके लिए जनार्दन रूपी गुरु, तथा मार्गदर्शन प्रदान करने वाले शुद्ध चेतना को प्राप्त कृष्ण से अर्जुन रूपी साधक यह स्वाभाविक प्रश्न करता है। जब साधक ध्यान और आत्मिक

उन्नति के क्रम में शुद्ध चेतना की ओर अग्रसर होता है, तब उसके भीतर भी अर्जुन के समान अनेक प्रश्न और द्वंद्व उत्पन्न होते हैं।

साधक के लिए मन को वश में करना और इन्द्रिय-विषयों पर नियंत्रण स्थापित करना अत्यंत कठिन कार्य प्रतीत होता है। विशेष रूप से तब, जब इस मार्ग पर आगे बढ़ने के लिए उसे सांसारिक इच्छाओं, आसक्तियों, भय, मोह और अहंकार के प्रभाव से मुक्त होने का प्रयास करना पड़ता है। चेतना के रूपांतरण की यह प्रक्रिया साधक को कभी-कभी अत्यंत कठिन और संघर्षपूर्ण प्रतीत होती है।

यहीं से साधक के भीतर **मानसिक एवं आध्यात्मिक संघर्ष** प्रारंभ होता है। एक ओर उसका मन पुरानी इच्छाओं, संस्कारों और इन्द्रिय-विषयों की ओर आकर्षित होता है, जबकि दूसरी ओर उसकी उन्नत होती चेतना उसे आत्मबोध और शुद्ध चेतना की दिशा में अग्रसर होने के लिए प्रेरित करती है।

इसी आंतरिक संघर्ष के उत्तर प्राप्त करने की इच्छा से साधक रूपी अर्जुन, गुरु रूपी कृष्ण के समक्ष प्रश्न करता है। उसका प्रश्न केवल युद्धभूमि में खड़े एक योद्धा का प्रश्न नहीं है, बल्कि प्रत्येक उस साधक का प्रश्न है जो जीवन के कुरुक्षेत्र में रहते हुए मन, इन्द्रियों, इच्छाओं और अहंकार पर विजय प्राप्त कर अपने वास्तविक स्वरूप को जानना चाहता है।

सर्वव्यापक चेतना (शुद्ध चेतना) में स्वयं की चेतना का रूपांतरण या ईश्वर (परमात्मा) प्राप्त करना भी तो एक प्रकार से “सकाम कर्म” ही है तो फिर ऐसा कर्म करने के लिए क्यों बल दिया जा रहा है जो मन, इन्द्रियों रूपी अन्य सकाम कर्म तो त्याग करना पड़े। जब पाप-पुण्य, लाभ-हानि, सही-गलत, सत्व-तमस् का स्रोत ही सर्वव्यापक चेतना है तो सभी कर्म भी उसी सर्वव्यापक चेतना की योजना है तो व्यक्ति की इच्छाएँ, विषयों से आसक्तियाँ, मन के कार्य, इन्द्रियों के विषय, बुद्धि के संकल्प-विकल्प, अहं की प्रधानता इत्यादि भी तो सर्वव्यापक चेतना द्वारा प्रेरित है तो फिर मुझे (अर्जुन) को कौरव की सेना रूपी सांसारिक इच्छा, आसक्ति, काम, क्रोध, लोभ, अहं, बुरे संस्कार, ईर्ष्या, बुरी आदतों को मारने के कर्म में क्यों लगाया जा रहा है।

अर्जुन रूपी व्यक्ति (साधक) को धर्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्र में कौरव की सेना रूपी सांसारिक इच्छा, आसक्ति, काम, क्रोध, लोभ, अहं, बुरे संस्कार, ईर्ष्या, बुरी आदतों से युद्ध करने के कर्म में लगाया जा रहा है। जिस कारण अर्जुन (साधक) अभी भी असमंजस में है कि वह चेतना

को उन्नत करे (आत्म ज्ञान एवं ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करे) या कर्म रूपी इन्द्रियों को वश में करने वाले कर्म जो मन, बुद्धि को नियंत्रित एवं संतुलित कर स्थिर और ईच्छाओं, आसक्तियों को दूर करे। यहाँ अर्जुन रूपी व्यक्ति अभी भी ज्ञान योग और कर्म योग के मर्म तत्व को नहीं समझ पाया है और दोनों मार्गों को अलग-अलग देख रहा है।

श्लोक 2:-

**व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकम वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥**

अर्थ :-"आपके मिले-जुले (अस्पष्ट) वचनों से मेरी बुद्धि मोहग्रस्त हो गई है। अतः आप कृपा करके मुझे वह एक निश्चित मार्ग बताएँ, जिससे मैं परम कल्याण (प्राप्त कर सकूँ।

सार:- यहाँ अर्जुन रूपी साधक ज्ञानयोग और कर्मयोग के वास्तविक मर्म को पूर्ण रूप से स्पष्ट नहीं समझ पाने के कारण संशय में पड़ जाता है। द्वितीय अध्याय में श्रीकृष्ण ने आत्मज्ञान, बुद्धियोग के माध्यम से उस अवस्था का वर्णन किया था, जिसमें व्यक्ति अपनी चेतना को आत्मबोध की दिशा में विकसित करता है और निरंतर उसी योग में स्थित रहता है। इस दृष्टि से चेतना के उच्चतर रूपांतरण की प्रक्रिया को श्रेष्ठ कर्म के रूप में समझाया गया, जबकि व्यक्तिगत इच्छाओं और फल की कामना से प्रेरित कर्मों को अपेक्षाकृत निम्न माना गया।

यहीं अर्जुन के भीतर एक गहरा दार्शनिक द्वंद्व उत्पन्न होता है। वह विचार करता है कि यदि सकाम कर्म का अर्थ किसी इच्छा या परिणाम की प्राप्ति के लिए किया गया कर्म है, तो स्वयं की चेतना का रूपांतरण करना, शुद्ध चेतना की प्राप्ति का प्रयास करना अथवा परमात्मा की प्राप्ति की आकांक्षा रखना भी क्या किसी उद्देश्य से प्रेरित कर्म नहीं है?

इसी संशय के कारण अर्जुन की बुद्धि मोहग्रस्त हो जाती है। उसके लिए ज्ञानयोग और कर्मयोग दो अलग-अलग मार्गों के समान प्रतीत होने लगते हैं। इसलिए वह कृष्ण रूपी गुरु और शुद्ध चेतना से निवेदन करता है कि वे उसे एक निश्चित और स्पष्ट मार्ग बताएँ, जिस पर चलकर वह परम कल्याण को प्राप्त कर सके।

अर्जुन का यह प्रश्न वास्तव में प्रत्येक साधक के भीतर उत्पन्न होने वाला प्रश्न है। जब साधक सांसारिक इच्छाओं और आसक्तियों से ऊपर उठने का प्रयास करता है, तब उसके सामने

यह द्वंद्व उपस्थित होता है कि इच्छाओं से मुक्त होने की इच्छा स्वयं एक इच्छा है या नहीं?

इसी मानसिक एवं आध्यात्मिक संशय का समाधान करने के लिए श्रीकृष्ण आगे कर्मयोग के सिद्धांत को स्पष्ट करते हैं और बताते हैं कि वास्तविक मुक्ति कर्म के त्याग से नहीं, बल्कि **कर्म के प्रति आसक्ति और उसके फल की कामना के त्याग से प्राप्त होती है।** इस प्रकार चेतना की उन्नति के लिए किया गया कर्म, जब व्यक्तिगत स्वार्थ और फलासक्ति से मुक्त होकर किया जाता है, तब वह साधारण सकाम कर्म न रहकर **कर्मयोग का रूप धारण कर लेता है।**

इसी प्रकार पूर्व अध्याय में जब ज्ञान योगी (स्थिरबुद्धि पुरुष) **द्वैत सिद्धांत (dualism concept) और सापेक्ष सिद्धांत (relative concept)** जैसे सही -गलत, लाभ-हानि, सुख-दुख जैसे विषयों में न आसक्ति रखता न विरक्ति रखता तो फिर क्यों मन को इन्द्रियों विषयों जैसे सुख-दुख, लाभ-हानि, सही -गलत को त्यागने पर बल दिया जा रहा है यह कार्य भी तो **द्वैत प्रकृति (dual nature)** का ही है। जब सभी कर्म प्रकृति द्वारा किए जाते हैं तो फिर अर्जुन रूपी व्यक्ति इच्छा, मन की वृत्ति भी तो प्रकृति द्वारा निर्धारित है।

इसी प्रकार अध्याय 2 के श्लोक 55 में सम्पूर्ण कामनाओं को त्याग कर आत्मा में ही संतोष करना श्रेष्ठ है तो फिर ईश्वर प्राप्त करने या चेतना रूपांतरण करने का “मोह” किसलिए किया जाए, ईश्वर (सर्वव्यापक चेतना) को प्राप्त करना भी तो एक प्रकार का मोह ही है और चेतना को उन्नत कर व्यक्ति स्वयं को उच्च कंपन आवृत्ति वाले भाव (स्वर्ग) में स्वयं को ले भी आता है तो पूर्व अध्याय के श्लोक 42 में इस लोक (वर्तमान स्थिति) और परलोक (अन्य चेतना कंपन आवृत्ति) के आयामों से वैराग्य प्राप्त करने के संबंध में क्यों वचन कहे गए।

ऐसे कई प्रश्न के स्पष्ट न उत्तर प्राप्त न होने से अर्जुन रूपी साधक की बुद्धि भ्रमित एवं सांसारिक ईच्छाओं, इन्द्रिय विषयों के प्रति मोहित हो जाती है। जब साधक ध्यान में बढ़ता है तो स्वाभाविक इस प्रकार के द्वन्द्वों से उसकी बुद्धि भ्रमित हो जाती है और इन द्वन्द्वों को स्पष्ट कर एक कल्याणकारी मार्ग चाहने के उद्देश्य से स्पष्टता चाहता है। यही अर्जुन का मानसिक-आध्यात्मिक भ्रम को दूर करने के लिए इस श्लोक को इस अध्याय में प्रस्तुत किया गया है।

श्लोक 3:-

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥

अर्थ:-श्री भगवान श्री कृष्ण ने कहा: "हे निष्पाप अर्जुन! पहले मैंने इस जगत में दो प्रकार की निष्ठा (मार्ग) बताई हैं - ज्ञान योग (ज्ञान का मार्ग) सांख्य (ज्ञानियों) के लिए, और कर्म योग (कर्म का मार्ग) योगियों (कर्म करने वालों) के लिए ।

सार:- इस श्लोक में गुरु रूपी कृष्ण जिसने शुद्ध चेतना को प्राप्त कर लिया है वे अर्जुन रूपी साधक को संबोधित करते हुए दो प्रकार के मार्ग जिससे “योग” को प्राप्त किया जा सकता है, का वर्णन पुनः स्मरण हेतु बताते हैं जिनका वर्णन पूर्व के अध्याय में किया गया है जिससे अर्जुन रूपी साधक का भ्रम दूर किया जा सके।

व्यक्ति जन्म के साथ शरीर, मन बुद्धि को प्राप्त करता है, व्यक्ति इन दोनों माध्यम से चेतना को शुद्ध कर सकता है । बुद्धि के स्तर पर **ज्ञानीजन (सांख्ययोगी)** विवेकशीलता और बुद्धि (intelligence) के माध्यम से स्वयं की चेतना को उन्नत कर सर्वव्यापक चेतना में रूपांतरित करते हैं और “योग “ को प्राप्त होते हैं लेकिन यह विवेकशीलता और बुद्धि का प्रयोग कम ही लोग कर पाते हैं वही दूसरी ओर शरीर, मन के स्तर पर कर्म कर जिसमें इन्द्रियों का प्रत्याहार, मन नियंत्रण, सक्रिय ध्यान द्वारा व्यक्ति चेतना को उन्नत कर शुद्ध चेतना (ईश्वर) को प्राप्त होता है । **शरीर के स्तर पर “कर्मयोग” और बुद्धि के स्तर पर “ज्ञानयोग”** ऐसे दो मुख्य मार्ग हैं जिससे व्यक्ति की चेतना को सर्वव्यापक चेतना में रूपांतरित किया जा सकता है ।

दोनों निष्ठाओं को पुनः याद दिलाने के लिए दोनों योग मार्ग को पुनः इस श्लोक में बताया जा रहा है जिससे पाठकों को पुनः स्मृति को ताज़ा किया जा सके ।

1. कर्मयोग- कर्मयोग शरीर के माध्यम से ऐसा कर्म या कार्य जिससे मन की तरंग शांत हो जाए या कहे मन का शुद्धिकरण हो जाता है ताकि व्यक्ति अपनी आभासी चेतना या निम्न चेतना को उच्च वास्तविक चेतना से जोड़ पाएँ जिसे आत्मा या उच्च स्व (Higher self) कहा जाता है तथा अंततः सर्वव्यापक चेतना तक पहुँच सके। इसके लिए जरूरी है कि मन को इस स्तर पर पहुँचाना कि मन किसी वस्तु के

प्रति आसक्त (Attach) न हो न ही किसी कार्य के फल के प्रति उसकी भावना न रहे और किसी भी कार्य को फल की इच्छा से करने की प्रवृत्ति न रहे, तभी मन शांत हो पाएगा। मन को शांत कर और अहं का त्याग करते हुए यह जान पाएगा कि सभी कर्म सर्वव्यापक चेतना (omnipresent Consciousness) द्वारा हो रहे हैं जिससे वह चेतना के कर्म के स्वरूप को समझ पाएगा। गीता में लेख है। "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन" अर्थात् तुम्हें कर्म करने का अधिकार है, फल का नहीं।

कर्मयोग के अंतर्गत “निष्काम कर्म” को एक साधन के रूप में लिया जा सकता है जिसमें फल की इच्छा का त्याग कर कर्म को कर्तव्य भाव से कर सफलता एवं असफलता से विचलित हुए बिना कर्म करने पर बल देता है जिसका उद्देश्य अहं भाव का त्याग, मन के विचलन को दूर करना तथा सर्वव्यापक चेतना को ही कर्ता समझना। इस प्रक्रिया के निरंतर अभ्यास से व्यक्ति का मन त्रि-आयामी दृश्य जगत से हटकर सभी कर्मों के पीछे चेतना की प्रज्ञा (Intelligence) को जानना तथा प्रकृति के तीन गुण (सत्व, तमस, रजस) के बलों (forces) को समझना।

इसी प्रकार कर्मयोग में 'मंत्र जाप' और 'नाम जप' ऐसी प्रक्रिया है जो मन को सांसारिक आकर्षण एवं विकर्षण से दूर मन को परम चेतना के स्तर तक विस्तारित करना तथा दिव्य आनन्द की अनुभूति कराता है। निरंतर नाम जप, मंत्र जप से मन एकाग्र तो होता ही है लेकिन धीरे-धीरे नाम या मंत्र विलीन होकर मन को चेतना के उस क्षेत्र में प्रवेश दिलाते हैं जहाँ से सभी 'अक्षर' उत्पन्न हुए हैं। अक्षर विचार रूप में हैं और विचार ऊर्जा-तरंग रूप में हैं और ऊर्जा “कंपन” के रूप में हैं और कंपन का जो स्रोत है वह सर्वव्यापक चेतना है। अतः नामजप और मंत्रजप सर्वव्यापक चेतना के स्रोत तक पहुँचने का मार्ग है। हालांकि भक्ति भाव में भी भगवान के नामों के एवं मंत्रों के जाप पर बल दिया जाता है जिसे भक्ति योग के अंतर्गत भी सम्मिलित करते हैं।

इस तरह कर्मयोग में 'समत्व भावना' में व्यक्ति को सभी स्थिति में (सुख-दुःख, लाभ-हानि, सफलता- असफलता) में समान भावरखने का प्रयास करने की साधना की जाती है ताकि मन के असंतुलन को दूर कर मन को सर्वव्यापक चेतना

में स्थापित करने तथा त्रि-आयामी जगत की सीमित प्रज्ञा (Limited Intelligence) को उच्च चेतना की प्रज्ञा में स्थित करना लक्ष्य होता ।

2. ज्ञानयोग(सांख्य योग):- यह योग “ज्ञान” के द्वारा “व्यक्तिगत चेतना” को “सर्वव्यापक चेतना” में रूपान्तरित करने का योग है जिसे सामान्य अर्थों में “आत्मा” के ज्ञान के द्वारा “मोक्ष” प्राप्त का योग कहा जाता है । मनुष्य की विवेकशील बुद्धि द्वारा स्वयं के वास्तविक स्वरूप को पहचानने की प्रक्रिया। बुद्धि का मुख्य कार्य प्राप्त सूचनाओं, अनुभवों और विचारों का विश्लेषण करना तथा सत्य और असत्य, स्थायी और अस्थायी, आत्मा और अनात्मा के बीच भेद करना है।

मन इन्द्रियों से प्राप्त होने वाली सूचनाओं के आधार पर निरंतर संकल्प-विकल्प करता रहता है, जबकि बुद्धि उन विकल्पों का विवेकपूर्ण परीक्षण कर निर्णय लेने का कार्य करती है। ज्ञानयोग में बुद्धि का उपयोग मन और इन्द्रियों के पीछे चलने के बजाय उन्हें समझने और उनका निरीक्षण करने के लिए किया जाता है यही ज्ञानयोग बुद्धि को एक महत्वपूर्ण प्रश्न की ओर ले जाता है—“मैं वास्तव में कौन हूँ?”

प्रारंभ में व्यक्ति स्वयं को शरीर, मन, विचार, बुद्धि, सामाजिक पहचान और अनुभवों के साथ जोड़कर देखता है। किंतु विवेक और आत्मचिंतन के माध्यम से बुद्धि इन सभी परिवर्तनीय अवस्थाओं का निरीक्षण करती है। जब बुद्धि यह समझने लगती है कि जो वस्तु निरंतर बदल रही है, वह व्यक्ति का अंतिम और शाश्वत स्वरूप नहीं हो सकती, तब उसमें आत्मज्ञान की दिशा विकसित होती है।

इस प्रकार बुद्धि ज्ञानयोग के माध्यम से दृश्य और दृष्टा के बीच अंतर करना सीखती है। शरीर दृश्य है, विचार दृश्य हैं, भावनाएँ दृश्य हैं और बुद्धि के निर्णय भी अनुभव के विषय बन सकते हैं। इन सभी परिवर्तनों को जानने वाली चेतना (दृष्टा) को साधक अपने वास्तविक स्वरूप के रूप में पहचानने का प्रयास करता है।

ज्ञानयोग बुद्धि को इस विवेक तक पहुँचाता है कि मनुष्य का वास्तविक स्वरूप केवल शरीर, मन और बुद्धि तक सीमित नहीं है। बुद्धि जब इस सत्य को स्थिर रूप

से समझकर मन को उसी दिशा में स्थिर करती है, तब व्यक्ति का ध्यान बाहरी विषयों से हटकर आत्मस्वरूप की ओर उन्मुख होने लगता है।

ज्ञानयोग बुद्धि की उस यात्रा का नाम है, जिसमें बुद्धि बाहरी संसार को जानने से आगे बढ़कर स्वयं जानने वाले को जानने का प्रयास करती है। यही विवेक धीरे-धीरे व्यक्ति को आत्मज्ञान और शुद्ध चेतना की अनुभूति की दिशा में ले जाता है। सांख्य योग का मुख्य उद्देश्य व्यक्ति में विवेक उत्पन्न करना है—कि वह नित्य और अनित्य, स्थायी और अस्थायी, दृष्टा और दृश्य के बीच अंतर को समझ सके।

श्लोक 4:-

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्रुते ।

न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥

अर्थ :-मनुष्य न तो कर्मों का आरंभ किए बिना निष्कर्मता (यानी योग निष्ठा को प्राप्त होता है, और न ही केवल कर्मों के त्याग मात्र से सिद्धि (ज्ञाननिष्ठा) को प्राप्त करता है।

सार:-मनुष्य केवल कर्मों का आरंभ न करके निष्कर्मता अथवा योगनिष्ठा को प्राप्त नहीं कर सकता और न ही केवल बाहरी रूप से कर्मों का त्याग कर देने मात्र से सिद्धि अथवा ज्ञाननिष्ठा प्राप्त कर सकता है। व्यक्ति मन, बुद्धि और इन्द्रियों की चंचलता को नियंत्रित करने वाले कर्मों का अभ्यास किए बिना अपने भीतर शुद्धता और स्थिरता उत्पन्न नहीं कर सकता। इन्द्रियों की आसक्ति, अहंकार तथा पूर्व संस्कारों से उत्पन्न प्रवृत्तियों पर विजय पाने के लिए व्यक्ति को सजग और अनुशासित कर्म करने आवश्यक हैं। इन्हीं कर्मों के माध्यम से साधक धीरे-धीरे निष्काम कर्म और समत्वभाव की अवस्था की ओर अग्रसर होता है।

इसी प्रकार केवल कर्मों का त्याग कर देना, संसार से दूर हो जाना अथवा मन और इन्द्रियों के विषयों को बलपूर्वक शून्य करने का प्रयास करना मात्र वास्तविक ज्ञान अथवा आत्मज्ञान प्रदान नहीं करता। बाहरी कर्मों के त्याग के बावजूद मन के भीतर विचार, इच्छाएँ और संस्कार सक्रिय रह सकते हैं। यहाँ मुख्य बात यह समझना आवश्यक है कि व्यक्ति को अपनी व्यक्तिगत चेतना को व्यापक चेतना के अनुभव की दिशा में विकसित करने के लिए

कर्म करना आवश्यक है। ध्यान, आत्मचिंतन, इन्द्रिय-संयम और अपने स्वधर्म का पालन—ये सभी चेतना के रूपांतरण की प्रक्रिया में सहायक कर्म हैं।

चाहे मार्ग **कर्मयोग** का हो या **ज्ञानयोग** का, दोनों में साधक के लिए सजग प्रयास और साधना आवश्यक है। कर्मयोग के माध्यम से व्यक्ति कर्म करते हुए निष्कामता और समत्वभाव विकसित करता है, जबकि ज्ञानयोग के माध्यम से वह विवेक और आत्मचिंतन द्वारा अपने वास्तविक स्वरूप को समझने का प्रयास करता है। जब निरंतर साधना और जागरूक कर्म के द्वारा मन की चंचल वृत्तियाँ शांत होने लगती हैं और बुद्धि स्थिर तथा विवेकपूर्ण हो जाती है, तब व्यक्ति बाहरी परिस्थितियों से कम विचलित होता है। इसी आंतरिक स्थिरता में साधक **आत्मज्ञान और ब्रह्मज्ञान के अनुभव की दिशा में अग्रसर होता है।**

कर्मयोग और ज्ञानयोग भिन्न मार्ग प्रतीत हो सकते हैं, किंतु दोनों का आधार सजग साधना और कर्म है—कर्म से मन शुद्ध होता है, समत्व विकसित होता है और अंततः स्थिर बुद्धि साधक को आत्मबोध की दिशा में ले जाती है। चाहे आप कर्म योग का मार्ग अपनाएँ या ज्ञान योग का मार्ग का अपनाएँ एक समय पश्चात ये दोनों मार्ग एक हो जाते हैं और इन दोनों योग के मूलभूत तत्व आपकी चेतना में समाहित होने लगते हैं। कहने के लिये ये मार्ग अलग - अलग दिखाई पड़ते हैं लेकिन इन योग मार्ग पर आगे बढ़ने पर सभी योग आपकी चेतना में एक साथ घटित होने लगते हैं।

लेकिन इसके लिए केवल कर्म भी करना ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि **सही दिशा में कर्म करना आवश्यक है।** न तो कर्म न करने से और न ही केवल कर्मों का बाहरी त्याग कर देने से व्यक्ति कर्मयोग अथवा ज्ञानयोग की वास्तविक अवस्था को प्राप्त कर सकता है। चाहे साधक का मार्ग कर्मयोग के माध्यम से **निष्काम कर्म और समत्वभाव** को विकसित करने का हो अथवा ज्ञानयोग के माध्यम से **सत्य एवं आत्मज्ञान** को प्राप्त करने का, दोनों मार्गों का अंतिम उद्देश्य चेतना का उन्नयन ही है।

अंततः ये सभी योग मार्ग साधक की व्यक्तिगत चेतना को उच्चतर अवस्था की ओर ले जाते हैं और उसे उस स्थिति तक पहुँचाने का प्रयास करते हैं, जहाँ मन के संकल्प-विकल्प शांत हो जाते हैं। इस अवस्था को साधना की भाषा में **निर्विकल्प समाधि** की दिशा में अग्रसर होना कहा जा सकता है, जहाँ साधक स्वयं को सर्वव्यापक चेतना के साथ एकत्व

के अनुभव की ओर बढ़ता हुआ अनुभव करता है। इसी एकत्व की अवस्था को योग कहा गया है।

इस योग को प्राप्त करने के साधन भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, परंतु उनका साध्य एक ही है। कर्मयोग कर्म को शुद्ध करके चेतना को उन्नत करता है, जबकि ज्ञानयोग विवेक और आत्मबोध के माध्यम से उसी सत्य की ओर ले जाता है। इसलिए इस श्लोक में कर्म के केवल आरंभ पर नहीं, बल्कि सही दिशा में कर्म करने पर बल दिया गया है।

जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया गया है, साधना की दृष्टि से वह कर्म सार्थक है जो व्यक्ति की चेतना को उन्नत करे। इसके लिए ऐसे कर्मों का अभ्यास आवश्यक है जो इन्द्रियों को संयमित करें, मन और बुद्धि को नियंत्रित एवं संतुलित करें, उन्हें स्थिरता प्रदान करें तथा अनावश्यक इच्छाओं और आसक्तियों के प्रभाव को कम करें।

यदि व्यक्ति इन आवश्यक साधनात्मक कर्मों को करता ही नहीं अथवा उनका त्याग कर देता है, तो वह किसी भी योगमार्ग में वास्तविक रूप से आगे नहीं बढ़ सकता। इसलिए कर्म का आरंभ आवश्यक है—परंतु ऐसा कर्म, जो केवल बाहरी गतिविधि न होकर साधक के भीतर शुद्धता, संतुलन, समत्व और चेतना के उन्नयन का माध्यम बने।

श्लोक 5:-

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म प्रकृतिजैर्गुणैः॥

अर्थ :-निश्चित रूप से, कोई भी मनुष्य किसी भी समय, एक क्षण के लिए भी कर्म किए बिना नहीं रहता है। हर कोई प्रकृति से उत्पन्न गुणों के अनुसार असहाय होकर कर्म करने के लिए विवश है।

सार:- इस श्लोक में व्यक्ति के शरीर और मन के स्तर पर कर्म की अनिवार्यता तथा कर्म करने की उसकी स्वतंत्रता की सीमाओं को स्पष्ट किया गया है। यह सर्वविदित है कि मनुष्य जन्म से मृत्यु तक किसी न किसी रूप में निरंतर कर्म करता रहता है। वह एक क्षण के लिए भी पूर्णतः कर्मरहित नहीं रह सकता।

शारीरिक स्तर पर श्वास लेना, भोजन करना, चलना, बोलना तथा शरीर की विभिन्न जैविक क्रियाएँ निरंतर चलती रहती हैं। इसके अतिरिक्त मन और इन्द्रियों के स्तर पर भी व्यक्ति निरंतर कर्मशील रहता है। जाग्रत अवस्था में मन विचार करता है, स्मृतियों और कल्पनाओं का निर्माण करता है, जबकि इन्द्रियाँ देखती, सुनती, सूँघती, स्पर्श का अनुभव करती और स्वाद ग्रहण करती हैं।

अर्थात् व्यक्ति केवल बाहरी कर्म ही नहीं करता, बल्कि उसके भीतर भी विचारों, भावनाओं, इच्छाओं और संकल्प-विकल्प के रूप में निरंतर कर्म होते रहते हैं। इन सभी क्रियाओं पर व्यक्ति के स्वभाव, संस्कारों और प्रकृति के गुणों का प्रभाव पड़ता है। प्रकृति के सत्त्व, रज और तम गुण व्यक्ति की प्रवृत्तियों तथा कर्मों को प्रभावित करते हैं।

इसलिए केवल बाहरी कर्मों का त्याग कर देने से व्यक्ति वास्तव में कर्म से मुक्त नहीं हो जाता। यदि शरीर स्थिर भी हो, तब भी मन विचारों और स्मृतियों के माध्यम से सक्रिय रह सकता है। यही कारण है कि श्रीकृष्ण कर्म से भागने के बजाय व्यक्ति को कर्म के वास्तविक स्वरूप को समझने और अपनी कर्मशीलता को सही दिशा देने की शिक्षा देते हैं।

इस श्लोक का मुख्य संदेश यह है कि मनुष्य कर्म करने के लिए बाध्य है; वास्तविक स्वतंत्रता कर्म को पूरी तरह छोड़ देने में नहीं, बल्कि अपनी चेतना, विवेक और जागरूकता के माध्यम से कर्मों की दिशा को समझने और उन्हें शुद्ध करने में है।

श्लोक 6:-

कर्मैन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।

इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥

अर्थ:- कर्मैन्द्रियों को रोककर जो मन से इन्द्रियों के विषयों (भोगों) चिन्तन (याद) करता है वह मूढ़ बुद्धि वाला मिथ्याचारी (दम्भी/पाखंडी) कहा जाता है।

श्लोक 7:-

यस्तु इन्द्रियाणि मनसा नियम्य, अभर्तेऽर्जुन।
कर्मैन्द्रियैः कर्मयोगम्, असक्तः सः विशिष्यते॥

अर्थ :-किन्तु हे अर्जुन! जो पुरुष मन से इन्द्रियों को वश में करके, अनासक्त (आसक्ति रहित) होकर अपनी कर्म-इन्द्रियों (हाथ, पैर आदि) द्वारा कर्मयोग का आचरण करता है, वही श्रेष्ठ है।

सार (श्लोक 6-7):- यह दो श्लोक स्पष्ट करते हैं कि कर्म के द्वारा योग को प्राप्त करने के लिए हठपूर्वक इन्द्रियों (कर्मिन्द्रियों और ज्ञानिन्द्रियों) को रोकना आवश्यक नहीं है बल्कि कर्मयोग को प्राप्त करने के लिए इन्द्रियों को नियंत्रित करना आवश्यक है साथ ही इन्द्रियों के द्वारा जो मन को सूचना प्राप्त हो रही है उसमें व्यक्ति की इच्छा और आसक्ति उत्पन्न न हो इसका प्रयास व्यक्ति को करना जरूरी है। इन्द्रियों द्वारा प्राप्त सूचना मन के एक आयाम स्मृति के रूप में जमा होते हैं जिससे मन, बुद्धि उन स्मृति से जुड़ कर वर्तमान समय में पूर्ण जागरूक न रहकर पुरानी यादों में डूब जाता है और उसी के अनुसार बुद्धि निर्णय, योजना बनाने में लगी रहती है।

यह श्लोक सिखाता है कि वर्तमान में मन को पूर्ण जागरूक कैसे रखें और इन्द्रिय विषयों के चिंतन में रहना मूर्ख लोगों की पहचान है। जो व्यक्ति इन्द्रियों को बलपूर्वक रोक लेते हैं और मन ही मन उनका चिंतन करते हैं वे मिथ्याचारी होते हैं जिनके सोच और वर्तमान कार्य में भेद होता है। उनकी बुद्धि इन्द्रिय विषय के चिंतन में लगी रहने से स्थिर नहीं हो पाती जिससे वह योग को भी प्राप्त नहीं होती। इसलिए इन्द्रियों के नियंत्रण के साथ-साथ स्मृति में जमा सूचना और प्रभाव को भी मन, बुद्धि से **अनासक्ति (detachment)** रखने की जरूरत है इसलिए जो व्यक्ति मन को इस स्तर पर पहुँचा पाता है कि मन, बुद्धि किसी वस्तु के प्रति **आसक्त (Attachment)** न हो न ही किसी कार्य के फल के प्रति उसकी भावना न रहे तथा किसी भी कार्य को फल की इच्छा से करने की प्रवृत्ति न रहे, तभी मन शांत हो पाएगा।

जब मन शांत हो जाता है तो बुद्धि स्थिर हो जाती है और व्यक्ति अनासक्त होकर अहं का त्याग करते हुए सर्वव्यापक चेतना या शुद्ध चेतना में स्थापित हो पाता है जिससे “योग” को प्राप्त हो पाता है। जब व्यक्ति योग को प्राप्त कर लेता है तो वह आत्म जागरूक होकर अपनी प्रकृति, विचार भावनाओं, आदतों पर पूर्ण नियंत्रण कर सकता है। उसकी इच्छा ईश्वरी

इच्छा या सर्वव्यापक चेतना की क्रियाओं के साथ एक रूप होने लगती है और जब व्यक्ति का मन परम-चेतन मन (Supreme Mind) के साथ एक हो जाता है और बुद्धि शुद्ध हो जाती है तो कोई व्यक्तिगत इच्छा (individual will) नहीं रहती। यहाँ सब कुछ सर्वव्यापक चेतना या ब्रह्मा की इच्छा में विलीन हो जाता है, व्यक्ति केवल साक्षी होता है। ऐसा आचरण ही श्रेष्ठ कहा गया है की अब मेरा कुछ न होकर सब कुछ मेरा ही है का भाव आ जाता है जिस कारण न ही कोई इच्छा बचती है न ही किसी विषय में आसक्ति रहती है।

श्लोक 8:-

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥

अर्थ :-हे अर्जुन, तुम अपना नियत (निर्धारित/विहित) कर्म करो, क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना ही श्रेष्ठ है। कर्म न करने से तो शरीर का निर्वाह (पालन-पोषण) भी सिद्ध नहीं होता (संभव नहीं होता)।

श्लोक 9:-

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥

अर्थ:- यज्ञ के लिए किए गए कर्मों के अलावा अन्य सभी कर्म व्यक्ति को संसार के बंधनों में फंसाते हैं; इसलिए, हे अर्जुन (कौन्तेय), आसक्ति (फल की इच्छा) को छोड़कर, केवल यज्ञ के निमित्त ही कर्तव्य कर्म करो, ताकि तुम बंधन से मुक्त रहो।

सार (श्लोक 8-9):-यहाँ नियत कर्म वह कर्म है जो “धर्म” अनुरूप करने पर भी केंद्रित है जिसे इस अध्याय में “यज्ञ” की उपाधि दी गई है। जैसा की पूर्व में बताया गया था कि आपका ‘धर्म’ वही है जो आपकी चेतना को उन्नत करे, ‘कर्म’ वही है जो आपकी चेतना के अनुरूप हो चाहे वह कोई भी माध्यम हो। प्रत्येक जीव का प्रमुख कर्म यही है कि वह सत्-चिन् -आनंद स्वरूप को प्राप्त करे।

सत्-चित्-आनंद सर्वव्यापक चेतना का वह स्वरूप है जो अनंत अस्तित्व (सत्) में, अनंत चेतनायुक्त (चित्), एवं आनंद के साथ सभी जगह व्याप्त है आपको जो चेतना प्रदान की गई है वह धर्म के लिये प्रदान की गई और उसी अनुरूप कर्म ही वास्तविक कर्म है। सर्वव्यापक चेतना ने अनंत संभावनाओं के साथ अनंत प्राणी समुदाय बनाये हैं जिनके अलग-अलग धर्म (कर्तव्य) हैं। जो सर्वव्यापक चेतना की योजना को विभिन्न रूपों से पूर्ण करते हैं और सर्वव्यापक चेतना की अनंतता रचना (infinity creation) को प्रदर्शित करते हैं। उस अनंत रचना के अनंत प्राणियों में एक आप भी हैं जिनके लिये भी धर्म का निर्धारण किया गया है। इसलिये स्वयं की चेतना के मूल धर्म को समझ कर कर्म किया जाना ही आपका **वास्तविक धर्म-कर्म** है। प्रत्येक मनुष्य के लिये अलग-अलग धर्म हैं जिसमें चेतना को उन्नत करना, आनंद पाने की सभी संभावनाएँ हैं बशर्ते उस धर्म को प्रकृति के गुणों, शरीर, मन से परे जाकर समझने की जरूरत है। जिस विभिन्न मार्ग से सर्वव्यापक चेतना ने आपको और अनंत प्राणियों को बनाया उसी विभिन्न मार्ग से उनकी चेतना को सर्वव्यापक चेतना तक पहुँचाने के मार्ग प्रदान किए हैं सभी प्राणियों के लिए। यह तो मनुष्य का अहं है कि वो ही ईश्वर प्राप्ति या सर्वव्यापक चेतना की प्राप्ति के लिए हकदार है।

जैसे हिंदू धर्म में बंदर रूप हनुमान जी जिन्होंने भक्ति द्वारा जिन्होंने अपनी निष्ठा से ईश्वर को पाया। इसी प्रकार ईसाई धर्म में यीशु मसीह के गुणों के रूप में शेर और मेमने को ईश्वर के चरित्र का प्रतीक माना गया है। यह सांकेतिक संदेश है कि हर जीव अपने अपने कर्म अनुसार चेतना को उन्नत कर सर्वव्यापक चेतना (ईश्वर) प्राप्त करने की क्षमता रखता है।

किसी भी प्राणी को शरीर निर्वाह के लिए कर्म करना जरूरी भी है इसलिए कर्म करना कुछ न करने से श्रेष्ठ है लेकिन अगर कर्मों का बंधन नहीं चाहिए तो कर्मों को यज्ञ रूप अर्थात् धर्म अनुसार करना चाहिए और उन कर्मों में किसी प्रकार आसक्ति, ईच्छा, फल की अपेक्षा नहीं रखना चाहिए। मनुष्य के संदर्भ में प्रत्येक व्यक्ति कुछ न कुछ कर्म कर रहा है लेकिन चेतना को उन्नत करना और शुद्ध चेतना या सर्वव्यापक चेतना में व्यक्तिगत चेतना का रूपांतरण करना सभी सकाम कर्म करने से श्रेष्ठ है।

श्लोक 10:-

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥

अर्थ:-यह श्लोक बहुत ही गहरे अर्थ को निहित कर रखा है। प्रजापति ब्रह्मा ने कल्प के प्रारंभ में यज्ञ के साथ मनुष्यों की रचना की और कहा कि यज्ञ के द्वारा तुम लोग वृद्धि (उन्नति) प्राप्त करो। यह यज्ञ तुम्हें सभी इच्छित भोग और कामनाएं प्रदान करने वाला (कामधेनुतुल्य) बने।

सार:- सर्वव्यापक चेतना (ब्रह्म) ने सृष्टि की रचना के प्रारंभ में अनंत समय रेखा (Infinite Timeline), अनंत ब्रह्मांड (Infinite Universe), अनंत चेतन युक्त प्राणी समुदाय (Infinite Conscious People) के निर्माण किया है और सभी को कुछ न कुछ समय रेखा (Timeline) एवं स्थान (space) प्रदान किया हुआ है। हमारे ब्रह्मांड की भी एक समय रेखा (Timeline) है। वैज्ञानिकों के अनुसार जिसका समय 13.8 अरब वर्ष हो गए हैं, इसी ब्रह्मांड में अरबों तारे एवं अरबों ग्रह हैं जिसमें एक तारा सूर्य है और इस सौर मण्डल में एक ग्रह के रूप में पृथ्वी है जिस पृथ्वी में अरबों प्राणी समुदाय एवं लगभग 8 अरब मनुष्य प्राणी रहते हैं। उन आठ अरब मनुष्य प्राणी में एक आप है और उस एक आप में अरबों कोशिकाएँ एवं अरबों न्यूरॉन हैं और उन अरबों कोशिकाओं एवं अरबों न्यूरॉन का आपस में अंतरसंबंध भी अनंत संभावनाओं के साथ अस्तित्व में है। यह जो अनंत न्यूरॉन के साथ व्यक्ति को चेतना पैटर्न (conscious pattern) प्राप्त हुआ है जिससे व्यक्ति जीवन की क्रियाओं को समझ पाता है और उनके साथ अंतःक्रिया कर कर्म करता है, उस चेतना पैटर्न के अनुरूप कर्म करना व्यक्ति के लिए “यज्ञ” है।

यह चेतना पैटर्न सभी व्यक्ति, वृक्षों, पंचतत्व के लिए अलग अलग है और उनके कार्य और कर्तव्य (धर्म) भी अलग अलग है साथ ही प्रत्येक व्यक्ति, जीव प्राणी, वस्तु इसे अपनाएं एवं धारण किये हुए हैं जैसे अग्नि का धर्म गर्म करना, जल का धर्म शीतलता और प्रवाह करना, सूर्य का धर्म उष्णता एवं जीवन प्रदान करना, वृक्षों का कार्य भोजन, ऑक्सीजन, विभिन्न फल देना इत्यादि। इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य का भी धर्म (कर्तव्य) है जिस कारण उसका जन्म हुआ है और उस धर्म को जानकर कर्तव्य करना व्यक्ति की चेतना को उन्नत करता है और उसके कार्य-कारण सिद्धांत एवं जीवन की उपयोगिता को पूरा करता है। इस प्रक्रिया

को करने पर आप अपने वर्तमान स्थिति से अगले धर्म -कर्म के चक्र में प्रवेश कर चेतना उन्नत कर इच्छित भोगों को प्रदान भी करोगे जैसे धरती अगर गर्मी में तपेगी नहीं तो उसे वर्षा प्राप्त नहीं होगी उसी प्रकार व्यक्ति चेतना को उन्नत नहीं करेगा तो वह अच्छे गुणों को भी प्राप्त नहीं होगा।

वैज्ञानिक दृष्टि से देखे तो, पूरा ब्रह्मांड चेतना की मदद से कंपनमान है, जिसमें उपस्थित कण, पदार्थ, प्राणी, मनुष्य भी किसी न किसी आवृत्ति में कंपनमान है और जिस ऊर्जा स्तर पर या कंपन आवृत्ति में प्राणी रहेगा वो भविष्य को भी उसी प्रकार प्राप्त होगा क्योंकि ऊर्जा मन को प्रभावित करती है और मन समय को और ये तीनों (मन, समय, ऊर्जा) व्यक्तिगत चेतना को प्रभावित करते हैं। अगर व्यक्ति अपनी चेतना उन्नत करता है तो उसकी कंपन आवृत्ति भी उच्च होगी जिससे वह प्रेम(love), सद्भाव(compassion), प्रबोधन (enlightenment) को प्राप्त होगा इसलिए जितना संभव हो सके व्यक्ति को स्वयं का ऊर्जा स्तर उच्च बनाए रखना चाहिए तथा मन को सकारात्मक सोच पर दृढ़ रखने का अभ्यास करना चाहिए।

मनुष्य जब केवल अपनी इच्छाओं और भोगों के लिए कर्म करता है, तो वह कर्मबंधन में बंध जाता है; लेकिन जब वही कर्म यज्ञभाव से किया जाता है, तो वह व्यक्ति और समाज दोनों की उन्नति का कारण बनता है। इस प्रकार यज्ञ की भावना **कामधेनु के समान** है, क्योंकि निःस्वार्थ कर्म, त्याग और समर्पण अंततः मनुष्य को उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ-साथ आंतरिक शांति, संतोष और आध्यात्मिक उन्नति भी प्रदान करते हैं। मनुष्य का वास्तविक विकास केवल इच्छाओं की पूर्ति में नहीं, बल्कि **निःस्वार्थ कर्म और समष्टि कल्याण की भावना** में निहित है। जब जीवन स्वयं एक यज्ञ बन जाता है, तब व्यक्ति की चेतना भी उच्चतर स्तर की ओर विकसित होने लगती है।

श्लोक 11:-

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।

परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथा।

अर्थ:-तुम लोग इस यज्ञ के द्वारा देवताओं को उन्नत करो और वे देवता तुम लोगों को उन्नत करें। इस प्रकार निःस्वार्थ भाव से एक-दूसरे को उन्नत करते हुए तुम लोग परम कल्याण (मोक्ष) को प्राप्त हो जाओगे।

सार:- इस श्लोक में देवता व्यक्ति के भीतर स्थित उन श्रेष्ठ गुणों के प्रतीक हैं, जो चेतना के उन्नयन में सहायक होते हैं। चेतना को उच्च स्तर पर विकसित करने की प्रक्रिया में व्यक्ति के विचार, भावनाएँ और कर्म महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। प्रत्येक विचार, भावना और कार्य व्यक्ति की मानसिक एवं भावनात्मक अवस्था को प्रभावित करता है। इस दृष्टि से व्यक्ति की चेतना का स्तर उसके संस्कारों, विचारों, कर्मों तथा प्राप्त होने वाली सूचनाओं के अनुसार निरंतर परिवर्तित होता रहता है।

जब व्यक्ति का मन सकारात्मक विचारों, करुणा, सत्य, प्रेम, संयम और निःस्वार्थ कर्म जैसे गुणों से युक्त होता है, तब उसके भीतर देवत्व अर्थात् श्रेष्ठ गुणों का विकास होता है। इसके विपरीत नकारात्मक विचार, भ्रम, भय, क्रोध और मोह व्यक्ति की चेतना को निम्न अवस्था की ओर ले जा सकते हैं। यहाँ देवता और असुर को व्यक्ति के भीतर विद्यमान सकारात्मक एवं नकारात्मक प्रवृत्तियों के प्रतीक के रूप में समझा जा सकता है।

जब व्यक्ति यज्ञ अर्थात् निःस्वार्थ कर्म, कर्तव्य और धर्माचरण के माध्यम से अपने श्रेष्ठ गुणों को विकसित करता है, तब ये गुण उसकी चेतना को और अधिक उन्नत करने लगते हैं। यही व्यक्ति और उसके भीतर स्थित देवत्व का पारस्परिक विकास है—व्यक्ति अपने श्रेष्ठ गुणों को कर्म द्वारा पोषित करता है और वही श्रेष्ठ गुण उसकी चेतना को उच्चतर अवस्था तक ले जाते हैं।

इसी कारण योगिक जीवन में यम और नियम का विशेष महत्व बताया गया है। यम—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—व्यक्ति के सामाजिक एवं नैतिक आचरण को शुद्ध करते हैं, जबकि नियम—शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान—आत्म-अनुशासन और आंतरिक शुद्धि का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

इस प्रकार जब व्यक्ति अपने कर्मों को यज्ञभाव से करता है, तो उसके भीतर स्थित देवतुल्य गुण विकसित होते हैं; और जब ये श्रेष्ठ गुण विकसित होते हैं, तो वे उसकी चेतना को निरंतर उन्नत करते हैं। अंततः चेतना का यह उन्नयन व्यक्ति को परम कल्याण की ओर ले जाता है, जहाँ वह अपनी सीमित व्यक्तिगत चेतना से ऊपर उठकर शुद्ध चेतना रूपी सत्-चित्-आनन्द का अनुभव करता है।

श्लोक:-12

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥

(अर्थ):-यज्ञ द्वारा बढ़ाए गए देवता तुम्हें बिना मांगे ही इच्छित भोग प्रदान करेंगे। उन देवताओं द्वारा दिए गए सुखों को जो मनुष्य उन्हें बिना अर्पित किए उपभोग करता है, वह निश्चित रूप से चोर है।

सार:- व्यक्ति को चेतना विस्तार करने अनुरूप “कर्म (यज्ञ)” करने पर जो अच्छे गुण प्राप्त होते हैं जैसे प्रेम (love), शांति (peace), सद्भाव (Harmony), करुणा (compassion), नैतिक विचार (ethical thought), प्रबोधन (enlightenment), संतोष (satisfaction), कर्तज्ञता (gratitude) इत्यादि, इन अच्छे गुणों के बढ़ने पर व्यक्ति की सभी इच्छाएँ पूर्ण हो जाती हैं क्योंकि इच्छाएँ की तृप्ति और अभाव मानसिक विचार है और जब व्यक्ति की चेतना होती है तो मन सभी प्राप्त चीजों के प्रति कर्तज्ञता रखता है और व्यक्ति को पूर्णता का एहसास दिलाता है। यह उच्च चेतना के देवता रूपी गुण व्यक्ति को इच्छित भोग भी प्रदान करते हैं।

लेकिन जब व्यक्ति अपने भीतर श्रेष्ठ गुणों को विकसित करने के बाद भी केवल **स्वयं तक सीमित और स्व-केंद्रित (Self-centric)** बना रहता है तथा अपने ज्ञान, क्षमता, सद्गुणों और अनुभवों का उपयोग केवल व्यक्तिगत लाभ के लिए करता है, तब वह “यज्ञभाव” से दूर हो जाता है। यदि वह अभावग्रस्त लोगों की सहायता, मार्गदर्शन और उनके भीतर स्थित श्रेष्ठ गुणों के विकास के लिए कर्म नहीं करता, तो वह अपने प्राप्त गुणों का उचित उपयोग नहीं कर रहा होता।

जब व्यक्ति अपने श्रेष्ठ गुणों को दूसरों के कल्याण में अर्पित करता है, तो वह अन्य व्यक्तियों के भीतर स्थित **देवतुल्य गुणों** को भी विकसित करने में सहयोग करता है। लेकिन जो व्यक्ति समाज, प्रकृति और अन्य लोगों से प्राप्त सहयोग एवं संसाधनों का लाभ तो लेता है, परंतु बदले में किसी के कल्याण और उन्नति के लिए अपना योगदान नहीं देता, वह केवल लेने की प्रवृत्ति में जीता है। वह वास्तव में यज्ञ-चक्र में अपना योगदान नहीं देता। इसलिए आध्यात्मिक दृष्टि में ऐसा व्यक्ति रूपक रूप से “**चोर**” कहा गया है, क्योंकि वह जीवन से प्राप्त करता तो बहुत है, लेकिन समष्टि को वापस कुछ देने का भाव नहीं रखता है।

इस श्लोक की सामाजिक रूप से एक अन्य अवधारणा यह भी है कि सभी मनुष्य आपस में अंतःक्रिया द्वारा जीवन का संचालन करते हैं और इस आपसी अंतःक्रिया द्वारा गुणों, विभिन्न मूल्यों, आवश्यकतों, इच्छाओं को पूर्ण करते हैं लेकिन इसमें प्राप्त पक्ष को देने वाले पक्ष को भी समयानुसार वैसा ही वापस करने से दोनों पक्ष के दायित्व, कर्म पूर्ण होते हैं जैसे बचपन में माँ बच्चे का पालन पोषण करती है तो बच्चे की भी जिम्मेदारी है की वे भी बुढ़ापे में उनकी सेवा करें। दोनों पक्ष एक समय सहायता, आवश्यकताओं के लिए एक दूसरे पर निर्भर होते हैं और एक दूसरे के पूरक बनते हैं जैसे बच्चे को बचपन में माँ की ज़रूरत होती है उसी प्रकार माँ को बच्चे की ज़रूरत बुढ़ापे में होती है।

उसी प्रकार जब साधक गुरु की मदद से अपने चेतना के आयामों को उन्नत कर कई सिद्धियाँ, ज्ञान, अच्छे गुण प्राप्त करता है तो गुरु भी अपेक्षा करता है की वह उन अच्छे गुणों को जनकल्याण के लिए योजना में उनकी सहायता करे, जैसे महावतार बाबाजी अपने शिष्यों, भक्त के माध्यम से प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से उन्हें कुछ गुण प्रदान कर समाज कल्याण, ज्ञान विस्तार की योजना में लगाते हैं उसी प्रकार सर्वव्यापक चेतना(ब्रह्म) की योजना में जो आपको प्रदान किया गया है वह किसी विशेष उद्देश्य के लिए प्रदान किया गया है उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए व्यक्ति को स्वयं की चेतना अनुरूप कर्म करना ही सर्वव्यापक चेतना (ब्रह्म) को सही अर्थ में **कर्मों का “अर्पण ”** है।

“मनुष्य को जीवन में जो कुछ प्राप्त होता है, वह केवल उसके व्यक्तिगत प्रयास का परिणाम नहीं है, बल्कि प्रकृति, समाज और विस्तृत चेतना के सहयोग का फल है। इसलिए केवल उपभोग करना चेतना की सीमित अवस्था है, जबकि प्राप्त संसाधनों को पुनः समष्टि के कल्याण में लगाना यज्ञ है। ‘लेने’ से ‘देने’ की दिशा में चेतना का परिवर्तन ही कर्मयोग का वास्तविक आधार है।”

श्लोक 13:-

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्!!

अर्थ:- यज्ञ (यज्ञादि कर्म या प्रसाद) के बचे हुए अन्न को खाने वाले श्रेष्ठ पुरुष सभी पापों से मुक्त हो जाते हैं जो लोग अपना शरीर पोषण करने के लिए ही भोजन पकाते हैं, वे पापी “पाप” का ही भोजन करते हैं।

सार:- यह श्लोक केवल भोजन की बात नहीं करता, बल्कि चेतना की दिशा समझाता है। चेतना जब केवल देह-केंद्रित न रहकर समष्टि-केंद्रित हो जाती है, वही यज्ञ है। जो कर्म कर्तापन-भाव और स्व केंद्रित को छोड़कर किया गया हो और स्वयं की जगह दूसरों को प्रदान करने (अर्पण) करने के उद्देश्य से जो व्यक्ति कर्म करता है फिर उसके बाद जो मिले उसे स्वीकार करता है वह चेतना को किसी भोग के बंधन में नहीं बाँधता और स्वयं के निम्न कंपन आवृत्ति के अवगुणों से मुक्त हो जाता है। निम्न कंपन आवृत्ति (निम्न मानसिक अवस्था) के अवगुण जैसे डर, भय, इच्छा, काम, क्रोध, लोभ, मद इत्यादि होते हैं। ऐसा व्यक्ति निम्न मानसिक अवगुणों से मुक्त हो जाता है जिसका भाव, गुण स्वयं के कल्याण की जगह दूसरों के कल्याण करने पर केंद्रित होते हैं।

लेकिन जो व्यक्ति स्वयं की चेतना को सिर्फ शरीर और मन के पोषण का ही साधन मानता है और स्वार्थ भाव से करता है वह पाप रूपी गुणों के भोजन को ही पकाता है अर्थात् वह डर, भय, इच्छा, काम, क्रोध, लोभ, मद जैसे अवगुणों को ही बढ़ाता है जैसे स्व-केंद्रित व्यक्ति द्वारा किसी विशेष ज्ञान को प्राप्त करने पर ज्ञान का घमंड हो जाता है जो कि एक प्रकार का असत्य ज्ञान ही होता है, अर्थात् वह ज्ञान के नाम पर स्वयं को भ्रमित रखता है।

उसी प्रकार स्व-केंद्रित व्यक्ति किसी भी गुण को प्राप्त करने पर मद, कामना से ग्रस्त हो जाता है। इसलिए जो अपनी चेतना का प्रयोग शरीर, मन की इच्छा पूर्ति के लिए ही प्रयुक्त करते हैं वो निम्न कंपन आवृत्ति रूपी इच्छाओं, काम विषयों में फँसे रहते हैं। इसलिए जो लोग अपना शरीर पोषण (शरीर की इच्छाओं को तृप्त) करने के लिए ही (चेतना का प्रयोग रूपी) भोजन पकाते हैं, वे निम्न कंपन आवृत्ति के पापी लोग पाप (अवगुणों) का ही चेतना के प्रयोग रूपी भोजन करते हैं।

इसलिए यह श्लोक शास्त्र विहित कर्म करने पर बल देता है जो इच्छा, कर्मफल, आसक्ति से मुक्त हो। हमारे शास्त्रों में सामाजिक व्यक्ति के लिए **पितृ यज्ञ** :- जो माता-पिता, बुजुर्ग और पूर्वजों को दिया गया तर्पण, **भूत यज्ञ** :- पशु जगत की सेवा, अतिथि यज्ञ (मनुष्य यज्ञ): भूखे को भोजन, प्यासे को पानी, और जरूरतमंदों की सहायता करना, **द्रव्ययज्ञ** :- धन या भौतिक वस्तुओं के माध्यम से यज्ञ इत्यादि को बताया गया है। वही ध्यान करने वाले साधक को **तपोयज्ञ** :- तपस्या या कठिन नियमों का पालन करना। **योगयज्ञ** :- अष्टांग योग या ध्यान के माध्यम से मन को एकाग्र करना। **स्वाध्याययज्ञ** :- ज्ञान की प्राप्ति और वेदों/शास्त्रों का अध्ययन। **ज्ञानयज्ञ** :- ज्ञान के द्वारा अहंकार और अज्ञान को नष्ट करना। **प्राणायाम यज्ञ** :- श्वास-प्रश्वास के नियंत्रण से इन्द्रियों को शांत करना। **विषय-हवनरूप यज्ञ** :- इन्द्रियों के विषयों को संयम की अग्नि में अर्पित करना इत्यादि **यज्ञ रूपी कर्म** करने को बताया गया है।

श्लोक 14-15:-

अन्नद्धवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।
यज्ञाद्धवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्धवः ॥
कर्म ब्रह्मोद्धवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्धवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥

अर्थ:- सभी जीव भोजन पर निर्भर हैं, और भोजन वर्षा से उत्पन्न होता है। वर्षा यज्ञ करने से होती है, और यज्ञ निर्धारित कर्तव्यों (कर्मों) के पालन से उत्पन्न होता है। कर्म को तू वेद से उत्पन्न जान और वेद को अविनाशी परमात्मा से उत्पन्न हुआ जाना। इससे सिद्ध होता है कि सर्वव्यापी परमात्मा सदा ही यज्ञ में प्रतिष्ठित है।

सार (श्लोक 14-15):-

ये दोनों श्लोक सृष्टि के निर्माण और संचालन के एक क्रम को बताते हैं, जिसे आध्यात्मिक दृष्टि से सर्वव्यापक चेतना (परमात्मा) से लेकर समस्त जीव-जगत तक की यात्रा के रूप में समझा जा सकता है। श्लोकों में वर्णित क्रम है—

परमात्मा → वेद → कर्म → यज्ञ → वर्षा → अन्न → जीव

यह क्रम केवल भौतिक जीवन की परस्पर निर्भरता को नहीं दर्शाता, बल्कि आध्यात्मिक दृष्टि से चेतना, नियम, कर्म और सृष्टि के बीच संबंध को भी समझने का आधार प्रदान करता है।

समस्त जीवों का “स्थूल शरीर” भौतिक पदार्थों से निर्मित होता है। भारतीय दर्शन में इस भौतिक संरचना को पंचमहाभूत—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश के रूप में समझाया गया है। शरीर का पोषण “अन्न” से होता है और अन्न प्रकृति के जल-चक्र तथा वर्षा पर निर्भर है। इस प्रकार श्लोक जीवन के पारिस्थितिक और प्राकृतिक संतुलन की ओर भी संकेत करता है।

“पर्जन्यादन्नसम्भवः” अर्थात् वर्षा से अन्न उत्पन्न होता है। वर्षा यहाँ प्रकृति की उस जीवनदायी शक्ति (ऊर्जा) का प्रतीक है जो पृथ्वी पर जीवन को बनाए रखती है। मनुष्य स्वयं अन्न का वास्तविक निर्माता नहीं है। वह केवल बीज बो सकता है और प्रयास कर सकता है, लेकिन बीज को अंकुरित करने की शक्ति पृथ्वी, जल, सूर्य और प्रकृति के व्यापक नियमों से आती है।

यहाँ मनुष्य को यह समझने की शिक्षा दी जा रही है कि—**व्यक्ति स्वयं को स्वतंत्र और पूर्ण कर्ता न समझे।** उसका जीवन एक विशाल प्राकृतिक और ब्रह्मांडीय व्यवस्था से जुड़ा हुआ है।

आधुनिक विज्ञान में भी पदार्थ और ऊर्जा के गहरे संबंध को स्वीकार किया गया है। आइंस्टीन का $E = mc^2$ सिद्धांत “द्रव्यमान और ऊर्जा की समतुल्यता” को दर्शाता है। आध्यात्मिक चिंतन की दृष्टि से इस तथ्य को सृष्टि में विद्यमान एक मूलभूत शक्ति और चेतना के रूपक के साथ देखा जा सकता है।

इन श्लोकों की प्रतीकात्मक व्याख्या में “यज्ञ” को सृष्टि में व्याप्त समन्वय, परिवर्तन और सृजनशील प्रक्रिया के रूप में देखा जा सकता है। चेतना से उत्पन्न व्यवस्था या नियम, और प्रज्ञा जब शक्ति (ऊर्जा) को निर्देशित करती है तो यह कर्म उत्पन्न करती है एवं कर्म को दिशा देते हैं; कर्म से यज्ञभाव उत्पन्न होता है; और यज्ञ के माध्यम से प्रकृति तथा जीवन का संतुलन बना रहता है। इस अर्थ में “यज्ञ” केवल अग्नि में आहुति देने की क्रिया नहीं, बल्कि सृष्टि के संतुलन को बनाए रखने वाला निःस्वार्थ कर्म और समर्पण का सिद्धांत भी है।

यज्ञः कर्मसमुद्भवः” यज्ञ केवल विचार से नहीं होता। यज्ञ के लिए कर्म आवश्यक है। यदि व्यक्ति केवल यह सोचता रहे कि उसे समाज और संसार के लिए कुछ करना चाहिए, लेकिन उसके जीवन में कोई परिवर्तन न आए, तो यह केवल विचार है, यज्ञ नहीं। यज्ञ तब प्रारंभ होता है जब चेतना कर्म में परिवर्तित होती है।

यहाँ “वेद” को की सृजनात्मक बुद्धिमत्ता के रूपक के रूप में समझा जा सकता है। कर्म का स्रोत वेद है और वेद का मूल अविनाशी परमात्मा है। इस आध्यात्मिक दृष्टि से वेद को केवल ग्रंथ के रूप में नहीं, बल्कि सृष्टि में निहित शाश्वत ज्ञान, व्यवस्था और चेतना के नियमों के प्रतीक के रूप में भी देखा जा सकता है। यही व्यवस्था प्रत्येक वस्तु और प्राणी के अस्तित्व को एक निश्चित क्रम प्रदान करती है।

इस प्रकार **परमात्मा (सर्वव्यापक चेतना)** से उत्पन्न चेतना-व्यवस्था (वेद) कर्म को दिशा देती है, “कर्म” यज्ञभाव को जन्म देता है और “यज्ञ” सृष्टि के जीवन-चक्र (वर्षा-अन्न-जीव) को बनाए रखता है। इसलिए कहा गया है कि सर्वव्यापी परमात्मा सदैव यज्ञ में प्रतिष्ठित है। अर्थात् जहाँ भी निःस्वार्थ कर्म, संतुलन, सृजन और जीवन का पारस्परिक सहयोग है, वहाँ परम चेतना के सिद्धांत की अभिव्यक्ति देखी जा सकती है।

इसी सिद्धांत को मनुष्य के भीतर भी प्रतीकात्मक रूप से देखा जा सकता है। मनुष्य का स्थूल शरीर पंचमहाभूतों से निर्मित माना गया है और इसे अन्नमय कोश के रूप में समझा जाता है। शरीर का संचालन और पोषण प्राणशक्ति से जुड़ा हुआ है। योगिक परंपरा में प्राण को जीवन-ऊर्जा माना गया है, जो शरीर और मन की विभिन्न क्रियाओं से संबंधित है। इसी प्रकार ध्यान और योग-साधना में शरीर के विभिन्न चक्रों को चेतना और अनुभव के सूक्ष्म केंद्रों के प्रतीकात्मक ढाँचे के रूप में समझा जाता है। जब व्यक्ति अपने जीवन में कर्मयोग, ज्ञानयोग, राजयोग अथवा भक्तियोग के माध्यम से अनुशासन और साधना का मार्ग अपनाता है, तो उसका जीवन स्वयं एक यज्ञ बन सकता है। उसके विचार, कर्म और भावनाएँ व्यक्तिगत स्वार्थ से ऊपर उठकर व्यापक चेतना और कल्याण की दिशा में प्रवाहित होने लगती हैं। व्यक्ति का जीवन-पथ उसके संस्कारों, अनुभवों, परिस्थितियों और शिक्षा से प्रभावित होता है। आध्यात्मिक दृष्टि से इसे एक प्रकार के चेतना-पैटर्न (वेद) के रूप में समझा जा सकता है। यही पैटर्न व्यक्ति को संसार का अनुभव करने और

उसके वातावरण के साथ संबंध स्थापित करने का आधार देता है। योग और आत्मज्ञान की ओर बढ़ने की प्रेरणा भी इन्हीं संस्कारों, परिस्थितियों और आंतरिक प्रवृत्तियों से प्रभावित होती है। सृष्टि का प्रत्येक स्तर परस्पर जुड़ा हुआ है। परमात्मा से उत्पन्न वेद रूपी ज्ञान और व्यवस्था कर्म को दिशा देती है; कर्म यज्ञभाव को जन्म देता है; यज्ञ प्रकृति और जीवन के संतुलन में योगदान देता है; और उसी से जीवों का जीवन संभव होता है। इसलिए आध्यात्मिक दृष्टि से कहा जा सकता है कि परम चेतना केवल जीवित प्राणियों तक सीमित नहीं है, बल्कि सम्पूर्ण सृष्टि एक व्यापक अस्तित्व और व्यवस्था से जुड़ी हुई है।

श्लोक:-16

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतिह यः।
अघायुर् इन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवत ॥

अर्थ:- पार्थ (अर्जुन)! जो व्यक्ति इस लोक में इस प्रकार परंपरा से प्रचलित सृष्टि-चक्र (कर्तव्य-चक्र) के अनुसार नहीं चलता, अर्थात् अपने कर्तव्यों का पालन नहीं करता, वह पापी है, इन्द्रियों के भोगों में आसक्त रहता है, और उसका जीवन व्यर्थ ही बीतता है।

सार:- इस श्लोक में कृष्ण अर्जुन रूपी साधक को **कर्तव्य -चक्र** के विषय में समझाते हैं, जिसके अनुसार मनुष्य को अपने जीवन में केवल इन्द्रिय-भोगों के लिए नहीं, बल्कि उच्च उद्देश्य के लिए कर्म करना चाहिए। यहाँ **पापी** व्यक्ति को केवल बाहरी कर्मों के आधार पर नहीं, बल्कि उसकी चेतना की अवस्था और जीवन-दृष्टि के आधार पर भी समझा जा सकता है। जो व्यक्ति निरंतर इन्द्रियों की इच्छाओं, भोगों, स्वार्थ और व्यक्तिगत सुख तक सीमित रहता है, उसकी चेतना निम्न प्रवृत्तियों में बंधी रहती है। आपकी प्रतीकात्मक व्याख्या में इसे **निम्न चेतना अथवा निम्न कंपनात्मक अवस्था** कहा जा सकता है।

मनुष्य को प्राप्त शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि केवल भौतिक सुखों का अनुभव करने के लिए नहीं हैं। ये चेतना के विभिन्न स्तरों को समझने तथा आत्म-विकास के साधन भी हैं। मनुष्य ईश्वर अथवा **सर्वव्यापक चेतना** की इस विशाल और सुंदर सृष्टि का अनुभव करता है, किंतु उसका अंतिम उद्देश्य केवल शरीर और मन की सीमाओं तक बंधे रहना नहीं होना चाहिए। इन्द्रियाँ और मन भौतिक संसार के अनुभवों से जुड़े हैं, इसलिए केवल उनकी

इच्छाओं और भोगों में निरंतर उलझे रहना व्यक्ति को सीमित चेतना के स्तर पर बनाए रख सकता है।

साधक का लक्ष्य शरीर और मन के अनुभवों को नकारना नहीं, बल्कि उनसे ऊपर उठकर उनके वास्तविक स्वरूप को समझना है। शरीर, इन्द्रियाँ और मन परिवर्तनशील हैं, जबकि आध्यात्मिक दृष्टि से आत्मा को शुद्ध चेतना के रूप में समझा गया है। जब व्यक्ति अपना सम्पूर्ण जीवन केवल शरीर की इच्छाओं और इन्द्रिय-भोगों की पूर्ति में व्यतीत कर देता है और अपने भीतर की चेतना को शुद्ध एवं विकसित करने का प्रयास नहीं करता, तब उसके जीवन की उच्चतम संभावना अधूरी रह जाती है। इसी अर्थ में श्लोक ऐसे जीवन को **व्यर्थ** बताता है।

जैसा कि पूर्व में वर्णित किया गया है, मनुष्य अपनी सीमित व्यक्तिगत चेतना के कारण **धर्म-कर्म-काल के चक्र** में बंधा रहता है। वह धर्म को जितनी गहराई से समझता है, उसी के अनुसार कर्म करता है और उसके कर्म उसके जीवन की दिशा एवं अनुभवों को प्रभावित करते हैं। प्रत्येक कर्म का प्रभाव और परिणाम एक निश्चित प्रक्रिया तथा समय के भीतर प्रकट होता है। इस प्रकार व्यक्ति अपने कर्मों, संस्कारों और अनुभवों के चक्र में निरंतर बंधा रहता है।

जब व्यक्ति “धर्म” के सार्वभौमिक उद्देश्य को समझता है और अपने कर्मों को केवल व्यक्तिगत लाभ तक सीमित न रखकर चेतना के विकास के लिए करता है, तब वह सीमित व्यक्तिगत चेतना से व्यापक चेतना की ओर अग्रसर होता है। चेतना का विस्तार व्यक्ति को समय, कर्म और सीमित अहंकार के बंधनों से मुक्त होने की आध्यात्मिक दिशा प्रदान करता है।

अंततः इस श्लोक का संदेश है कि मनुष्य को जीवन केवल इन्द्रिय-सुखों में व्यतीत नहीं करना चाहिए। जीवन का वास्तविक उद्देश्य अपनी चेतना को **शुद्ध, उन्नत और व्यापक** बनाना है। जब व्यक्ति स्वार्थ, आसक्ति और इन्द्रिय-भोगों की सीमाओं से ऊपर उठकर धर्म और निःस्वार्थ कर्म के मार्ग पर चलता है, तब उसका जीवन सार्थक होता है और वह जन्म-मृत्यु तथा कर्मबंधन के चक्र से मुक्ति की दिशा में अग्रसर होता है।

श्लोक 17:-

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥

अर्थ:-परन्तु जो मनुष्य आत्मा में ही रमण करने वाला, आत्मा में ही तृप्त तथा आत्मा में ही संतुष्ट हो, उसके लिए कोई कर्तव्य नहीं है।

श्लोक 18:-

नैव तस्य कृतेनर्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदार्थव्यपाश्रयः॥

अर्थ:-ऐसे आत्मज्ञानी आत्माओं को अपने कर्तव्यों का निर्वहन करने या त्यागने से कुछ भी लाभ या हानि नहीं होती। न ही उन्हें अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए अन्य प्राणियों पर निर्भर रहने की आवश्यकता होती है।

सार(श्लोक 17-18) :-जो व्यक्ति आत्मा में ही रमण करता है, आत्मा में ही तृप्त रहता है और आत्मा में ही संतुष्ट होता है, उसकी प्रसन्नता बाहरी परिस्थितियों पर निर्भर नहीं रहती। उसका आनंद किसी वस्तु को प्राप्त करने से उत्पन्न नहीं होता, बल्कि वह अपने भीतर स्थित शुद्ध चेतना के अनुभव से संतुष्ट रहता है। इसलिए उसे अपनी अपूर्णता को भरने के लिए बाहरी संसार से निरंतर कुछ प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं होती।

श्लोक 18 इसी अवस्था को और स्पष्ट करता है। ऐसे आत्मज्ञानी व्यक्ति को कर्म करने से कोई व्यक्तिगत लाभ प्राप्त नहीं करना होता और कर्म न करने से भी उसकी आंतरिक पूर्णता में कोई कमी नहीं आती। इसका अर्थ यह नहीं है कि आत्मज्ञानी व्यक्ति कर्म करना छोड़ देता है, बल्कि वह फल की इच्छा और स्वार्थपूर्ण कर्म की आवश्यकता से मुक्त हो जाता है। उसका कर्म व्यक्तिगत इच्छाओं की पूर्ति के लिए नहीं, बल्कि सहजता, लोककल्याण और धर्म के लिए हो सकता है।

ऐसा व्यक्ति अपने सुख, सम्मान, सुरक्षा या संतुष्टि के लिए अन्य प्राणियों पर निर्भर नहीं रहता। वह बाहरी संसार से संबंध तो रखता है, कर्म भी करता है, समाज में भी रहता है, किंतु

उसकी आंतरिक चेतना किसी वस्तु, व्यक्ति या परिस्थिति की दास नहीं होती। उसकी संतुष्टि का स्रोत उसके भीतर स्थित आत्मस्वरूप होता है।

चेतना के संदर्भ में, यह वह अवस्था है जहाँ व्यक्ति शरीर, इन्द्रियों, मन और व्यक्तिगत अहंकार की सीमाओं से ऊपर उठकर अपनी शुद्ध चेतना को अनुभव करने लगता है। व्यक्तिगत चेतना बाहरी संसार में सुख खोजती है, जबकि आत्मज्ञानी चेतना अपने भीतर स्थित अस्तित्व की पूर्णता को अनुभव करती है। इस अवस्था में व्यक्ति को स्वयं को सिद्ध करने, दूसरों से मान्यता प्राप्त करने अथवा निरंतर इच्छाओं की पूर्ति करने की आवश्यकता कम होती जाती है।

इस प्रकार ये श्लोक जीवन के उस उच्चतम आदर्श की ओर संकेत करते हैं जहाँ व्यक्ति की चेतना आत्मनिर्भर, संतुष्ट और मुक्त हो जाती है। वह कर्म के बंधन से मुक्त होता है क्योंकि उसके कर्मों के पीछे व्यक्तिगत स्वार्थ, अभाव या इच्छा नहीं होती। जब व्यक्ति अपनी प्रसन्नता को बाहरी संसार में खोजने के स्थान पर आत्मा अर्थात् शुद्ध चेतना में अनुभव करने लगता है, तब वह कर्म के फल, लाभ-हानि और व्यक्तिगत अपेक्षाओं के बंधन से मुक्त होने लगता है। यही आत्मतृप्ति, आत्मसंतोष और वास्तविक आंतरिक स्वतंत्रता की अवस्था है।

श्लोक 19:-

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।

असक्तो ह्यचरन्कर्म परमाप्नोति पुरुषः॥

अर्थ :-इसलिए, तू आसक्ति से रहित होकर, निरंतर कर्तव्य कर्म (जो शास्त्र विधि के अनुसार करना आवश्यक है) का भलीभाँति आचरण कर, क्योंकि आसक्ति से रहित होकर कर्म करने वाला मनुष्य ही परम (ईश्वर/मोक्ष) को प्राप्त करता है।

सार:-श्रीकृष्ण रूपी गुरु अर्जुन रूपी साधक को आसक्ति रहित होकर निरंतर अपने कर्तव्य कर्म करने का उपदेश देते हैं। यहाँ कर्म का त्याग नहीं, बल्कि कर्म के साथ जुड़ी फल की आसक्ति, इन्द्रिय-विषयों की अत्यधिक लिप्सा और व्यक्तिगत स्वार्थ का त्याग महत्वपूर्ण है। जब व्यक्ति बाहरी विषयों में अत्यधिक आसक्त रहता है, तब उसका मन निरंतर इच्छाओं, चिंताओं और भोगों की ओर प्रवाहित होता रहता है। परिणामस्वरूप

उसका मन स्थिर नहीं हो पाता और ध्यान तथा आत्मचिंतन के लिए आवश्यक आंतरिक एकाग्रता विकसित नहीं हो पाती।

इन्द्रिय-विषयों में अत्यधिक आसक्ति व्यक्ति की मानसिक ऊर्जा को निरंतर बाहरी संसार की ओर व्यस्त रखती है। इसके विपरीत, जब व्यक्ति अपनी इन्द्रियों को संयमित करता है, तो उसका मन अपेक्षाकृत शांत और एकाग्र होने लगता है। यही एकाग्रता साधना, ध्यान और आत्मचिंतन के लिए आधार बनती है। योगिक परंपराओं में आंतरिक चेतना के विकास तथा कुण्डलिनी और चक्रों की अवधारणाओं को इसी साधना-पथ के संदर्भ में समझाया गया है।

जब व्यक्ति ध्यान, आत्म-अनुशासन और निष्काम कर्म के माध्यम से अपनी चेतना को विकसित करता है, तब उसकी पहचान धीरे-धीरे केवल शरीर, मन और व्यक्तिगत अहंकार तक सीमित नहीं रहती। उसकी व्यक्तिगत चेतना व्यापक अस्तित्व के साथ एकत्व का अनुभव करने लगती है। आध्यात्मिक भाषा में इसी अवस्था को **सर्वव्यापक चेतना, ईश्वर या ब्रह्म की अनुभूति** कहा जा सकता है। यही चेतना का विस्तार अंततः मोक्ष की दिशा में ले जाता है।

सामान्य रूप से मृत्यु का अर्थ भौतिक शरीर की जीवन-प्रक्रियाओं का समाप्त होना और प्राणशक्ति का शरीर से पृथक होना माना जाता है। भारतीय दर्शन में मनुष्य के अस्तित्व को केवल स्थूल शरीर तक सीमित नहीं माना गया है। अनेक दार्शनिक परंपराओं में **स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर** की अवधारणा वर्णित है। इस दृष्टि से भौतिक शरीर की मृत्यु के पश्चात भी जीव की चेतना, संस्कार और कर्मों से संबंधित अस्तित्व की यात्रा को जारी माना जाता है।

मोक्ष की अवस्था को इस आध्यात्मिक दृष्टि से केवल भौतिक शरीर की मृत्यु नहीं, बल्कि **बंधनकारी आसक्तियों, कर्म-संस्कारों और सीमित व्यक्तिगत पहचान से पूर्ण मुक्ति** के रूप में समझा जा सकता है। जब सूक्ष्म और कारण स्तर पर विद्यमान संस्कार एवं व्यक्तिगत चेतना के बंधन समाप्त हो जाते हैं, तब जीव व्यक्तिगत सीमाओं से मुक्त होकर ब्रह्म अथवा सर्वव्यापक चेतना में एकत्व का अनुभव करता है। इसी को वास्तविक अर्थ में **मुक्ति या मोक्ष** कहा जाता है।

इसलिए साधक का उद्देश्य केवल बाहरी जीवन में सुधार करना नहीं, बल्कि अपने अस्तित्व के स्थूल, सूक्ष्म और कारण स्तरों पर चेतना का शुद्धिकरण और उन्नयन करना है। इसके लिए आवश्यक है कि व्यक्ति इन्द्रिय-विषयों में अत्यधिक आसक्ति से मुक्त होकर अपने जीवन को शास्त्र-विहित कर्म, आत्म-अनुशासन, ध्यान, ज्ञान और निःस्वार्थ सेवा की दिशा में ले जाए।

श्लोक 20:-

**कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसङ्ग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि ॥२०॥**

अर्थ:-जनक आदि राजा लोग भी आसक्ति रहित होकर केवल कर्मों के द्वारा ही सिद्धि (परम गति/ज्ञान) तक पहुँचे थे। अतः सामान्य लोगों के मार्गदर्शन के लिए, लोक कल्याण के दृष्टिकोण से भी तुम्हें कर्म करना ही उचित है।

सार:- इस श्लोक में कृष्ण रूपी मार्गदर्शक राजा जनक आदि महापुरुषों का उदाहरण देकर कर्मयोग के महत्व को स्पष्ट करते हैं। जनक जैसे राजर्षियों ने सांसारिक जीवन, शासन और अपने कर्तव्यों का पालन करते हुए भी कर्मों के प्रति आसक्ति नहीं रखी और निष्काम भाव से कर्म करते हुए परम सिद्धि की ओर अग्रसर हुए। यहाँ जनक आदि का आशय उन महान व्यक्तियों से है जिन्होंने संसार में रहते हुए भी अपने कर्मों को आध्यात्मिक साधना का माध्यम बनाया।

इस दृष्टि से राजा जनक कर्मयोग के आदर्श प्रतीक हैं। उनका जीवन यह संदेश देता है कि मोक्ष अथवा आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए संसार को छोड़ना आवश्यक नहीं है। व्यक्ति परिवार, समाज, शासन, व्यवसाय और अन्य सांसारिक जिम्मेदारियों का निर्वहन करते हुए भी चेतना का विकास कर सकता है। कर्मयोग का मार्ग इसलिए अत्यंत सहज और व्यावहारिक है, क्योंकि इसमें कर्म का त्याग नहीं, बल्कि कर्म के प्रति आसक्ति और फल की इच्छा का त्याग आवश्यक है।

अतः इस श्लोक का संदेश है कि व्यक्ति को हिमालय जाकर संन्यासी बनने या अपने सांसारिक कर्तव्यों तथा लोकसंग्रह को छोड़ने की आवश्यकता नहीं है। उसे अपने वास्तविक कर्तव्य को समझना चाहिए और उसे व्यापक कल्याण की भावना से करना

चाहिए। जब व्यक्ति अपने कर्म को केवल व्यक्तिगत लाभ, प्रतिष्ठा या इच्छाओं की पूर्ति के लिए नहीं, बल्कि एक उच्च उद्देश्य और व्यापक हित के लिए करता है, तब वही कर्म उसके लिए योग बन जाता है।

मनुष्य की व्यक्तिगत चेतना सीमित होने के कारण वह अक्सर अपनी इच्छाओं, संबंधों और आसक्तियों में उलझ जाता है। कामना, लोभ, मोह और अहंकार उसके विवेक को प्रभावित कर सकते हैं, जिसके कारण वह अपने वास्तविक कर्तव्य से भटक जाता है। व्यक्ति अपनी मानसिक और जीवन-ऊर्जा का बड़ा भाग इच्छाओं और आसक्तियों की पूर्ति में लगा देता है और जीवन के व्यापक उद्देश्य को भूल सकता है।

कर्मयोग व्यक्ति को इसी भ्रम से बाहर निकालता है। यह सिखाता है कि संसार से भागना नहीं, बल्कि **संसार में रहते हुए जागरूक होकर कर्म करना** आवश्यक है। परिवार और समाज के प्रति अपने दायित्वों का पालन करते हुए, अपने कर्मों को व्यक्तिगत आसक्ति से मुक्त कर देना ही कर्मयोग का सार है।

जब व्यक्ति अपने कर्तव्य को समझकर उसे निःस्वार्थ भाव, समर्पण और व्यापक कल्याण की भावना से करता है, तब उसकी चेतना धीरे-धीरे व्यक्तिगत सीमाओं से ऊपर उठने लगती है। इसे **व्यक्तिगत चेतना के विस्तार से सर्वव्यापक चेतना की अनुभूति** की दिशा में यात्रा कहा जा सकता है। इस प्रकार कर्म केवल सांसारिक गतिविधि नहीं रहता, बल्कि चेतना के विकास का साधन बन जाता है।

श्लोक:-21

**यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥**

अर्थ:- श्रेष्ठ पुरुष (महापुरुष) जो-जो आचरण करते हैं, अन्य पुरुष (आम लोग) भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं। वह जो कुछ प्रमाण (आदर्श) कर देता है, समस्त मनुष्य समुदाय उसी के अनुसार बरतने लग जाता है (अनुकरण करता है)।

सार:- इस श्लोक में श्रीकृष्ण रूपी मार्गदर्शक मानव समाज में **श्रेष्ठ व्यक्ति के आचरण और उसके सामूहिक प्रभाव** को स्पष्ट करते हैं। श्रेष्ठ पुरुष केवल अपने लिए नहीं जीता, क्योंकि उसका जीवन और कर्म दूसरों के लिए एक आदर्श बन जाते हैं। सामान्य लोग प्रायः उन

व्यक्तियों के आचरण का अनुकरण करते हैं जिन्हें वे ज्ञानी, शक्तिशाली, सफल या आदर्श मानते हैं। इसलिए किसी श्रेष्ठ व्यक्ति का बाहरी आचरण उसके व्यक्तिगत जीवन तक सीमित नहीं रहता, बल्कि समाज की दिशा को भी प्रभावित करता है।

चेतना के संदर्भ में व्यक्ति का आचरण उसकी आंतरिक चेतना, संस्कारों और मूल्यों का बाहरी रूप होता है। जब किसी व्यक्ति का व्यक्तित्व प्रभावशाली होता है, तो उसके विचार, व्यवहार और जीवन-मूल्य परिवार तथा समाज के अन्य लोगों को प्रभावित करने लगते हैं। इसे केवल रहस्यमय *तरंगों* के रूप में नहीं, बल्कि **संगति, अनुकरण, प्रेरणा, संवाद और सामाजिक प्रभाव** के माध्यम से भी समझा जा सकता है।

यदि कोई श्रेष्ठ व्यक्ति अहंकार, लोभ या स्वार्थ को सामान्य जीवन का आदर्श बना देता है, तो समाज के लोग भी उन प्रवृत्तियों को स्वीकार करने लग सकते हैं। इसके विपरीत, यदि श्रेष्ठ व्यक्ति सत्य, संयम, करुणा और निःस्वार्थ कर्म को अपने जीवन में उतारता है, तो वही गुण समाज के लिए प्रेरणा और आदर्श बन सकते हैं। इस प्रकार श्रेष्ठ व्यक्ति का जीवन व्यक्तिगत चेतना के साथ-साथ **सामूहिक चेतना की दिशा** को भी प्रभावित करता है।

चेतना और संस्कारों का यह प्रभाव व्यक्ति से परिवार, परिवार से समाज और समाज से व्यापक मानव समुदाय तक फैल सकता है। उदाहरण के लिए, बच्चा अपने परिवार, मित्रों और सामाजिक वातावरण से व्यवहार तथा जीवन-मूल्य सीखता है। उसका चेतन और अवचेतन मन उसके अनुभवों तथा संगति से प्रभावित होता है। उसी प्रकार किसी समाज के श्रेष्ठ और प्रभावशाली व्यक्तियों के जीवन-मूल्य पूरे समुदाय के व्यवहार को दिशा दे सकते हैं।

इसलिए चेतना का विकास केवल व्यक्तिगत विषय नहीं है। व्यक्ति के विचार और कर्म सामूहिक जीवन को भी प्रभावित करते हैं। जब एक व्यक्ति अपने **स्वधर्म** का पालन करता है, तो उसका प्रभाव केवल उसके व्यक्तिगत जीवन तक सीमित नहीं रहता, बल्कि वह दूसरों के लिए भी एक मार्ग और उदाहरण निर्मित करता है। इस अर्थ में स्वधर्म का पालन सामूहिक व्यवस्था और चेतना के संरक्षण से भी जुड़ा हुआ है।

इसी संदर्भ में श्रीकृष्ण अर्जुन को उसके कर्तव्य का स्मरण कराते हैं। अर्जुन एक ऐसे आत्मनियंत्रित साधक का प्रतिनिधित्व करता है, जिसका धर्म अपनी इन्द्रियों, भय, मोह और मन की विकृत प्रवृत्तियों पर विजय प्राप्त करना है। यदि अर्जुन मोह और भ्रम के कारण

अपने धर्मक्षेत्र में कर्तव्य से पीछे हट जाता है, तो उसका प्रभाव अन्य लोगों पर भी पड़ सकता है। इसलिए कृष्ण रूपी गुरु अर्जुन को केवल व्यक्तिगत विजय के लिए नहीं, बल्कि लोकसंग्रह और आदर्श स्थापित करने के लिए कर्म करने की प्रेरणा देते हैं। यदि एक श्रेष्ठ और सक्षम व्यक्ति अपने कर्तव्य से विमुख हो जाता है, तो उसका अनुसरण करने वाले अनेक लोग भी अपने धर्म और उत्तरदायित्व के प्रति भ्रमित हो सकते हैं।

श्रेष्ठ व्यक्ति का जीवन उसकी निजी संपत्ति नहीं होता। उसके विचार, कर्म और आचरण समाज के लिए मानक बन जाते हैं। इसलिए चेतना का वास्तविक विकास केवल स्वयं को उन्नत करने तक सीमित नहीं होना चाहिए, बल्कि ऐसा होना चाहिए जिससे परिवार, समाज और व्यापक मानव चेतना भी सत्य, संयम, धर्म और कल्याण की दिशा में प्रेरित हो।

चेतना का विकास व्यक्तिगत न होकर सामूहिक, वैश्विक, ब्रह्मांडीय, सर्वव्यापक चेतना के क्रम में होता है और यह चेतना विकास उसी क्रम में सभी जीव प्राणी को भी प्रभावित करता है इसलिए स्वधर्म पालन सिर्फ व्यक्तिगत कर्म नहीं, बल्कि सामूहिक चेतना की रक्षा है। आपने देखा होगा जैसी व्यक्ति की संगत होगी वैसा ही उसका आचरण हो जाता है जब बच्चा व्यस्क रूप में परिवार, समाज, मित्र मंडली, बाह्य परिस्थिति के अनुरूप विकास करता है तो उसके चेतन, अवचेतन मन को भी परिवार, समाज, मित्र, बाह्य परिस्थिति प्रभावित करती है उसी प्रकार श्रेष्ठ व्यक्ति का आचरण और जीवन जीने के मानक उस मनुष्य समुदाय, समाज, देश को प्रभावित करते हैं और मनुष्य समुदाय भी उसी अनुरूप कर्म करने लगते हैं क्योंकि श्रेष्ठ पुरुष की चेतना उन्हें भी प्रभावित करती है।

एक अर्जुन के रूप में जो क्षत्रिय है जिसका मुख्य धर्म इन्द्रियों के विषयों, अंधे मन की विकृत प्रवृत्ति को समाप्त करना है अगर वह मोहित होकर धर्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्र के युद्ध नहीं करेगा तो अन्य ध्यानजनित पुरुष या क्षत्रिय युद्ध नहीं करेंगे इसलिए कृष्ण रूपी गुरु अपने शिष्य रूपी अर्जुन को कह रहे हैं कि यदि तुम मोह में डूबे रहोगे,

तो हजारों योद्धाओं की चेतना भी गिर जाएगी इसलिए कर्म कर क्योंकि अर्जुन रूपी आत्मनियंत्रित व्यक्ति एक श्रेष्ठ पुरुष समान है जिसका अनुसरण कई क्षत्रिय समुदाय करेंगे।

श्लोक 22:-

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥

अर्थ:- हे पार्थ (अर्जुन)! मेरे लिए तीनों लोकों में न तो कुछ कर्तव्य (निश्चित कार्य) शेष है और न ही कोई ऐसी वस्तु है जिसे पाना बाकी हो, फिर भी मैं कर्म (निश्चित रूप से) करता हूँ।

श्लोक 23:-

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥

अर्थ:- हे पार्थ (अर्जुन)! यदि मैं कभी सावधान होकर (नियत) कर्मों में न बरतूँ, तो मनुष्य सब प्रकार से मेरे ही मार्ग का अनुसरण करेंगे जिससे मेरे सावधान होकर कर्म न करने से सब विनाश हो जाएगा।

श्लोक 24:-

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥

अर्थ:- यदि मैं कर्म न करूँ तो ये सब मनुष्य नष्ट-भ्रष्ट हो जाएँ और मैं संकरता (अवांछित वर्णसंकर जातियों) का करनेवाला होऊँ तथा इस समस्त प्रजाको नष्ट करनेवाला बनूँ।

सार (श्लोक 22-24) :- कृष्ण रूपी शुद्ध चेतना यहाँ व्यक्ति रूपी अर्जुन को स्वयं के द्वारा मार्गदर्शित करते हैं। जहाँ चेतना शुद्ध होकर सर्वव्यापक हो जाती है, वहाँ “जरूरत” समाप्त हो जाती है। जब व्यक्ति शुद्ध चेतना को प्राप्त करता है तो वह तीनों लोक (भौतिक, सूक्ष्म, कारण जगत) में साक्षी भाव से स्थापित हो जाता है और वह सारी मन, ऊर्जा, समय का स्रोत हो जाता है लेकिन स्वयं उनमें लिप्त नहीं होता जिस कारण इन तीनों लोकों में अब उसके लिए कोई शेष कार्य नहीं बचता न किसी कर्म की चाह होती ना कोई लक्ष्य न ही कोई इच्छा होती।

शुद्ध चेतना सभी तत्वों का स्रोत होने के कारण इसके कोई निश्चित कर्म नहीं है। शुद्ध चेतना (pure Consciousness) जो की सर्वव्यापक चेतना का गुण है जिसमें मुख्य अवयव के रूप में मन, समय, ऊर्जा का मुख्य स्थान है। जहाँ सर्वव्यापक चेतना ने परम चेतन मन (Supreme Mind) की सर्वव्यापक प्रज्ञा (Omnipresent Intelligence) की सहायता से, सार्वभौमिक समय की सहायता से स्थान (Space) एवं सार्वभौमिक ऊर्जा से पदार्थों का निर्माण कर विभिन्न स्तरों पर जगत का निर्माण, संचालन, संहार का कार्य कर रही है। यही सर्वव्यापक चेतना के ब्रह्म (सार्वभौमिक ऊर्जा), विष्णु (परम चेतन मन), महेश (सार्वभौमिक समय) है।

शुद्ध चेतना कर्ता भाव और इच्छा नहीं रखती क्योंकि यह मन के परे व्याप्त है, कर्तापिन का भाव, इच्छा मन की उपज है लेकिन “मैं पूर्ण हूँ, फिर भी कर्म कर रहा हूँ” क्योंकि कर्म अब जरूरत नहीं, स्वभाव बन जाता है जैसे सूर्य का प्रकाश देना, नदी का बहना इत्यादि। इस अवस्था में सभी प्रकार के द्वैतता एवं सीमा से मुक्ति मिलती है। यह अवस्था शुद्ध चेतना की अवस्था है। यहाँ व्यक्ति शुद्ध साक्षी भाव (pure awareness) में होता है। यह उच्च आयाम है जहाँ चेतना स्वयं को और सृष्टि को एक रूप अनुभव करती है। लेकिन यही शुद्ध चेतना सभी भूतों एवं आयामों को उत्पन्न करने वाली है, भरण पोषण (अस्तित्ववान) करने वाली है। इसलिए यह चेतना अपना कर्म कर रही है जबकि इस शुद्ध चेतना को न हो कोई कर्म करने की बाध्यता है न ही कोई ऐसी वस्तु है जिसे पाना शेष हो।

यह चेतना पूर्ण, मुक्त है क्योंकि यह सर्वव्याप्त होने के कारण पूर्ण है और किसी अन्य आयाम (Dimensions) के बंधन में न रहने के कारण मुक्त है जबकि मनुष्य त्रि- आयामी जगत के बंधन में होने और इस त्रिआयामी जगत का चतुर्थ आयामी “समय” से बंधन होने के कारण पूर्ण स्वतंत्र नहीं है। इसलिए यह शुद्ध चेतना सभी लोकों में घटित होने वाली वस्तु, क्रियाओं का स्रोत होने के कारण कोई भी वस्तु पाने में असमर्थ नहीं है।

सर्वव्यापक चेतना प्रत्येक अणु, प्रत्येक कोशिकाएँ, प्रत्येक जीव प्राणी, प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक पिंड, प्रत्येक ग्रह, प्रत्येक तारों, प्रत्येक आकाशगंगा, प्रत्येक ब्रह्मांडों में विद्यमान है। साथ ही सर्वव्यापक चेतना सभी ब्रह्मांडों में और इनसे परे भी विद्यमान है। यह किसी एक व्यक्ति, वस्तु या स्थान तक सीमित नहीं होती बल्कि हर जीव, पदार्थ, ऊर्जा, विचार के मूल में यही चेतना कार्यरत होती है। सभी ब्रह्मांड, प्राणी, समय, स्थान इसी चेतना में प्रकट होते हैं। सम्पूर्ण

ब्रह्मांड में जो भी जीवजंतु, पेड़-पौधे, पंचतत्त्व उपस्थित है, उनमें घटित होने वाली पंचतन्मात्राएँ (शब्द, स्पर्श, रूप (दृश्य), रस (स्वाद), गंध) क्रियाएँ, मन की क्रियाएँ ये सभी सर्वव्यापक चेतना का हिस्सा है। यह सर्वव्यापक चेतना अगर अपना कर्म सावधानी और संतुलित से नहीं करेगी तो इसमें अंतर्निहित चतुर्थ आयाम समय और त्रिआयामी भौतिक जगत (जिसमें जीव प्राणी भी सम्मिलित है) सभी का विनाश हो जाएगा क्योंकि समय और ब्रह्मांड सभी सर्वव्यापक चेतना की संतुलित योजना का ही अनुसरण कर रहे हैं।

अगर सर्वव्यापक चेतना कर्म न करे जो कि एक उच्च आयाम (higher dimension) है तो न ही समय रहेगा न ही स्थान (space) रहेगा और न ही त्रि-आयामी भौतिक जगत (3D world) होगा। सभी जीव प्राणी और मनुष्य भी चेतना के अभाव में नष्ट-भ्रष्ट हो जाएंगे। बिना चेतना के समस्त प्रजा नष्ट हो जाएगी।

इसे अगर सूर्य के उद्धारण के रूप में समझे जो सर्वव्यापक चेतना का हिस्सा है अगर सूर्य न रहे या जो उसका वास्तविक कर्म (पृथ्वी को प्रकाश एवं उसके गुण देना एवं संतुलन प्रदान करना) तो पृथ्वी के सभी जीव समाप्त हो जाएँगे उसी प्रकार चेतना के अभाव (lack of consciousness) में समस्त प्रजा, प्राणी नष्ट हो जाएगी। इसी प्रकार व्यक्ति में चेतना के निम्न होने से समाज, देश में कितने प्रकार की समस्या आ गई है चाहे वह अपराध का बढ़ना, जलवायु समस्या, आंतरिक एवं बाह्य युद्ध जैसे बुरे एवं भ्रष्ट कार्यों ने जगह ले ली है। इसी प्रकार सर्वव्यापक चेतना अगर संतुलित एवं सावधानी पूर्वक कर्म न करे तो इससे कई बहु ब्रह्मांड (multiverse), हमारे ब्रह्मांड, आकाशगंगाओं, जीव समुदाय में संकरता (complexity) उत्पन्न होने की संभावना है और मनुष्य/जीव प्राणी का तो अस्तित्व ही समाप्त हो जाएगा।

श्लोक 25:-

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।

कुर्याद्विद्वंस्तथासक्तश्चिकिरशूरलोकसंग्रहम् ।

अर्थ :-जिस प्रकार अज्ञानी लोग फल की इच्छा (आसक्ति) के साथ कर्म करते हैं, उसी प्रकार विद्वान् पुरुष को लोक-संग्रह के लिए बिना आसक्ति के कर्म करना चाहिए।

श्लोक 26:-

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥

अर्थ:-परमात्मा के स्वरूप में अटल स्थित हुए ज्ञानी पुरुष को चाहिए कि वह शास्त्र-विहित कर्मों में आसक्ति वाले अज्ञानियों की बुद्धि में भ्रम (अर्थात् कर्मों में अश्रद्धा) उत्पन्न न करे, किंतु स्वयं शास्त्र-विहित समस्त कर्म भलीभाँति करता हुआ उनसे भी वैसे ही करवावे।

सार (श्लोक 25-26):- व्यक्ति की इन्द्रियों के विषयों के प्रति इच्छा और आसक्ति उसे सांसारिक कर्म के लिए प्रेरित करते हैं और वही ज्ञानी पुरुष जिसने यह ज्ञान लिया है कि उसकी व्यक्तिगत चेतना और सर्वव्यापक चेतना एक ही है। जो घटित हो रहा है वह सर्वव्यापक चेतना की योजना द्वारा घटित हो रहा है और व्यक्तियों के पास जो व्यक्तिगत चेतना का स्तर है उसके अनुसार वह कर्म कर रहा है।

जीव प्राणी अपने अपने **व्यक्तिगत चेतना स्तर (individual consciousness level)** और प्रकृति के गुणों अनुसार विभिन्न क्रिया कर रहा है। **समिति (limited) और निम्न-उच्च चेतना (low -high consciousness) स्तर** अनुरूप जीव प्राणी सांसारिक कर्म (अच्छे-बुरे) कर रहा है और उन कर्मों के प्रति वह आसक्त है। लेकिन ज्ञानी जन को इन सांसारिक कर्म को बिना आसक्त हुए करने के लिए श्लोक 25 प्रेरित कर रहा है क्योंकि उसकी व्यक्तिगत चेतना और सर्वव्यापक चेतना एक ही है, जब मनुष्य अपने अहं (Ego) से ऊपर उठकर इस सर्वव्यापक चेतना से एकाकार होता है तब व्यक्ति को अनुभव होता है कि 'मैं नहीं, सब मैं ही हूँ' यानि व्यक्तिगत चेतना और सर्वव्यापक चेतना एक ही है। इस प्रकार ज्ञानी सभी कर्मों में स्वयं की चेतना द्वारा हो रहे हैं देख पाता है इसलिए उसे कर्मों में आसक्त नहीं होना चाहिए अन्यथा वह भी अज्ञानी, दंभी आचरण करने वाला कहलायेगा।

सिर्फ इतना ही नहीं ज्ञानी मनुष्य को चाहिए जो आम जन इच्छाओं और आसक्तियों के साथ सांसारिक कर्म कर रहे हैं उन्हें कर्मों में अविश्वास उत्पन्न न करे क्योंकि सांसारिक व्यक्ति या तो इच्छा पूर्ति के लिए कर्म करते हैं या फिर कर्मों का त्याग कर देते हैं। अगर कर्मों का त्याग कर देंगे तो सर्वव्यापक चेतना ने सभी के लिए कुछ न कुछ धर्म (कर्तव्य) निर्धारित किए हैं और व्यक्ति द्वारा कर्मों का त्याग उसे उसके सांसारिक कर्म, जिम्मेदारी से विमुख कर सकता है इसलिए ज्ञानी व्यक्ति को स्वयं शास्त्र विहित कर्म (चेतना उन्नत के लिए कर्म) को

करते हुए उनको सांसारिक कर्म करने के साथ साथ चेतना उन्नत के कर्म को भी करने के लिए प्रेरित करे।

यहाँ यह बात समझना होगा कि ब्रह्मांड में सभी व्यक्तियों के लिए अलग- अलग समय-स्थान ((Time-Space) निर्धारित है और सभी के लिए अलग अलग परिस्थिति और चेतना स्तर प्रदान किया गया है जिसके अनुसार वह कर्म कर रहा है। लेकिन जिस व्यक्ति ने अपनी चेतना को जान व्यक्तिगत चेतना को उन्नत कर आत्म ज्ञान और ब्रह्म ज्ञान प्राप्त कर लिया है वह अपने सांसारिक जीवन के लोक संग्रह के कर्मों को बिना आसक्त हुए करते हुए अन्य आम जन को भी शास्त्र विहित कर्म के लिए प्रेरित करे न की उसके सांसारिक कर्मों के त्यागने के लिए बोले।

सांसारिक कर्म भी व्यक्ति को सिखाने और चेतना की विविधता को और स्वयं को जानने का माध्यम भी है लेकिन किसी व्यक्ति के जीवन की आत्मज्ञान हो जाना यह बहुत ही सुंदर घटना है। जैसे महावीर, बुद्ध, कृष्ण, राम जैसे कई उद्धरण है हमारे समक्ष जिनको सांसारिक परिस्थिति ने चेतना को उन्नत करने के लिए प्रेरित किया है और अपनी चेतना को शुद्ध करने पश्चात उन्होंने भी सांसारिक व्यक्तियों को प्रेरित करने के लिए कर्म किया है। इसलिए आत्मज्ञानी पुरुष को भी सांसारिक कर्म करते हुए अपनी चेतना के प्रभाव से दूसरों व्यक्ति को प्रभावित कर सांसारिक कर्म के साथ साथ चेतना उन्नत करने प्रेरित करना चाहिए। यही “कर्मयोग” का सार भी है।

श्लोक 27:-

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।

अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥

अर्थ:-वास्तव में, सभी प्रकार के कर्म हर स्थिति में प्रकृति के गुणों द्वारा ही संपन्न किए जाते हैं। लेकिन, जिसका अहंकार मोहग्रस्त हो रहा है, ऐसा अज्ञानी व्यक्ति "मैं कर्ता हूँ" (मैंने यह किया) ऐसा मानता है।

श्लोक 28:-

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तान्त इति मत्वा न सज्जते ॥

अर्थ:- हे महाबाहो (अर्जुन)! गुण (इन्द्रियां) और कर्म के विभाग (प्रकृति) को जानने वाला ज्ञानी यह मानता है कि 'गुण ही गुणों में बरत रहे हैं' (अर्थात् इन्द्रियां ही विषयों में कार्य कर रही हैं), ऐसा समझकर वह उनमें आसक्त नहीं होता।

श्लोक :-29

प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन् विचालयेत्।

अर्थ:- प्रकृति के गुणों (सत्त्व, रज, तम) से मोहित अज्ञानी मनुष्य कर्मफल में आसक्त रहते हैं, और ज्ञानी व्यक्ति को ऐसे मन्दबुद्धि, अपूर्ण ज्ञान वाले लोगों को अपने ज्ञान से विचलित नहीं करना चाहिए, बल्कि उन्हें अपने नियत कर्म करते रहने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए।

सार (श्लोक 27-29):- प्रकृति—के स्वरूप को समझना आवश्यक है। “परा प्रकृति” को यहाँ शुद्ध चेतना अथवा आत्मस्वरूप के रूप में देखा गया है, जो निर्गुण, निराकार, कालातीत और अविनाशी है। यह व्यक्ति के भीतर साक्षीभाव के रूप में विद्यमान रहती है। इस अवस्था में व्यक्ति स्वयं को कर्मों का वास्तविक कर्ता नहीं, बल्कि शरीर, मन और प्रकृति में घटित होने वाली क्रियाओं का द्रष्टा (Observer) अनुभव करता है। यह चेतना मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त की परिवर्तनशील गतिविधियों से परे मानी जाती है और स्वयं कर्मबंधन से प्रभावित नहीं होती, बल्कि कर्मों की साक्षी रहती है।

इसके विपरीत “अपरा प्रकृति” प्रकृति के उन तत्वों से संबंधित है जिनके माध्यम से भौतिक और मानसिक जगत की गतिविधियाँ संचालित होती हैं। इसमें पंचमहाभूत—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—के साथ मन, बुद्धि और अहंकार भी सम्मिलित हैं। ये सभी अपरा प्रकृति के सत्त्व, रजस और तमस नामक तीन गुणों से प्रभावित होते हैं। इन गुणों की पारस्परिक क्रिया से मनुष्य के भीतर विभिन्न मानसिक, भावनात्मक और व्यवहारिक अवस्थाएँ उत्पन्न होती रहती हैं।

अपरा प्रकृति के साथ तादात्म्य स्थापित होने के कारण व्यक्ति अहंकार से स्वयं को शरीर और मन के साथ जोड़ लेता है। तब उसके भीतर यह भावना उत्पन्न होती है—“मैं शरीर हूँ, मैं मन हूँ, मैं ही कर्ता हूँ, मैं निर्णय करता हूँ, मैं संकल्प करता हूँ, मैं देखता हूँ, मैं सुनता हूँ और मैं ही सब कुछ करता हूँ।” यही कर्तापन का भाव व्यक्ति को कर्मों और उनके फलों से बाँधता है।

नोट:-परा प्रकृति जीव में “चेतना” या “आत्म तत्त्व ” है यह केवल साक्षी भाव रूप है। अन्य शब्दों में। परा प्रकृति वह उच्च चेतन एवं जीवनदायी शक्ति है जिसके कारण अपरा प्रकृति में जीवन और अनुभव की अभिव्यक्ति संभव होती है। जबकि “अपरा प्रकृत तीन गुणों(सत्व -तमस्-रजस) से युक्त है जिसके अंग पंचमहाभूत, मन, बुद्धि, अहं है। जब व्यक्ति को प्रभावित करने के संदर्भ में बात हो तो प्रकृति को अपरा प्रकृति के रूप में समझना चाहिए।

अपरा प्रकृति के तीन गुणों के कारण मन में निरंतर द्वैत उत्पन्न होता रहता है—सुख-दुःख, राग-द्वेष, लाभ-हानि, प्रिय-अप्रिय और सफलता-असफलता। इसी प्रकार बुद्धि भी विभिन्न विकल्पों और निर्णयों के बीच सही-गलत, अच्छा-बुरा और उचित-अनुचित का विचार करती रहती है।

लेकिन जो व्यक्ति गुणों के विभाजन और कर्मों के विभाजन को समझ लेता है, वह तत्त्वज्ञानी होने की दिशा में अग्रसर होता है। वह अपने भीतर स्थित सूक्ष्म तत्वों—मन, बुद्धि, अहंकार, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा पाँच प्राणों—की प्रकृति और कार्यप्रणाली को समझने लगता है। वह यह भी जानता है कि ये सभी तत्व अपरा प्रकृति के तीन गुणों के प्रभाव में विभिन्न प्रकार से प्रतिक्रिया करते हैं।

जब साधक इस सत्य को समझ लेता है कि प्रकृति के गुण और प्रकृति से निर्मित तत्व ही आपस में अंतःक्रिया कर रहे हैं, तब उसके भीतर कर्तापन का भ्रम धीरे-धीरे समाप्त होने लगता है। वह समझता है कि मन की इच्छाएँ, बुद्धि के निर्णय, इन्द्रियों की प्रवृत्तियाँ और शरीर की क्रियाएँ प्रकृति के क्षेत्र में होने वाली प्रक्रियाएँ हैं। शुद्ध चेतना इन परिवर्तनों की साक्षी है, स्वयं उनसे परिवर्तित नहीं होती।

इसी बोध के कारण ज्ञानयोगी प्रकृति के विषयों में आसक्त नहीं होता। इन्द्रियों को संयमित कर, मन को शांत कर, बुद्धि को स्थिर कर और अहंकार के कर्तापन को त्यागकर वह अपने

वास्तविक आत्मस्वरूप में स्थित होने का प्रयास करता है। इसका अर्थ संसार और कर्मों से भागना नहीं है, बल्कि कर्म करते हुए भी यह जानना है कि बाहरी परिवर्तन प्रकृति के क्षेत्र में घटित हो रहे हैं।

जो व्यक्ति अपने शरीर, मन और इन्द्रियों के साथ ही अपनी पहचान स्थापित करके जीवन व्यतीत करता है तथा शुद्ध चेतना अथवा आत्मा के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त नहीं करता, वह स्वाभाविक रूप से “अपरा प्रकृति” के गुणों के साथ आसक्त हो जाता है। वह स्वयं को शरीर और मन की इच्छाओं के अनुसार संचालित मानता है और इन्द्रिय-विषयों, व्यक्तिगत सुख तथा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति को जीवन का प्रमुख उद्देश्य बना लेता है।

ऐसा व्यक्ति अपरा प्रकृति के सत्त्व, रजस और तमस गुणों से प्रभावित होकर कर्म करता है। उसकी इच्छाएँ, रुचियाँ, निर्णय और कर्म उसके स्वभाव, संस्कारों तथा परिस्थितियों के अनुसार निर्मित होते हैं। इसलिए वह अभी कर्म और कर्मफल के बंधन में स्थित होता है तथा उसके लिए कर्म करना स्वाभाविक और आवश्यक है।

इसी कारण ज्ञानी और आत्मज्ञानी व्यक्ति को ऐसे लोगों को कर्म से हटाने या उनके मन में अनावश्यक भ्रम उत्पन्न करने का प्रयास नहीं करना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति अभी अपने मानसिक और आध्यात्मिक विकास की उस अवस्था में नहीं पहुँचा है जहाँ वह कर्म के वास्तविक स्वरूप और अनासक्ति को समझ सके, तो उसे अचानक कर्म-त्याग की शिक्षा देना उसके लिए हानिकारक हो सकता है। वह कर्म का त्याग तो कर सकता है, लेकिन मन से इच्छाओं और आसक्तियों का त्याग नहीं कर पाएगा।

नोट:-परा प्रकृति जीव में “चेतना” या “आत्म तत्त्व” है यह केवल साक्षी भाव रूप है जबकि अपरा प्रकृति तीन गुणों (सत्त्व-तमस-रजस) से युक्त है जिसके अंग पंचमहाभूत, मन, बुद्धि, अहं है। जब व्यक्ति को प्रभावित करने के संदर्भ में बात हो तो प्रकृति को अपरा प्रकृति के रूप में समझना चाहिए।

श्लोक 30:-

मयि सर्वाणि कर्माणि सन्न्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥

अर्थ:- मुझ (अंतर्यामी परमात्मा) में लगे हुए चित्त द्वारा संपूर्ण कर्मों को मुझमें अर्पण करके—आशारहित (कामना रहित), ममतारहित (आसक्ति रहित) और संतापरहित होकर युद्ध कर।

सार:- इस श्लोक में **कर्मयोग और आत्मसमर्पण** का अत्यंत गहरा सिद्धांत बताते हैं। मनुष्य का शरीर, मन, बुद्धि, अहंकार और इन्द्रियाँ प्रकृति के क्षेत्र से संबंधित हैं और प्रकृति के गुण—**सत्त्व, रजस और तमस**—इनकी प्रवृत्तियों को प्रभावित करते हैं। शरीर के साथ तादात्म्य स्थापित होने के कारण व्यक्ति स्वयं को इन मानसिक और शारीरिक गतिविधियों का कर्ता मानने लगता है। किंतु ये सभी तत्व परिवर्तनशील हैं और समय, परिस्थिति तथा प्रकृति के नियमों के अधीन रहते हैं।

इसके विपरीत परमात्मा अथवा **सर्वव्यापक चेतना** को नित्य, शाश्वत, अनंत और परिवर्तन से परे अस्तित्व के रूप में समझा जाता है। इसलिए श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि अपने **चित्त को परमात्मा में स्थित करके** अपने समस्त कर्म उसी को अर्पित करो। यहाँ चित्त से आशय मन, विचार, भावनाएँ, स्मृतियाँ, संस्कार और मानसिक गतिविधियों के उस व्यापक क्षेत्र से है, जिसके माध्यम से व्यक्ति संसार का अनुभव करता है।

सभी कर्मों को परमात्मा में अर्पित करने का अर्थ कर्मों को छोड़ देना नहीं है, बल्कि **कर्तापन और कर्मफल की व्यक्तिगत आसक्ति को त्याग देना** है। व्यक्ति कर्म करे, अपने कर्तव्य का पूर्ण रूप से पालन करे, किंतु उसके भीतर यह भावना न हो कि यह कर्म केवल मेरी व्यक्तिगत इच्छा, लाभ या अहंकार की पूर्ति के लिए है। कर्म को व्यापक चेतना, धर्म और लोककल्याण के प्रति समर्पित करने से व्यक्ति धीरे-धीरे आशा, ममता और संताप के बंधनों से मुक्त होने लगता है।

व्यक्ति के भीतर भी निरंतर एक प्रकार का **मानसिक और आध्यात्मिक युद्ध** चलता रहता है—एक ओर इन्द्रियों की प्रवृत्तियाँ, इच्छाएँ, भय, मोह और अहंकार हैं, जबकि दूसरी ओर विवेक, आत्मसंयम, सत्य और आत्मबोध की दिशा है। इसी आंतरिक संघर्ष में साधक को

अपने मन और चेतना को प्रकृति की निम्न प्रवृत्तियों के अधीन नहीं होने देना चाहिए। उसे कर्म करना चाहिए, किंतु कर्म करते समय व्यक्तिगत इच्छा, फल की आसक्ति और मानसिक द्वंद्व को धीरे-धीरे त्यागना चाहिए। यही मानसिक और आध्यात्मिक युद्ध व्यक्ति को अपनी सीमित व्यक्तिगत चेतना से ऊपर उठने का अवसर देता है।

जब व्यक्ति अपने कर्मों में उपस्थित **द्वैतता और सापेक्षता**—जैसे सफलता-असफलता, लाभ-हानि, सुख-दुःख और मान-अपमान—से अत्यधिक प्रभावित होना छोड़ देता है, तब उसका चित्त अधिक स्थिर होने लगता है। वह अपने कर्मों को व्यक्तिगत अहंकार के बजाय एक व्यापक व्यवस्था और चेतना के प्रति समर्पित करने लगता है। **भौतिक जगत (physical world) और आध्यात्मिक जगत (spiritual world)** में प्रकृति के गुणों से मानसिक स्तर और आध्यात्मिक स्तर पर युद्ध करना जरूरी है तभी व्यक्तिगत चेतना का रूपांतरण सर्वव्यापक चेतना में हो पाएगा। लेकिन इसके पूर्व सब कर्म में द्वैतता (duality), सापेक्षता (relativity) को त्याग कर सर्वव्यापक चेतना की योजना मानते हुए श्रद्धा, समर्पण करना चाहिए और किसी भी कर्म में इच्छा (आशा), ममता (आसक्ति), द्वन्द्व (संताप) को त्याग देना चाहिए।

श्लोक 31:-

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।

श्रद्धावन्तोऽनासूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥

अर्थ:- जो लोग मेरे मत का पालन, श्रद्धापूर्वक (श्रद्धावन्तः) और बिना किसी ईर्ष्या/दोष-दृष्टि (अनसूयन्तः) के निरंतर (नित्यम्) करते हैं, वे भी सभी कर्मों के बंधन से मुक्त हो जाते हैं।

श्लोक 32:-

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढास्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥

अर्थ:-परंतु जो मनुष्य ईर्ष्यावश मेरे इस सिद्धांत (मत) में दोष निकालते हैं और इसका पालन नहीं करते, उन सभी ज्ञानों में मोहित, विवेकहीन और पतित (नष्ट) हुए मनुष्यों को ही समझो।"

सार(श्लोक 31-32):- जो व्यक्ति इस **कर्मयोग के मार्ग** को अपनाते है अर्थात् निष्काम भाव से कर्म करना, सभी कर्मफल में सम भाव रखना, बिना इच्छा, बिना आसक्ति, बिना के द्वन्द के धर्म अनुरूप कर्म करना और सर्वव्यापक चेतना की योजना मानते हुए श्रद्धा, समर्पण रखते है और मेरे(सर्वव्यापक चेतना) इस सिद्धांत को नित्य (लगातार) अपनाते हैं तब वह जान जाता है की कर्म छोड़ने से नहीं,

चेतना रूपांतरण से मुक्ति होती है । ऐसे कर्म संस्कार नहीं बनाते, क्योंकि उनमें अहं नहीं होता।।

यहाँ मत कोई मतवाद नहीं, बल्कि चेतना से किया गया कर्म (Conscious Action) मानते है।जो व्यक्ति कर्तापन के अहंकार से नहीं, बल्कि साक्षी-भाव से कर्म करता है।जब व्यक्ति श्रद्धा पूर्वक एवं बिना किसी दोष दृष्टि से संकल्प लेते है कि “मैं चेतना के नियम के साथ चल रहा हूँ”।

कृष्ण यहाँ सर्वव्यापक चेतना की ओर इशारा करते है जो कर्म करते हुए भी “**अकर्म**” रूप है क्योंकि ऐसे कर्म कर्तापन के भाव से मुक्त और कर्मबंधन से मुक्त होते है । जब कोई साधक इन सिद्धांतों को पालन करता है जो अध्याय के पूर्व में बताए गए है तो साधक अपनी अभ्यासरत चेतना को “अकर्म” की ओर ले जाता है जिसमें वह अहं त्याग कर सर्वव्यापक चेतना की योजना मानते हुए श्रद्धा, समर्पण करना चाहिए और किसी भी कर्म में इच्छा (आशा), ममता (आसक्ति), द्वन्द (संताप) को नहीं रखता जिससे उसके कर्म, अकर्म रूप में ही रहते है । इसलिए जो श्रद्धा और बिना दोष दृष्टि (अनासूया) से कर्म करता है, वह कृष्ण रूपी शुद्ध, सर्वव्यापक चेतना की दिशा में प्रवेश करता है।

लेकिन जब व्यक्ति अहंकार-जनित चेतना के रूप में कर्म करता है। स्वयं को सही दूसरी के कर्मों में दोष दृष्टि रखता है “मैं ही सही हूँ, अन्य गलत हैं।” ऐसी चेतना ग्राहक नहीं, प्रतिरोधक बन जाती है। जो कृष्ण के बताए चेतन कर्म-सिद्धांत को अपनाता नहीं वह कर्म करता है, पर बिना बोध के। इसी प्रकार जीवन जीता है, पर जागरूकता निम्न होती है। क्रिया तो है, चेतना शुद्ध नहीं है। जो शुद्ध चेतना से कर्म करता है, वह मुक्त होता है। जो शुद्ध चेतना का विरोध करता है, वह कर्मों में उलझ जाता है।

श्लोक 33:-

**सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति**

अर्थ:- हर प्राणी, यहाँ तक कि ज्ञानी व्यक्ति भी, अपनी प्रकृति (स्वभाव) के अनुसार ही कर्म करता है। इसे जबरन रोकने का प्रयास व्यर्थ है।

सार:- यह श्लोक प्रकृति, स्वभाव और कर्म के बीच के संबंध को स्पष्ट करते हैं। प्रत्येक प्राणी अपनी प्रकृति अर्थात् अपने संस्कारों, गुणों, प्रवृत्तियों और मानसिक संरचना के अनुसार कर्म करता है। यहाँ तक कि ज्ञानी व्यक्ति भी शरीर और मन के स्तर पर प्रकृति की गतिविधियों से पूरी तरह अलग नहीं हो जाता। अंतर केवल इतना है कि ज्ञानी व्यक्ति प्रकृति को प्रकृति के रूप में पहचानता है और उससे अपनी वास्तविक पहचान नहीं बनाता।

मनुष्य की प्रकृति मुख्यतः सत्त्व, रजस और तमस इन तीन गुणों के प्रभाव से निर्मित होती है। इन्हीं के अनुसार उसकी रुचियाँ, इच्छाएँ, भावनाएँ, विचार और कर्म करने की प्रवृत्तियाँ अलग-अलग दिखाई देती हैं। इसलिए किसी व्यक्ति की बाहरी गतिविधियों को केवल बलपूर्वक रोक देना उसके भीतर की प्रकृति को समाप्त नहीं करता। यदि मन के भीतर इच्छा और आसक्ति बनी हुई है, तो बाहरी नियंत्रण के बावजूद वही प्रवृत्ति किसी अन्य रूप में प्रकट हो सकती है।

“निग्रहः किं करिष्यति?” अर्थात् केवल दमन करने से क्या प्राप्त होगा? चेतना के विकास के लिए प्रकृति का जबरन दमन पर्याप्त नहीं है; आवश्यकता है प्रकृति को समझने, उसके गुणों को पहचानने और धीरे-धीरे उनका रूपांतरण करने की। व्यक्ति के भीतर मन,

बुद्धि, अहंकार और इन्द्रियाँ प्रकृति के क्षेत्र में कार्य करते हैं। इनकी प्रवृत्तियों को देखकर व्यक्ति को यह समझना चाहिए कि “यह प्रकृति की प्रवृत्ति है, मेरा वास्तविक आत्मस्वरूप नहीं।” यही पहचान उसे धीरे-धीरे साक्षीभाव की ओर ले जाती है।

ज्ञानी और अज्ञानी में मुख्य अंतर यहीं है। अज्ञानी प्रकृति की प्रवृत्ति को “मैं” और “मेरा” मानकर उससे तादात्म्य कर लेता है, जबकि ज्ञानी यह समझता है कि प्रकृति अपने गुणों के अनुसार कार्य कर रही है और शुद्ध चेतना उसकी साक्षी है। इसलिए ज्ञानी प्रकृति को दबाने के बजाय उसे समझकर, संयमित करके और उच्चतर दिशा में रूपांतरित करता है।

इसका अर्थ यह भी नहीं है कि मनुष्य अपनी प्रकृति को बदल ही नहीं सकता। यदि ऐसा होता तो साधना, योग, ज्ञान और संस्कार-परिवर्तन का कोई अर्थ नहीं रहता। श्लोक का संकेत यह है कि जबरन दमन से प्रकृति का वास्तविक परिवर्तन नहीं होता; जागरूकता, विवेक, अभ्यास और उचित कर्म से प्रकृति का परिष्कार होता है।

सार रूप में मनुष्य प्रकृति से भागकर नहीं, बल्कि प्रकृति को समझकर उससे ऊपर उठता है। प्रकृति के गुण शरीर और मन के स्तर पर अपना कार्य करते रह सकते हैं, लेकिन जब व्यक्ति स्वयं को उन गुणों से अलग शुद्ध साक्षी चेतना के रूप में पहचानने लगता है, तब वह प्रकृति के प्रभाव में कर्म करते हुए भी उसके बंधन से मुक्त होने की दिशा में अग्रसर होता है।

श्लोक 34:-

इन्द्रियस्येन्द्रियस्थार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।

तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ।

अर्थ:-इन्द्रियों के विषयों (राग-द्वेष) के पीछे मनुष्य को नहीं भागना चाहिए। राग और द्वेष, ये दोनों ही व्यक्ति के आत्म-विकास या आध्यात्मिक मार्ग में बाधक हैं।

सार:-यह श्लोक इन्द्रियों, उनके विषयों तथा राग-द्वेष के बीच बनने वाले संबंध को समझाते हैं। इन्द्रियाँ जब किसी वस्तु, व्यक्ति या अनुभव के संपर्क में आती हैं, तो मन उस अनुभव के प्रति आकर्षण या विकर्षण उत्पन्न कर सकता है। प्रकृति के तीन गुणों—सत्त्व, रजस और

तमस—से प्रभावित होकर किसी विषय के प्रति राग (आकर्षण/आसक्ति) या द्वेष (विकर्षण/नापसंद) उत्पन्न होता है।

इन्द्रियों द्वारा प्राप्त सूचना को मन ग्रहण करता है, बुद्धि उसका मूल्यांकन और निर्णय करती है तथा अहंकार उस अनुभव को “मेरे” और “मेरे लिए” के संदर्भ में जोड़ देता है। इस प्रकार व्यक्ति वस्तुओं और अनुभवों के बीच भेद स्थापित करने लगता है और उसके भीतर पसंद तथा नापसंद की मानसिक संरचना विकसित होती जाती है।

जब किसी विषय के प्रति राग उत्पन्न होता है, तो मन बार-बार उसी वस्तु, व्यक्ति या अनुभव के बारे में सोचता है और उसे प्राप्त करने की इच्छा विकसित होने लगती है। इसके विपरीत द्वेष उत्पन्न होने पर मन उसी विषय से बचने, उसे अस्वीकार करने या उसके प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण रखने लगता है। देखने में राग और द्वेष एक-दूसरे के विपरीत दिखाई देते हैं, लेकिन दोनों की मूल प्रवृत्ति समान है—दोनों ही मन को किसी बाहरी विषय से बाँध देते हैं।

राग में मन कहता है—“मुझे यह चाहिए।”

द्वेष में मन कहता है—“मुझे यह नहीं चाहिए।”

दोनों ही अवस्थाओं में मन स्वतंत्र और स्थिर नहीं रहता। वह निरंतर पसंद-नापसंद, सुख-दुःख, लाभ-हानि, मान-अपमान तथा अच्छा-बुरा जैसे द्वंद्वों में उलझा रहता है। परिणामस्वरूप बुद्धि भी इन मानसिक प्रतिक्रियाओं से प्रभावित होकर स्थिर विवेक के साथ निर्णय लेने में कठिनाई अनुभव करती है।

यही कारण है कि साधना के मार्ग में राग-द्वेष से स्वतंत्र होना अत्यंत महत्वपूर्ण माना गया है। इसका अर्थ यह नहीं है कि व्यक्ति वस्तुओं को देखना, उनका उपयोग करना या जीवन के अनुभवों को स्वीकार करना छोड़ दे। इसका अर्थ है कि वह किसी विषय के प्रति ऐसी मानसिक आसक्ति या घृणा विकसित न करे जिससे उसकी चेतना उस विषय की दास बन जाए।

जब मन राग-द्वेष से अपेक्षाकृत मुक्त होता है, तब उसमें स्थिरता और समत्व विकसित होने लगता है। स्थिर मन के कारण बुद्धि अधिक स्पष्टता से कार्य कर सकती है और व्यक्ति अपने विचारों, इच्छाओं तथा प्रतिक्रियाओं को साक्षीभाव से देखने में सक्षम होता है। यही

अवस्था उसे शरीर, मन, बुद्धि और अहंकार से परे अपने वास्तविक स्वरूप की खोज की ओर ले जाती है।

जहाँ व्यक्ति व्यक्तिगत चेतना की सीमाओं से ऊपर उठकर सर्वव्यापक शुद्ध चेतना की ओर अग्रसर होता है। जब व्यक्ति निरंतर यह देख पाता है कि राग और द्वेष प्रकृति तथा मन की प्रतिक्रियाएँ हैं, न कि उसकी वास्तविक आत्म-सत्ता, तब उसके भीतर “मैं कौन हूँ?” जैसे आत्म-अन्वेषण का मार्ग खुलता है।

राग और द्वेष दोनों ही चेतना को बाहरी विषयों से बाँधते हैं। राग वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा के रूप में और द्वेष उससे दूर भागने की प्रवृत्ति के रूप में मन को अस्थिर रखते हैं। जब साधक इन दोनों से ऊपर उठकर समत्व और साक्षीभाव में स्थित होता है, तब मन शांत, बुद्धि स्थिर और चेतना अधिक स्पष्ट होती है। यही अवस्था उसे कर्मयोग, ज्ञानयोग और आत्मज्ञान के मार्ग पर आगे बढ़ने तथा अपनी व्यक्तिगत चेतना के व्यापक चेतना में विस्तार की दिशा प्रदान करती है।

श्लोक 35:-

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥

अर्थ:- स्वधर्म (अपने निर्धारित कर्तव्य) के पालन को श्रेष्ठ बताता है। इसमें श्रीकृष्ण कहते हैं कि अच्छी प्रकार आचरण में लाए गए दूसरे के धर्म से गुणरहित भी अपना धर्म अति उत्तम है। अपने कर्तव्य (स्वधर्म) का पालन करते हुए मृत्यु भी कल्याणकारी है, जबकि दूसरे का धर्म या मार्ग भयानक (भयावह) है।

सार:-यह श्लोक स्वधर्म और परधर्म के बीच के अंतर को अत्यंत गहराई से समझाते हैं। यहाँ स्वधर्म का अर्थ केवल जाति, पेशे, सामाजिक भूमिका या किसी बाहरी पहचान से निर्धारित कर्तव्य नहीं, बल्कि व्यक्ति की अपनी प्रकृति, क्षमता, संस्कार और चेतना की अवस्था के अनुरूप कर्म के रूप में समझा जा सकता है।

प्रत्येक जीव की प्रकृति और चेतना का स्वरूप अलग है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति के लिए कर्म का मार्ग भी समान नहीं हो सकता। आपकी चेतना-आधारित व्याख्या में इसे Conscious Pattern (चेतना-पैटर्न) के रूप में समझा जा सकता है। व्यक्ति जिस प्रकार

की आंतरिक प्रवृत्तियों, क्षमताओं, संस्कारों और चेतना के साथ विकसित हुआ है, उसी के अनुरूप जो कर्म स्वाभाविक रूप से उसके भीतर से अभिव्यक्त होता है, वही उसका स्वधर्म है।

मनुष्य की व्यक्तिगत चेतना जब तक पूर्ण रूप से विकसित नहीं होती, तब तक उसका स्वधर्म भी पूर्ण या निर्दोष नहीं होता। उसमें सीमाएँ, कमियाँ और अपूर्णताएँ हो सकती हैं। फिर भी वह अपना है और इसलिए उसके माध्यम से व्यक्ति स्वयं को शुद्ध और विकसित कर सकता है। यही कारण है कि अपूर्ण रूप से किया गया अपना स्वधर्म भी दूसरे के पूर्ण रूप से किए गए धर्म से श्रेष्ठ बताया गया है।

इसके विपरीत **परधर्म** का अर्थ दूसरे व्यक्ति की प्रकृति, चेतना और परिस्थितियों से उत्पन्न कर्म को अपने ऊपर आरोपित कर लेना है। जब व्यक्ति समाज, परिवार, दूसरे लोगों की सफलता, व्यवहार या मान्यताओं को देखकर बिना अपनी प्रकृति को समझे उनका अनुकरण करने लगता है, तब उसके भीतर और बाहरी कर्म के बीच असंगति उत्पन्न हो सकती है। यह असंगति मानसिक द्वंद्व, तनाव, भय और असंतोष का कारण बन सकती है।

इसे एक सरल उदाहरण से समझ सकते हैं—यदि हाथी बाज की तरह उड़ने की इच्छा करे और उसी के अनुसार अपना जीवन व्यवस्थित करने लगे, तो वह अपनी प्रकृति के विरुद्ध संघर्ष करेगा। उसका समस्या यह नहीं है कि उड़ना बुरा है, बल्कि यह कि वह अपनी प्रकृति को छोड़कर किसी दूसरे की प्रकृति को अपनाने का प्रयास कर रहा है। इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को पहले अपनी प्रकृति और अपनी चेतना की वास्तविक क्षमता को समझना चाहिए।

स्वधर्म का पालन करने पर भी व्यक्ति को सामाजिक आलोचना, असफलता या विरोध का सामना करना पड़ सकता है। फिर भी यदि उसका कर्म उसकी वास्तविक प्रकृति, विवेक और व्यापक कल्याण के अनुरूप है, तो वह अपनी आंतरिक चेतना से जुड़ा रहता है। इसके विपरीत केवल सामाजिक प्रतिष्ठा, तुलना या दूसरों की स्वीकृति के लिए अपनाया गया परधर्म व्यक्ति को स्वयं से दूर कर सकता है।

यहाँ धर्म का अर्थ किसी विशेष धार्मिक समूह, संप्रदाय, पूजा-पद्धति या मान्यता से नहीं है। धर्म को व्यापक अर्थ में उस व्यवस्था और कर्तव्य के रूप में समझा जा सकता है जिसके अनुसार प्रत्येक जीव अपनी प्रकृति और अस्तित्व के अनुरूप जीवन जीता है। इसलिए कोई

व्यक्ति किसी धार्मिक समूह से जुड़ा हो या न हो, वह फिर भी अपने स्वभाव, संस्कारों और चेतना के अनुसार किसी न किसी प्रकार का कर्म कर रहा है।

समस्या तब उत्पन्न होती है जब व्यक्ति अपनी वास्तविक प्रकृति को जाने बिना बाहरी प्रभावों, सामाजिक संस्कारों, इच्छाओं और दूसरों की चेतना-पद्धतियों को मिश्रित रूप में अपनाता रहता है। तब उसकी व्यक्तिगत चेतना में स्पष्टता का अभाव रहता है। वह न स्वयं को पूर्णतः समझ पाता है और न दूसरों तथा समाज को सही दृष्टि से समझ पाता है। परिणामस्वरूप व्यक्ति-व्यक्ति और समाज-समाज के बीच संघर्ष उत्पन्न होते हैं।

मनुष्य की अनेक इच्छाओं और कर्मों के पीछे मूल रूप से पूर्णता की खोज होती है। व्यक्ति भौतिक, मानसिक और सामाजिक अभावों को पूरा करने का प्रयास करता रहता है; लेकिन सभी बाहरी आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद भी भीतर एक गहरा प्रश्न शेष रह सकता है—**“मैं वास्तव में कौन हूँ?”** आपकी चेतना-दृष्टि में यह प्रश्न व्यक्ति को सीमित व्यक्तिगत चेतना से सर्वव्यापक चेतना की ओर ले जाने वाला मूल प्रश्न है।

इसलिए स्वधर्म केवल वर्तमान सामाजिक भूमिका निभाने का नाम नहीं है। इसका गहरा अर्थ है—अपनी चेतना की प्रकृति को पहचानना, अपनी वास्तविक क्षमता के अनुरूप कर्म करना और उसी कर्म के माध्यम से अपनी चेतना को क्रमशः शुद्ध एवं विकसित करना। जब व्यक्ति अपने स्वधर्म को समझते हुए कर्म करता है, तो उसका कर्म उसकी चेतना के विकास का साधन बन जाता है।

सार रूप में, **स्वधर्म** “दूसरों जैसा बनने का प्रयास करने के बजाय अपनी वास्तविक चेतना-प्रकृति को पहचानकर उसके अनुरूप कर्म करना।” अपना मार्ग अपूर्ण हो सकता है, उसमें कठिनाइयाँ भी हो सकती हैं, लेकिन वही व्यक्ति को आत्म-विकास और आत्मज्ञान की दिशा में ले जाता है। **परधर्म** बाहर से आकर्षक और पूर्ण दिखाई दे सकता है, किंतु यदि वह हमारी चेतना की प्रकृति से असंगत है तो वह भीतर भय, द्वंद्व और असंतुलन उत्पन्न कर सकता है। इसलिए अपने स्वभाव को समझकर, उसे शुद्ध करते हुए और व्यापक चेतना की दिशा में विकसित करते हुए कर्म करना ही स्वधर्म का वास्तविक सार है।

श्लोक 36:-

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पुरुषः।
अनिच्छन्नपि वाष्ण्य बलादिव नियोजितः॥

अर्थ:-अर्जुन ने कहा- (कृष्ण)!मनुष्य न चाहता हुआ भी, बलात् लगाए हुए की भांति, किससे प्रेरित होकर पाप का आचरण करता है?

सार:- इस श्लोक में अर्जुन एक अत्यंत मूलभूत प्रश्न उठाते हैं—यदि मनुष्य के भीतर शुद्ध चेतना सदैव विद्यमान है, तो वह जानते हुए भी गलत कर्म क्यों करता है? कई बार बुद्धि यह पहचानती है कि कोई कार्य अनुचित है, मन भी उसे करने से रोकता है, फिर भी व्यक्ति किसी अदृश्य आंतरिक शक्ति के दबाव में उस कर्म को कर बैठता है। अर्जुन का यही संशय आगे श्रीकृष्ण द्वारा काम और क्रोध के स्वरूप को समझाने का आधार बनता है।

यहाँ अर्जुन रूपी साधक के सामने एक महत्वपूर्ण प्रश्न है कि यदि व्यक्ति की मूल सत्ता शुद्ध चेतना है और वही परमात्मा का स्वरूप है, तो पाप अथवा अधर्म की प्रवृत्ति उत्पन्न कहाँ से होती है? इसका उत्तर समझने के लिए शुद्ध चेतना और व्यक्तिगत चेतना-पैटर्न के बीच अंतर करना आवश्यक है।

शुद्ध चेतना स्वयं साक्षी है। वह किसी कर्म की इच्छा करने वाली, निर्णय लेने वाली या कर्मफल भोगने वाली मानसिक सत्ता के रूप में कार्य नहीं करती। इसके विपरीत, व्यक्ति का मानसिक पैटर्न और व्यक्तिगत चेतना-पैटर्न शरीर, मन, बुद्धि, अहंकार, इन्द्रियों, संस्कारों और अनुभवों के साथ जुड़ा हुआ होता है। यही व्यक्तिगत चेतना-पैटर्न संसार से प्राप्त सूचनाओं, सामाजिक प्रभावों, पारिवारिक संस्कारों, पूर्व अनुभवों और इन्द्रिय-विषयों से निरंतर प्रभावित होता रहता है।

इसलिए जब व्यक्ति कहता है—“मैं चाहता हूँ, मैं सोचता हूँ, मैं निर्णय करता हूँ और मैं कर्म करता हूँ”, तब अक्सर उसके निर्णयों के पीछे शुद्ध चेतना नहीं, बल्कि मन-बुद्धि-अहंकार से निर्मित मानसिक पैटर्न और व्यक्तिगत चेतना-पैटर्न सक्रिय होता है। यदि यह पैटर्न किसी इच्छा, भय, मोह, संस्कार या आसक्ति से प्रभावित है, तो बुद्धि के सही निर्णय को जानते हुए भी व्यक्ति विपरीत कर्म कर सकता है।

इसे एक उदाहरण से समझें—किसी व्यक्ति की बुद्धि स्पष्ट रूप से जानती है कि क्रोध में लिया गया निर्णय गलत है। मन भी उसे शांत रहने के लिए संकेत देता है, फिर भी अचानक तीव्र क्रोध उसे प्रतिक्रिया करने के लिए प्रेरित कर देता है। यहाँ शुद्ध चेतना ने उसे क्रोध करने के लिए बाध्य नहीं किया; बल्कि मन, संस्कार, अहंकार और इच्छा की संयुक्त प्रवृत्ति ने उसकी चेतना के व्यक्तिगत स्तर को प्रभावित किया।

यही कारण है कि साधक के लिए केवल “मैं आत्मा हूँ” जान लेना पर्याप्त नहीं है। उसे अपने मन, बुद्धि, अहंकार, इन्द्रियों और संस्कारों की कार्यप्रणाली को भी समझना आवश्यक है। जब व्यक्ति अपने मानसिक और व्यक्तिगत चेतना-पैटर्न को पहचानने लगता है, तब वह यह देखने में सक्षम होता है कि कौन-सी इच्छा उसे प्रेरित कर रही है, कौन-सा संस्कार प्रतिक्रिया उत्पन्न कर रहा है और किस प्रकार अहंकार स्वयं को कर्ता मानकर निर्णयों को प्रभावित कर रहा है।

इस प्रकार अर्जुन का प्रश्न वास्तव में साधक के भीतर उठने वाला प्रश्न है—“जब मैं भीतर से शुद्ध हूँ, तो मेरे भीतर अशुद्ध कर्म की प्रेरणा कहाँ से आती है?” यही प्रश्न व्यक्ति को शुद्ध चेतना और प्रकृति से निर्मित व्यक्तिगत चेतना के अंतर को समझने की दिशा में ले जाता है।

शुद्ध चेतना पाप की प्रेरक नहीं, बल्कि साक्षी है। पाप अथवा अधर्म की प्रवृत्ति व्यक्तिगत चेतना के उस स्तर पर उत्पन्न होती है जहाँ मन, इन्द्रियाँ, अहंकार, संस्कार और इच्छाएँ परस्पर क्रिया करते हैं। जब व्यक्ति इस आंतरिक प्रक्रिया को पहचानना शुरू करता है, तब वह अपने कर्मों का सचेत निरीक्षण कर सकता है और धीरे-धीरे मानसिक और व्यक्तिगत चेतना-पैटर्न को सही करके अपनी वास्तविक साक्षी चेतना में स्थापित होने की दिशा में बढ़ सकता है।

श्लोक 37:-

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥

अर्थ:- श्री भगवान ने कहा—रजोगुण से उत्पन्न हुआ यह काम (इच्छा) ही क्रोध है। यह बहुत खाने वाला (अर्थात् भोगों से कभी न अघाने वाला) और बहुत पापी है। इस काम (इच्छा) को ही इस विषय में तू वैरी (शत्रु) जान।

श्लोक 38:-

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥

अर्थ :-जैसे आग धुएँ से ढकी रहती है (धुएँ के कारण आग ठीक से दिखती नहीं)। जैसे दर्पण धूल से ढका रहता है (धूल के कारण दर्पण में प्रतिबिंब साफ नहीं दिखता)। जैसे गर्भ जेर से ढका रहता है (गर्भ में बच्चा झिल्ली और पानी से घिरा रहता है)। उसी प्रकार, उस काम (वासना/इच्छा) के द्वारा यह ज्ञान (आत्मज्ञान/विवेक) ढका रहता है।

श्लोक 39:-

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च।

अर्थ:- कुन्तीपुत्र! इस अग्नि के समान कभी न पूर्ण होने वाले (कभी न तृप्त होने वाले) कामरूपी नित्य वैरी के द्वारा मनुष्य का ज्ञान ढका हुआ है।

सार (श्लोक 37-39):- जब व्यक्ति की चेतना की प्रकृति रजोगुण से युक्त रहती अर्थात् जब चेतना स्थिर आत्म-स्वरूप में न रहकर लगातार “कुछ पाने” में दौड़ती है, वहीं से “काम” पैदा होता है। जिसमें व्यक्ति की चेतना इन्द्रियों के विषयों में उलझ जाती है, उन काम विषयों को प्राप्त करने के लिए व्यक्ति अनेक प्रकार से प्राप्त करने के प्रयास करता है अगर काम प्राप्ति में बाधा आ जाती है तो क्रोध उत्पन्न होता है। व्यक्ति का अहं इच्छा -क्रोध को संतुष्ट करने

में लगा रहता है और मन-बुद्धि उन इच्छाओं की पूर्ति के लिए अनेक प्रकार से योजना बनाने, विकल्प ढूँढने में लगे रहते हैं।

मन की एक वृत्ति है कि एक इच्छा (काम) पूर्ण होते ही वह दूसरी इच्छा की तरफ़ बढ़ जाता है, इस कारण मनुष्य अपने मन और बुद्धि को शांत-स्थिर न कर पाने के कारण स्वयं की शुद्ध चेतना से दूर हो जाते हैं इसलिए यह काम (इच्छा) ही व्यक्ति को स्वयं की शुद्ध चेतना से भटकाने के लिए असली शत्रु है। इसलिए कर्मयोग के मार्ग में इच्छा-आसक्ति के त्यागने की बात पर बल दिया जाता है।

जिस प्रकार धुएँ के कारण आग ठीक से दिखती नहीं, धूल के कारण दर्पण में प्रतिबिम्ब साफ़ नहीं दिखता, गर्भ में बच्चा झिल्ली और पानी से घिरा रहता है उसी प्रकार काम (इच्छा) के कारण मन, बुद्धि स्थिर न होने कारण और व्यक्तिगत मानसिक और चेतना पैटर्न में इन्द्रियों और मन के विषय हावी होने से व्यक्ति पूर्ण जागरूकता को प्राप्त नहीं हो पाता और स्वयं की चेतना को नहीं जान पाता और व्यक्ति का आत्मज्ञान (विवेक) काम, क्रोध, लोभ से ढका रहता है।

इसी प्रकार ध्यान करने वाले साधको के लिए भी ये इन्द्रियों विषयों से उत्पन्न इच्छा, दबी हुई इच्छाएँ ध्यान में प्रगति में बाधा उत्पन्न होती है। इन इच्छाओं के रहने पर साधक का मन बार-बार उन इच्छाओं की तरफ़ जाता है जिससे वह ध्यान को नियमित और गहराई से नहीं कर पाता, यह समस्या शुरुआती साधकों के साथ ज़्यादा रहती है और जो गुरु निर्देश में ध्यान नहीं करते वे इन काम (इच्छाओं) के कारण बार-बार ध्यान के मार्ग से भटक जाते हैं। इसलिए जब तक साधक इन इन्द्रियों, मन पर पूर्ण नियंत्रण न प्राप्त कर ले तब तक इन इन्द्रियों के विषयों में किसी प्रकार का काम नहीं उत्पन्न करना चाहिए और जो पूर्व की इच्छाएँ अवचेतन मन में स्मृति रूप में जमा हैं उन्हें भी त्यागने का प्रयास करना चाहिये।

यही से साधक के असली मानसिक-आध्यात्मिक युद्ध की शुरुआत होती है। जब तक यह संभव नहीं हो जाता तो यह मानने की भूल नहीं करनी चाहिए कि साधक को आत्मज्ञान प्राप्त हो गया है, किसी भी विषयों इच्छा या आसक्ति रहने से साधक को मानना चाहिए की अभी भी उसने अपने मूल चेतना प्रकृति को नहीं जाना है, अभी भी उसका आत्मज्ञान इच्छा रूपी काम से ढका हुआ है।

श्लोक 40:-

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्॥

अर्थ:- इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि, ये सब इसके (काम के) वासस्थान कहे जाते हैं। यह काम (वासना) इन मन, बुद्धि और इन्द्रियों द्वारा ही ज्ञान को ढककर देहधारी (जीवात्मा) को मोहित करता है।

सार:- काम (वासना/आकर्षण) का निवास तीन स्तरों पर होता है :- बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ । जब काम (वासना) बुद्धि के स्तर पर निवास करती है तो व्यक्ति सही-गलत का निर्णय उस काम वासना या इच्छा के आधार पर ही करने लगता है और बुद्धि उसी काम /इच्छा के विषय में अधिक सक्रिय रहती है जबकि अन्य विषयों के प्रति कम जागरूक रहती है। ऐसी बुद्धि असंतुलित होती है जो सिर्फ स्वयं काम विषयों पर केंद्रित हो और विवेक की कमी अन्य विषयों के प्रति कम हो जाती है।

वही मन के स्तर पर इच्छा होने से मन सिर्फ काम (इच्छा) के विषयों के प्रति सुख को महसूस करता है और अन्य विषयों के प्रति उदासीन हो जाता है अगर मनुष्य का मन जिस काम वासना को प्राप्त करना चाहता है वह अपूर्ण रह जाती है तो वह क्रोध का कारण भी बनता है। मन इच्छाओं के प्रति आसक्ति होने से पूर्ण जागरूक नहीं रह पाता।

इसी प्रकार इच्छा जिस इन्द्रिय विषयों की होगी वही इन्द्रि अधिक सक्रिय रहेगी और उसी का मनुष्य अधिक प्रयोग करेगा जैसे किसी व्यक्ति को भोज पदार्थ की लत है या कोई ऐसा चलचित्र देखने की जिससे उससे अधिक सुख प्राप्त होता है तो संभव है कि वह जिद्द या आँख की इन्द्रियों का अधिक प्रयोग करे और अन्य इन्द्रियों के प्रति कम जागरूक रहेगा। इसलिए यह काम वासना इन बुद्धि, मन, इन्द्रियों के साथ मिलकर जीव (देहधारी चेतना) के ज्ञान को ढक देते हैं और उसे भ्रमित कर देते हैं।

श्लोक 41:-

तस्मात् त्वम् इन्द्रियाणि आदौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि हि एनम् ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥ 41॥

अर्थ :-अतः हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ अर्जुन! तुम सबसे पहले इन्द्रियों को वश में करके इस महापापी काम (वासना) का नाश करो, जो ज्ञान और विज्ञान को नष्ट करने वाला है।

सार:-इस श्लोक में श्रीकृष्ण “काम” (असंयमित इच्छा/वासना) को मनुष्य के आत्म-विकास का एक प्रमुख अवरोध बताते हैं और अर्जुन को निर्देश देते हैं कि सबसे पहले इन्द्रियों को संयमित करके “काम” पर विजय प्राप्त करने का प्रयास करो। यहाँ “इन्द्रिय-संयम” का अर्थ इन्द्रियों को दबाना नहीं, बल्कि उनके द्वारा उत्पन्न आकर्षण और इच्छाओं का दास न बनना है।

इन्द्रियाँ जब लगातार बाहरी विषयों के संपर्क में रहती हैं और उन विषयों के प्रति “राग” उत्पन्न होता है, तो मन में बार-बार उसी वस्तु, अनुभव या परिस्थिति को प्राप्त करने की इच्छा जन्म लेती है। इच्छा के बढ़ने पर मन उसी के बारे में संकल्प-विकल्प, कल्पना और योजना करता रहता है। धीरे-धीरे व्यक्ति का ध्यान वर्तमान अनुभव से हटकर या तो अतीत की घटनाओं और निर्णयों में उलझ जाता है अथवा भविष्य में इच्छाओं की पूर्ति के लिए योजनाएँ बनाने लगता है।

इस प्रकार “काम” व्यक्ति की मानसिक ऊर्जा और ध्यान को निरंतर बाहरी विषयों की ओर प्रवाहित करती रहती है। मन इच्छाओं का चिंतन करता है, बुद्धि उनकी पूर्ति के उपाय खोजती है और अहंकार उन्हें “मेरी इच्छा” तथा “मेरी उपलब्धि” के रूप में ग्रहण करता है। परिणामस्वरूप व्यक्ति की चेतना वर्तमान क्षण की वास्तविकता से दूर होती जाती है।

यही कारण है कि श्रीकृष्ण “काम” को ज्ञान और विज्ञान का नाश करने वाला कहते हैं। यहाँ ज्ञान को सही-अनुचित को समझने वाली बौद्धिक समझ और विज्ञान को उस सत्य का प्रत्यक्ष, विवेकपूर्ण और अनुभवात्मक बोध माना जा सकता है। तीव्र इच्छा जब मन पर हावी होती है, तो व्यक्ति कई बार यह जानते हुए भी कि कोई कार्य उसके लिए उचित नहीं है, उसकी ओर आकर्षित हो जाता है। इस प्रकार इच्छा विवेक को कमजोर कर सकती है।

एक जागरूक व्यक्ति इसके विपरीत अपने मन और बुद्धि को वर्तमान कर्म और उपलब्ध वास्तविक परिस्थितियों में स्थापित रखने का अभ्यास करता है। वह भविष्य की आवश्यक योजना बना सकता है और अतीत से सीख भी सकता है, लेकिन उसकी चेतना अतीत के पश्चाताप और भविष्य की अनियंत्रित कामनाओं में फँसी नहीं रहती। वह वर्तमान में उपलब्ध परिस्थिति के अनुसार स्पष्टता से कर्म करता है।

इसलिए चेतना के विकास के लिए केवल इच्छाओं को दबाना पर्याप्त नहीं है। **आवश्यक**

है कि व्यक्ति इन्द्रियों → मन → इच्छा → बुद्धि → कर्म की पूरी प्रक्रिया को जागरूकता से देखे। जैसे ही इच्छा उत्पन्न हो, व्यक्ति उसके साथ तुरंत तादात्म्य स्थापित करने के बजाय उसे साक्षीभाव से देखना सीखे। धीरे-धीरे इच्छा की पकड़ कमजोर होने लगती है और मन अधिक शांत तथा बुद्धि अधिक स्थिर होने लगती है।

यह प्रक्रिया निरंतर अभ्यास मांगती है। ध्यान, आत्मनिरीक्षण, इन्द्रिय-संयम, निष्काम कर्म और विवेक के अभ्यास से व्यक्ति अपनी मानसिक प्रतिक्रियाओं को समझने और नियंत्रित करने की क्षमता विकसित कर सकता है। तब मन और बुद्धि इच्छाओं के पीछे भागने के बजाय चेतना के उच्चतर उद्देश्य की ओर कार्य करने लगते हैं।

“काम” स्वयं में केवल इच्छा का उत्पन्न होना नहीं है; समस्या तब पैदा होती है जब इच्छा व्यक्ति की चेतना पर अधिकार कर लेती है। अनियंत्रित इच्छाएँ मन को भूत और भविष्य में उलझाकर वर्तमान की जागरूकता को कमजोर करती हैं तथा बुद्धि और विवेक को प्रभावित कर सकती हैं। इसलिए इन्द्रिय-संयम, वर्तमान में जागरूक रहना और इच्छाओं को साक्षीभाव से देखना चेतना के शुद्धिकरण और आत्म-विकास की दिशा में अत्यंत महत्वपूर्ण साधन हैं।

श्लोक 42:-

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।

मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः!!

अर्थ:- इन्द्रियों को (स्थूल शरीर से) श्रेष्ठ, बलवान और सूक्ष्म कहा जाता है। इन इन्द्रियों से भी पर यानी श्रेष्ठ मन है, मन से भी श्रेष्ठ बुद्धि है और जो बुद्धि से भी अत्यंत परे है, वह 'आत्मा' है।

श्लोक 43:-

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥

अर्थ:- हे महाबाहो (अर्जुन), इस प्रकार बुद्धि से परे (सूक्ष्म, बलवान और अत्यंत श्रेष्ठ) आत्मा को जानकर और बुद्धि के द्वारा मन को वश में कर, तू इस कामरूप (कामवासना रूपी) दुर्जेय शत्रु को मार डाल।

सार (श्लोक 42-43) :- ये दोनों श्लोकों में मनुष्य के स्थूल शरीर से लेकर शुद्ध चेतना (आत्मा) तक की सूक्ष्मता और श्रेष्ठता की एक क्रमिक सीढ़ी बताते हैं—शरीर →

इन्द्रियाँ → मन → बुद्धि → आत्मा।

यह क्रम केवल किसी शक्ति की तुलना नहीं करता, बल्कि साधक को यह समझने का मार्ग देता है कि उसकी वास्तविक सत्ता शरीर और मानसिक गतिविधियों से कहीं अधिक सूक्ष्म और व्यापक है।

स्थूल शरीर इन्द्रियों के माध्यम से संसार का अनुभव करता है। इन्द्रियाँ शरीर से सूक्ष्म हैं क्योंकि शरीर की बाहरी गतिविधियों के पीछे संवेदन और अनुभव की क्षमता इन्द्रियों के माध्यम से कार्य करती है। इन्द्रियों से भी सूक्ष्म **मन** है, क्योंकि वही इन्द्रियों से प्राप्त अनुभवों को ग्रहण करता है और उनमें इच्छा, आकर्षण, विकर्षण तथा संकल्प-विकल्प उत्पन्न करता है। मन से भी सूक्ष्म **बुद्धि** है, क्योंकि बुद्धि विचारों और विकल्पों का विवेकपूर्ण परीक्षण तथा निर्णय करने का कार्य करती है।

इन सबके परे **आत्मा** अथवा **शुद्ध चेतना** है, जो इन सभी गतिविधियों की साक्षी है। चेतना-दृष्टि में जिस प्रकार सर्वव्यापक चेतना को व्यापक अस्तित्व, ऊर्जा और जगत का मूल आधार माना गया है, उसी प्रकार व्यक्ति के स्तर पर आत्मा को शरीर, इन्द्रियों, मन और बुद्धि की चेतन उपस्थिति का मूल आधार समझा जा सकता है।

स्थूल शरीर → इन्द्रियाँ → मन → बुद्धि → आत्मा (शुद्ध चेतना)

यहाँ पहले चार स्तर प्रकृति और अनुभव के क्षेत्र से संबंधित हैं, जबकि आत्मा उनसे परे **साक्षी-स्वरूप चेतना** का प्रतिनिधित्व करती है।

स्थूल शरीर भौतिक शरीर है; मन, बुद्धि, अहंकार और इन्द्रियों को सामान्यतः **सूक्ष्म शरीर** की कार्यप्रणाली से जोड़ा जाता है; जबकि इनके संस्कार और बीज-रूप प्रवृत्तियों को **कारण स्तर** से समझा जाता है। इन तीनों के साक्षी रूप में जो चेतना है, वही आत्मा का क्षेत्र है। अद्वैत और उपनिषद्-परंपरा में इस साक्षी चेतना की पहचान को आत्मज्ञान की दिशा में महत्वपूर्ण माना गया है।

श्लोक 43 में श्रीकृष्ण इसी समझ को साधना में परिवर्तित करने का निर्देश देते हैं—**बुद्धि से परे आत्मा को जानकर बुद्धि के द्वारा मन को स्थिर करो और कामरूपी दुर्जेय शत्रु पर विजय प्राप्त करो।**

यहाँ काम केवल शारीरिक वासना तक सीमित नहीं है; व्यापक अर्थ में यह **अनियंत्रित इच्छा और किसी वस्तु को अपनी पूर्णता का आधार मान लेने की प्रवृत्ति** है। जब इच्छा तीव्र होती है तो मन उसी विषय के बारे में बार-बार सोचता है। मन की यह अस्थिरता बुद्धि के निर्णय को भी प्रभावित करती है। इसलिए काम पर विजय पाने का वास्तविक मार्ग केवल इच्छा को दबाना नहीं, बल्कि **बुद्धि को स्थिर और मन को उसके अधीन करना** है।

जब बुद्धि विवेकपूर्ण और स्थिर होती है, तो वह मन की प्रत्येक इच्छा के पीछे भागने के बजाय उसे देख सकती है। मन भी धीरे-धीरे इन्द्रियों के विषयों का दास बनने से मुक्त होता है। इस प्रकार साधना का क्रम बनता है—

आत्मबोध → स्थिर बुद्धि → नियंत्रित मन → संयमित इन्द्रियाँ → शुद्ध कर्म।

यहाँ एक महत्वपूर्ण बात यह है कि **आत्मा को बुद्धि का उत्पाद नहीं माना जा सकता।** बुद्धि आत्मा को वस्तु की तरह पकड़ नहीं सकती; आत्मबोध का अर्थ अपनी वास्तविक सत्ता को पहचानना है—अर्थात् यह देखना कि विचार, भावनाएँ, इच्छाएँ और निर्णय बदलते रहते हैं, लेकिन उनका साक्षी तत्व निरंतर उपस्थित रहता है।

जब साधक इस साक्षीभाव में स्थिर होने लगता है, तब सुख-दुःख, लाभ-हानि, मान-अपमान, राग-द्वेष और भय-क्रोध जैसे द्वंद्वों की पकड़ कम होने लगती है। बुद्धि की स्थिरता

का अर्थ यह नहीं कि वह निर्णय लेना बंद कर देती है, बल्कि यह है कि निर्णय अहंकार और आसक्ति के दबाव से मुक्त होकर अधिक स्पष्टता से लिए जाते हैं।

आत्मज्ञान की गहरी अवस्था में साधक के भीतर “मैं” और “दूसरा” का कठोर भेद भी शिथिल होने लगता है। वह सभी प्राणियों में एक ही चेतना की उपस्थिति को देखने की दिशा में बढ़ता है। यही समदृष्टि व्यक्ति को व्यक्तिगत सीमाओं से ऊपर उठाकर व्यापक चेतना की अनुभूति की ओर ले जाती है।

स्थूल शरीर और इन्द्रियाँ भौतिक अनुभव का क्षेत्र हैं; मन और बुद्धि परिवर्तनशील मानसिक आयाम से संबंधित हैं; जबकि आत्मबोध उस साक्षी चेतना की ओर संकेत करता है जो इन सभी परिवर्तनों को देखती है। इसे आध्यात्मिक रूपक के रूप में उपयोग करना अधिक उचित है; इसे आधुनिक भौतिकी के सिद्ध आयामों के समान वैज्ञानिक तथ्य नहीं मानना चाहिए।

अंततः मनुष्य की वास्तविक शक्ति बाहरी इन्द्रिय-विषयों को जीतने में नहीं, बल्कि अपनी चेतना की गहराई को पहचानने में है। आत्मा को अपना वास्तविक स्वरूप समझकर बुद्धि को स्थिर, बुद्धि के द्वारा मन को संयमित और मन के द्वारा इन्द्रियों को नियंत्रित करने वाला साधक काम, आसक्ति और द्वंद्व की शक्ति को कमजोर कर सकता है। तब कर्म बंधन का कारण न होकर आत्मबोध और चेतना-विस्तार का साधन बन जाता है।

अध्याय - 4

ज्ञान-कर्म-संन्यास योग

चतुर्थ अध्याय को “ज्ञान-कर्म-संन्यास योग” इसलिए कहा जाता है क्योंकि इसमें ज्ञान, कर्म और संन्यास के पारस्परिक संबंध को अत्यंत गहराई से समझाया गया है। इस अध्याय का मर्म “ज्ञान के साथ कर्म करना जो व्यक्ति को कर्तापन के भाव के त्याग के साथ-साथ इच्छाओं और आसक्ति के त्याग” की ओर ले जाता है। वास्तविक संन्यास कर्म का त्याग नहीं, बल्कि कर्म करते हुए अज्ञान, अहंकार, आसक्ति और कर्तापन का त्याग है। जब कर्म ज्ञान और जागरूकता के साथ किया जाता है, तब वही कर्म साधना और आत्मबोध का माध्यम बन जाता है।

इस अध्याय की चेतना-दृष्टि से मूल धारणा यह है कि शुद्ध चेतना स्वयं कर्मों से निर्लिप्त और साक्षी है, किंतु उसी चेतना को समस्त अनुभव और अस्तित्व का आधार माना जाता है। चेतना के साथ ऊर्जा, बुद्धि, समय-स्थान और प्रकृति के स्तरों को जोड़कर भौतिक जगत की विविध अभिव्यक्तियों को समझा जा सकता है। प्रकृति के सत्त्व, रजस और तमस गुण जीव के मन, बुद्धि और इन्द्रियों को प्रभावित करते हैं तथा उनके सामने अनंत संभावनाएँ प्रस्तुत करते हैं। व्यक्ति अपने चेतना-स्तर, संस्कार और विवेक के अनुसार उन संभावनाओं में से चुनाव करता है और कर्मेन्द्रियों के माध्यम से उन्हें व्यवहार में प्रकट करता है।

इस प्रकार कर्म का अनुभव मुख्यतः शरीर-इन्द्रिय-मन-बुद्धि-अहंकार के स्तर पर होता है। मन संकल्प-विकल्प करता है, बुद्धि निर्णय लेती है, अहंकार स्वयं को कर्ता मानता है और शरीर उस निर्णय को कर्म के रूप में अभिव्यक्त करता है। किंतु इन सभी गतिविधियों के पीछे उपस्थित शुद्ध चेतना स्वयं इन परिवर्तनों की साक्षी है। जब व्यक्ति अपने वास्तविक स्वरूप को नहीं पहचानता, तब उसकी चेतना शरीर, इन्द्रियों और मन के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेती है। वह मानने लगता है—“मैं

शरीर हूँ, मैं मन हूँ, मैं सोचता हूँ, मैं करता हूँ और मुझे ही कर्म का फल प्राप्त होना चाहिए।” यही कर्तापन और आसक्ति कर्म को बंधन का कारण बनाते हैं।

इसके विपरीत, कर्मयोग व्यक्ति को कर्म छोड़ने के बजाय कर्म की आंतरिक गुणवत्ता बदलने की शिक्षा देता है। जब व्यक्ति समत्वभाव, निष्कामता और जागरूकता के साथ कर्म करता है, तब धीरे-धीरे उसे यह बोध होने लगता है कि शरीर और मन प्रकृति के स्तर पर अपना कार्य कर रहे हैं, जबकि उसकी वास्तविक सत्ता उनसे परे साक्षी चेतना है। यहीं ज्ञान और कर्म का मिलन होता है। ज्ञान केवल बौद्धिक जानकारी नहीं रह जाता, बल्कि कर्म करते हुए उसकी प्रत्यक्ष जागरूकता विकसित होती है। व्यक्ति कर्म करता है, लेकिन कर्म में अहंकार नहीं जोड़ता; फल प्राप्त करता है, लेकिन फल के प्रति अपनी पहचान नहीं बनाता; परिस्थितियों का सामना करता है, लेकिन उनसे अपनी आंतरिक शांति को निर्धारित नहीं होने देता।

कर्म तब “बंधन” बनता है जब उसमें अहंकार और आसक्ति जुड़ जाती है; वही कर्म “योग” बन जाता है जब उसमें ज्ञान, समत्व और साक्षीभाव जागृत हो जाता है। इस दृष्टि से संन्यास का वास्तविक अर्थ कर्म से पलायन नहीं, बल्कि कर्म के भीतर उपस्थित अज्ञान का त्याग है। व्यक्ति संसार में रहते हुए भी अपने कर्मों को व्यापक चेतना के प्रति समर्पित कर सकता है। इसलिए आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए बाहरी संसार को छोड़ना अनिवार्य नहीं है; आवश्यक है कि व्यक्ति संसार के साथ अपने संबंध की चेतना को बदल दे।

यह अध्याय भी संकेत करता है कि शुद्ध चेतना इन्द्रियों, मन, बुद्धि, संस्कार और अहंकार के आवरणों के कारण स्वयं को सीमित व्यक्तिगत सत्ता के रूप में अनुभव करने लगती है। परिणामस्वरूप व्यक्ति परिवर्तनशील भौतिक जगत को ही अंतिम सत्य मान लेता है और अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाता है। इसलिए कृष्ण यहाँ केवल एक ऐतिहासिक पात्र के रूप में नहीं, बल्कि साधक के भीतर विद्यमान शुद्ध, व्यापक और विवेकपूर्ण चेतना के प्रतीक के रूप में भी समझे जा सकते हैं, जबकि अर्जुन उस व्यक्तिगत चेतना का प्रतिनिधित्व करता है जो मोह, द्वंद्व और कर्तव्य के प्रश्नों में उलझी हुई है। कृष्ण के उत्तर उस व्यक्तिगत चेतना को क्रमशः उसके वास्तविक स्वरूप की ओर ले जाते हैं।

इस अध्याय में कर्म और अकर्म की धारणा भी इसी संदर्भ में महत्वपूर्ण हो जाती है। बाहरी दृष्टि से व्यक्ति कर्म कर रहा हो सकता है, लेकिन यदि उसके भीतर कर्तापन, अहंकार और फल की आसक्ति नहीं है, तो वह कर्म आंतरिक रूप से बंधनकारी नहीं रहता। इसके विपरीत बाहरी रूप से कर्म का त्याग कर देने पर भी यदि मन में इच्छा, अहंकार और आसक्ति बनी हुई है, तो वास्तविक संन्यास नहीं हुआ।

इस अध्याय को “योग-विज्ञान” की एक महत्वपूर्ण आधारभूमि के रूप में भी देखा जा सकता है—जहाँ व्यक्तिगत चेतना को अज्ञान, आसक्ति और अहंकार से मुक्त करते हुए उसके वास्तविक स्वरूप की पहचान की दिशा दिखाई जाती है। यह प्रक्रिया कर्म से भागने की नहीं, बल्कि कर्म करते हुए चेतना को शुद्ध करने और विस्तृत करने की प्रक्रिया है।

श्लोक 1:-

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥

अर्थ:- भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा: मैंने इस अविनाशी योग विद्या का उपदेश सूर्यदेव (विवस्वान्) को दिया था। विवस्वान् ने अपने पुत्र मनु को दिया और मनु ने अपने पुत्र राजा इक्ष्वाकु को दिया।

श्लोक 2:-

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ॥

अर्थ:- हे परन्तप (शत्रुतापन अर्जुन)! इस प्रकार परम्परा से प्राप्त इस योग को राजर्षियों ने जाना, किन्तु उसके बाद वह योग बहुत काल से इस पृथ्वी लोक में लुप्तप्राय (नष्ट) हो गया।

सार (श्लोक 1-2) :- चेतना अविनाशी है जो समय के बंधन से परे है और सभी जीव, मनुष्य में चेतना विद्यमान है जो कि अविनाशी तत्त्व है और व्यक्तिगत चेतना का सर्वव्यापक चेतना (शुद्ध चेतना) में रूपांतरित करने के अविनाशी योग के बारे में उपरोक्त श्लोक में

कृष्ण बात कर रहे हैं, यह एक प्राचीन विधि है जो हमारे ऋषि-मुनियों द्वारा चेतना के रूपांतरण के लिए प्रयुक्त करते थे। यह योग **आत्मचेतना (self consciousness)** से जुड़ने की विधि है। यह कोई नया ज्ञान नहीं, बल्कि शाश्वत “चेतना का विज्ञान” है — जो कभी नष्ट नहीं होता।

उपरोक्त श्लोक बताते हैं कि **किस प्रकार शुद्ध चेतना का अवरोहण इन्द्रियों के माध्यम से भौतिक शरीर में प्रकट होता है**। इस अवरोहण को कृष्ण से सूर्यदेव, सूर्यदेव से मनु और मनु से इक्ष्वाकु के प्रतीकात्मक रूप में बताया है। शुद्ध चेतना रूपी कृष्ण ने इस अविनाशी योग को सूर्यदेव को दिया। अर्थात् शुद्ध चेतना सूर्य रूपी प्रकाश के रूप में स्वयं को प्रकट करती है। सूर्य यहाँ केवल खगोलीय पिंड नहीं, बल्कि प्रकाश और जागरूकता (Awareness) का प्रतीक है। चेतना का पहला गुण है — प्रकाश देना। जैसे सूर्य अंधकार हटाता है, वैसे ही आत्मचेतना अज्ञान को हटाती है। जिस प्रकार सूर्य के उदय होते ही अंधकार स्वयं समाप्त हो जाता है, उसी प्रकार आत्मचेतना के जागरण से मनुष्य के भीतर का **अज्ञान, भ्रम और मोह** धीरे-धीरे दूर होने लगता है। सूर्य बाहरी संसार को प्रकाशित करता है, जबकि शुद्ध चेतना हमारे **आंतरिक संसार को प्रकाशित करती है**।

आयाम के दृष्टिकोण के आधार पर चेतना पाँचवे आयाम के प्रकाश स्रोत है, जबकि तीसरे आयाम एवं चतुर्थ आयाम में प्रकाश विद्युत चुम्बकीय ऊर्जा के रूप में है लेकिन पाँचवाँ आयाम में प्रकाश केवल फोटोन / ऊर्जा नहीं है बल्कि यह चेतना युक्त ऊर्जा (Conscious Energy) और सूचना क्षेत्र (Information Field) या शुद्ध बुद्धि (Pure Intelligence) भी है। यह पाँचवाँ आयाम है जहाँ शुद्ध ज्ञान, शुद्ध चेतना का प्रवाह है ब्रह्मा सूत्र में इसलिए ब्रह्मा/ सर्वव्यापक चेतना को प्रकाश स्वरूप ब्रह्मा कहा गया है।

ध्यान में यह प्रकाश आज्ञा चक्र में प्रकाशित होता है जो बाहरी प्रकाश न होकर आंतरिक प्रकाश है। सभी ग्रह, तारे, प्राणी प्रत्येक कण सभी इसी प्रकाशमान चेतना की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। वेदों में कहा गया है " सर्व खल्विदं ब्रह्मा" - यह संपूर्ण जगत ब्रह्म (चेतन प्रकाश) है।

यह चेतन प्रकाश या पाँचवाँ आयाम का प्रकाश सर्वव्यापक चेतना से जुड़ने का माध्यम है जहाँ व्यक्ति शरीर, मन से परे स्वयं को और चेतन प्रकाश को एक देखता है। यह पाँचवे आयाम का प्रकाश जिस पृष्ठ या **अमूर्त पहलू (Non- physical dimension)** में रहता

है है उसे **परम चेतन मन (supreme mind)** कहते हैं जिसे इस श्लोक में “मनु” की संज्ञा दी गई है इसी परमचेतन मन के अंतर्गत मनुष्य और अन्य जीव प्राणी के मन अंतर्निहित होते हैं।

नोट:- पाँचवे आयाम के प्रकाश संबंधी अवधारणा का प्रतिपादन लेखक की “ईश्वर:चेतना का पाँचवा आयाम” पुस्तक में वर्णित है

जब मन पूर्णतः **निर्विकल्प, शांत और शाश्वत चेतना में स्थित** होता है, तब उसमें दृश्य जगत से संबंधित कोई संस्कार, सूचना या मानसिक विकार सक्रिय नहीं होते। इस अवस्था को “**चित्**” कहा जा सकता है, जो शुद्ध चेतना का प्रतिबिंब स्वरूप है। *चित्* केवल जानने और प्रकाशित करने वाली चेतन सत्ता है।

लेकिन जैसे ही इस चेतना के संपर्क में दृश्य जगत की **सूचनाएँ, अनुभव और संस्कार** आने लगते हैं, तब यह *चित्* अनुभवों और मानसिक छापों से युक्त होकर “**चित्त**” के रूप में प्रकट होता है। चित्त में इच्छाएँ, संवेदनाएँ, स्मृतियाँ, विचार, कल्पनाएँ और मन की विभिन्न वृत्तियाँ सम्मिलित होती हैं। यह हमारे आंतरिक अनुभव का वह गहरा स्तर है, जहाँ जीवन के अनुभव और संस्कार संग्रहित एवं सक्रिय रहते हैं।

इसी चित्त में जब **पृथक अस्तित्व का भाव—“मैं” और “मेरा”** उत्पन्न होता है, तब **अहं (Ego)** का जन्म होता है। जब यही चित्त विभिन्न अनुभवों को ग्रहण करता है, उनका अनुभव करता है तथा उनके प्रति संकल्प-विकल्प उत्पन्न करता है, तब उसकी क्रियाशीलता को **मन (Mind)** कहा जाता है।

जब मन प्राप्त सूचनाओं, घटनाओं, वस्तुओं और परिस्थितियों का **विश्लेषण, विवेक और निर्णय** करता है, तब यही शक्ति **बुद्धि (Intellect)** कहलाती है। बुद्धि का कार्य केवल विचार करना नहीं, बल्कि विभिन्न विकल्पों में अंतर करके उचित-अनुचित का निर्णय करना भी है।

और जब **मन, बुद्धि तथा अहंकार से उत्पन्न अनुभवों और संस्कारों को संचित एवं संरक्षित करने की क्षमता** कार्य करती है, तब उसे **स्मृति (Memory)** कहा जाता है।

शुद्ध चेतना → चित् → चित्त → अहंकार → मन → बुद्धि → स्मृति

एक ही चेतन सत्ता द्वारा विभिन्न कार्यों और अवस्थाओं को अलग-अलग रूपों में अनुभव करती है। शुद्ध चेतना स्वयं निर्विकार है, जबकि मन, चित्त, बुद्धि, अहंकार और स्मृति उसी चेतना के माध्यम से कार्य करने वाले आंतरिक उपकरणों के विभिन्न आयाम हैं।

मन इन्द्रियों से प्राप्त अनुभवों के प्रति संकल्प-विकल्प करता है, बुद्धि उनका विश्लेषण और निर्णय करती है तथा अहंकार उन्हें व्यक्तिगत पहचान से जोड़ देता है। इस प्रकार इच्छा उत्पन्न होती है और इच्छा के आधार पर **कर्म का जन्म** होता है। इसी संदर्भ में मनु के पुत्र **राजा इक्ष्वाकु** को उस प्रतीकात्मक अवस्था के रूप में समझा जा सकता है, जहाँ व्यक्तिगत चेतना संगठित होकर कर्म और जीवन की दिशा निर्धारित करती है। इन्द्रियों द्वारा निर्मित अनुभव, जागरूकता और कर्म के माध्यम से व्यक्ति संसार में सक्रिय होता है

उपरोक्त प्रकाश ऊर्जा, चित्त, मन, बुद्धि, अहं, इन्द्रियों के क्रम में सूक्ष्म शरीर (astral body) से स्थूल शरीर (physical body) बनता है जैसा की मनुष्य का शरीर या अन्य ‘जीव प्राणी’ का शरीर भौतिक रूप में हमें दिखायी देता है। चेतना मनुष्य शरीर और मन से एकबद्ध होकर एवं अहं से प्रेरित होकर सर्वव्यापक (शुद्ध चेतना) को भूल जाती है। जब चेतना शुद्ध होती है तब “योग” बनता है। लेकिन जब चेतना भोग और अहंकार में गिरती है तो यह योग “नष्ट” हो जाता है। यह **“योग का नष्ट होना”** बाहरी ग्रंथ का नष्ट होना नहीं, बल्कि अंदर की जागरूकता का खो जाना है।

पूर्व में कई सिद्ध ऋषियों ने इस मर्म तत्व को जानकर मोक्ष प्राप्त किया है और व्यक्तिगत चेतना (individual consciousness) को शुद्ध चेतना (pure consciousness) में रूपांतरित किया है। लेकिन धीरे-धीरे इस मर्म तत्व को शुद्ध चेतना के रूपांतरण के मार्ग विलुप्त होने के कारण यह “योग मार्ग” लोगो के लिए नष्ट हो गया है।

गीता इस योगमार्ग को पुनः जीवित करने और आम जन तक इस योगमार्ग को पहुँचाने के लिए लेख व्यास की सुन्दर प्रस्तुति है।

लेकिन मनुष्य बिना इन्द्रियों के प्रत्याहार और चित्त वृत्ति निरोध के शुद्ध चेतना के मार्ग को नहीं जान सकता। शुद्ध चेतना के **आरोहण मार्ग (शुद्ध चेतना-प्रकाश (सूर्य) - मनु (मन)- इन्द्रियाँ -भौतिक शरीर)** के क्रम को सही रूप जानकर और इसके विपरीत पुनः शुद्ध चेतना को प्राप्त करने के प्रयास करने जरूरी है। इसलिए मनुष्य को भौतिक शरीर से

परे इन्द्रियों से चेतना और प्राणशक्ति का प्रत्याहार (withdraw) करके, ध्यान द्वारा मन को स्थिर करके, चेतना के उच्च आयाम जो समय के परे है वहाँ स्वयं की चेतना को स्थापित करना होगा।

श्लोक 3:-

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।

भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥

अर्थ:- कृष्ण बताते हैं कि पहले भी यह योग (परमेश्वर से संबंध स्थापित करने का विज्ञान) सूर्य को दिया गया था, जिसे अब वे अर्जुन को फिर से बता रहे हैं।

सार:- यहाँ कृष्ण रूपी गुरु अर्जुन रूपी साधक को पुनः योग का ज्ञान प्रदान कर रहे हैं, ताकि साधक स्वयं अपनी चेतना को उन्नत, शुद्ध और रूपांतरित कर सके। यह योग केवल बाहरी कर्म या शारीरिक अभ्यास नहीं, बल्कि व्यक्तिगत चेतना को शुद्ध एवं सर्वव्यापक चेतना के साथ पुनः एकरूप करने की प्रक्रिया है।

यह रूपांतरण शरीर, बुद्धि, भावनाओं और ऊर्जा के विभिन्न स्तरों पर साधना के माध्यम से संभव हो सकता है। योग की विभिन्न विधियाँ—जैसे कर्म, ज्ञान, भक्ति, ध्यान, प्राण और आत्म-अनुशासन—व्यक्ति को उसके बाहरी और सीमित अनुभवों से भीतर की ओर ले जाती हैं।

जब साधक इन साधनों का अभ्यास करता है, तो धीरे-धीरे “मैं” और “मेरा” का सीमित अहंभाव शिथिल होने लगता है। मन की चंचलता कम होती है, बुद्धि शुद्ध और विवेकपूर्ण बनती है तथा भावनाएँ संतुलित होने लगती हैं। इस आंतरिक शुद्धि के पश्चात् साधक उस गहरी प्रज्ञा और चैतन्य स्वरूप को अनुभव करने लगता है, जो मन, बुद्धि और अहंकार से परे साक्षी रूप में सदैव उपस्थित है।

इस प्रकार योग का वास्तविक उद्देश्य केवल व्यक्ति को संसार से दूर करना नहीं, बल्कि उसकी चेतना को इतना शुद्ध करना है कि वह अपनी सीमित व्यक्तिगत पहचान से ऊपर उठकर अपने भीतर और समस्त अस्तित्व में व्याप्त शुद्ध चेतना का अनुभव कर सके।

अर्थात्—योग व्यक्तिगत चेतना की सीमाओं को पार कर शुद्ध, जागरूक और सर्वव्यापक चेतना की अनुभूति तक पहुँचने की आंतरिक यात्रा है।

श्लोक4:-

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।

कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति॥

अर्थ: अर्जुन ने कहा—आपका जन्म तो अभी हाल का है और सूर्य का जन्म बहुत पहले (कल्प के आदि में) हुआ था। अतः मैं यह कैसे समझूँ कि इस योग को आपने ही आदि में सूर्य से कहा।

सार:-यहाँ अर्जुन पुनः संशय में पड़ जाते हैं कि शुद्ध चेतना रूपी कृष्ण पहले विद्यमान थे या ब्रह्मांडीय प्रकाश रूपी सूर्य पहले अस्तित्व में आया। अर्जुन इस प्रश्न को अभी शरीर और काल (Time) की दृष्टि से देख रहे हैं। उनकी चेतना अभी जन्म-मरण और समय की सीमाओं से पूर्णतः मुक्त नहीं हुई है।

अर्जुन के मन में स्वाभाविक प्रश्न उठता है—जो कृष्ण वर्तमान समय में जन्मे हुए दिखाई देते हैं, वे सूर्य को प्राचीन काल में इस योग का ज्ञान कैसे दे सकते हैं? क्योंकि अर्जुन रूपी व्यक्तिगत चेतना अभी स्वयं को वर्तमान शरीर, मन और समय के साथ जोड़कर देखती है। इसलिए वह शाश्वत शुद्ध चेतना रूपी कृष्ण के वर्तमान जन्म से पहले भी उनके अस्तित्व और उनकी सर्वकालिक उपस्थिति को समझ नहीं पा रही है।

व्यक्तिगत चेतना जब मन, बुद्धि और अहंकार के आवरणों से ढकी होती है, तब उसका ज्ञान सीमित हो जाता है। इसी कारण अर्जुन अपने पूर्व जन्मों को स्मरण नहीं कर पाते। वे चेतना के उस शाश्वत स्वरूप को अभी पूर्ण रूप से नहीं जान पाए हैं, जो शरीर के जन्म से उत्पन्न नहीं होती और शरीर की मृत्यु के साथ समाप्त भी नहीं होती।

इसलिए अर्जुन रूपी साधक अभी चेतना और ब्रह्मांडीय प्रकाश के अस्तित्व के क्रम तथा उनके शाश्वत संबंध को पूर्णतः समझ नहीं पाए हैं। उनका प्रश्न वास्तव में केवल कृष्ण और सूर्य के जन्म का प्रश्न नहीं है, बल्कि सीमित व्यक्तिगत चेतना और कालातीत शुद्ध चेतना के बीच के अंतर को समझने की जिज्ञासा है।

ध्यान साधना में इसका एक गहरा अर्थ यह भी है कि जब साधक ध्यान में प्रगति करता है, तो उसकी अंतर्दृष्टि सूक्ष्म होने लगती है और वह आज्ञा चक्र के क्षेत्र में प्रकाश का अनुभव कर सकता है। उस दिव्य प्रकाश के अनुभव के साथ उसके भीतर स्वाभाविक रूप से एक आश्चर्यपूर्ण प्रश्न उत्पन्न होता है—यदि यह प्रकाश अब मेरी चेतना में प्रकट हो रहा है, तो इस प्रकाश के प्रकट होने से पूर्व मेरे भीतर शुद्ध चेतना अर्थात् ब्रह्म किस प्रकार विद्यमान था?

अपरिपक्व साधक अपनी चेतना को केवल भौतिक शरीर, मन और जन्म-मृत्यु के बीच की सीमित अवधि से जोड़कर देखता है। वह यह मान बैठता है कि उसका अस्तित्व शरीर के जन्म के साथ प्रारंभ हुआ और मृत्यु के साथ समाप्त हो जाएगा। इसी सीमित दृष्टि के कारण उसके भीतर संशय उत्पन्न होता है कि यदि दिव्य प्रकाश बाद में अनुभव में प्रकट हुआ, तो कृष्ण रूपी शुद्ध और शाश्वत चेतना उससे पूर्व मेरे भीतर कैसे विद्यमान हो सकती है?

वास्तव में यहाँ साधक अनुभव और अस्तित्व के बीच के अंतर को अभी नहीं समझ पाया है। किसी सत्य का ध्यान में प्रकट होना यह प्रमाण नहीं है कि वह उसी क्षण उत्पन्न हुआ है। प्रकाश का अनुभव चेतना में बाद में प्रकट हो सकता है, परंतु वह शुद्ध चेतना, जिसके कारण प्रकाश का अनुभव संभव होता है, अनुभव के प्रकट होने से पहले भी विद्यमान हो सकती है।

इस प्रकार अर्जुन का प्रश्न केवल कृष्ण और सूर्य के जन्म का प्रश्न नहीं है। यह प्रत्येक साधक के भीतर उठने वाला प्रश्न है—जो चेतना प्रकाश को देख रही है, क्या वह स्वयं प्रकाश के प्रकट होने के बाद उत्पन्न हुई है, या वह उस प्रकाश के अनुभव से भी पूर्व विद्यमान शाश्वत साक्षी है?

नोट:- यह श्लोक शुद्ध चेतना के नित्य, शाश्वत, अपरिवर्तनीय स्वरूप को इंगित करने के लिए शुरू किया गया है और परिवर्तनीय शरीर, मन, समय के परे शुद्ध चेतना के मर्म तत्व के भेद को समझने के लिए अर्जुन के प्रश्न से यह बात शुरू की गई है। जिसका उत्तर आगे के श्लोक में कृष्ण रूपी गुरु अपने साधक (शिष्य) को देते हैं।

श्लोक 5:-

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ॥

अर्थ:-श्री भगवान ने कहा—हे परन्तप अर्जुन! मेरे और तुम्हारे अनेक जन्म हो चुके हैं। मुझे वे सब याद हैं, परन्तु हे शत्रुओं के दमनकर्ता, तुम उन्हें याद नहीं रख सकते।

श्लोक:-6

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

अर्थ:-यद्यपि मैं अजन्मा (जन्म रहित) और अविनाशी स्वरूप हूँ, तथापि अपनी प्रकृति (प्रकृतिम् स्वाम्) को अधीन करके अपनी योगमाया द्वारा प्रकट होता हूँ।

सार(श्लोक 5-6):-इन दो श्लोकों में श्रीकृष्ण अर्जुन को चेतना के दो स्तरों का अंतर समझाते हैं—व्यक्तिगत चेतना और शुद्ध सर्वव्यापक चेतना। अर्जुन अपनी सीमित व्यक्तिगत चेतना के कारण अपने पूर्व जन्मों को स्मरण नहीं कर पाते, जबकि कृष्ण रूपी शुद्ध चेतना स्वयं को काल, जन्म और मृत्यु की सीमाओं से परे स्थित बताती है।

यहाँ कृष्ण का स्वरूप सर्वव्यापक शुद्ध चेतना के प्रतीकात्मक रूप में समझा जा सकता है। इस दृष्टि से शुद्ध चेतना को समय और जन्म-मृत्यु की सीमाओं से परे है। व्यक्ति जब स्वयं को केवल शरीर, मन और अहंकार के साथ पहचानता है, तब उसकी चेतना सीमित अनुभव करने लगती है। स्मृति भी शरीर और मन की सीमाओं के भीतर कार्य करती है, इसलिए व्यक्ति सामान्यतः अपने वर्तमान जीवन की सीमित घटनाओं को ही स्मरण रख पाता है।

जन्म से पूर्व और मृत्यु के पश्चात् की अवस्था को व्यक्तिगत चेतना अपनी सामान्य मानसिक स्मृति के माध्यम से नहीं देख पाती। जीव अपनी चेतना, संस्कारों और कर्मों के अनुरूप विभिन्न अनुभवों और जन्मों की यात्रा करता है। इस आध्यात्मिक दृष्टिकोण में व्यक्ति का बाहरी अनुभव-क्षेत्र उसकी आंतरिक चेतना की अवस्था से जुड़ा हुआ माना गया है।

यदि साधक अपनी चेतना को निरंतर शुद्ध और उन्नत करता है, तो वह शरीर और मन की सीमित पहचान से ऊपर उठने लगता है। यह यात्रा चेतना के उस स्तर तक पहुँचने की यात्रा है जहाँ साधक समय के प्रवाह से बंधे हुए अनुभवकर्ता के स्थान पर साक्षीभाव में स्थित होने लगता है। योग और समाधि की अवस्था को इसी आंतरिक कालातीत अनुभव के प्रतीक के रूप में देखा जा सकता है।

जब चेतना माया, अहंकार और शरीर की पहचान से जुड़ती है, तब वह सीमित प्रतीत होती है। लेकिन जब साधक आत्मस्वरूप की ओर जागृत होता है, तब उसकी चेतना अधिक व्यापक होती जाती है। वह स्वयं को केवल एक शरीर या एक सीमित जीवन की कहानी के रूप में नहीं, बल्कि व्यापक अस्तित्व के साथ जुड़े हुए रूप में अनुभव करने लगता है। यही स्थिति **परम सत्य अथवा परमधाम** की ओर यात्रा के रूप में समझी जा सकती है।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा — यद्यपि मैं अजन्मा और अविनाशी हूँ। इसका अर्थ यह है कि परम चेतना किसी विशेष शरीर के जन्म के साथ उत्पन्न नहीं होती। शरीर बदलते हैं, अनुभव बदलते हैं और प्रकृति के रूप बदलते हैं, परंतु शुद्ध चेतना को अस्तित्व के मूल साक्षी सिद्धांत के रूप में समझा जा सकता है।

भूतानामीश्वरोऽपि सन् — मैं सभी प्राणियों का अधिष्ठाता हूँ। यहाँ चेतना को उस मूल सत्ता के रूप में देखा जा सकता है, जिसके भीतर समस्त जीवन और अनुभव प्रकट होते हैं।

प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया — अपनी प्रकृति को अधीन करके मैं अपनी योगमाया से प्रकट होता हूँ। अर्थात् परम चेतना का प्रकट होना कर्मबंधन के कारण नहीं, बल्कि अपनी शक्ति और योगमाया के माध्यम से होता है। सामान्य जीव माया के प्रभाव में स्वयं को सीमित अनुभव करता है, जबकि ईश्वर या परम चेतना की दृष्टि से माया स्वयं उसकी शक्ति के रूप में समझी जाती है।

सर्वव्यापक चेतना (Omnipresent Consciousness) सम्पूर्ण अस्तित्व का आधार है। इसके भीतर प्रकृति के प्रमुख अवयव — मन, समय और ऊर्जा — की भूमिका महत्वपूर्ण है। यही तीन प्रमुख अवयव भारतीय दर्शन के “ब्रह्म, विष्णु, महेश” हैं।

- **ब्रह्म** — सार्वभौमिक ऊर्जा अथवा सृजनात्मक शक्ति का प्रतीक है।

- विष्णु — परम चेतन मन और सर्वव्यापक प्रज्ञा का प्रतीक है।
- महेश — सार्वभौमिक समय, परिवर्तन और संहार के सिद्धांत का प्रतीक है।

इन तीनों को अलग-अलग सत्ता के बजाय उसी सर्वव्यापक चेतना की विभिन्न कार्यात्मक शक्तियों के रूप में समझा जा सकता है। ऊर्जा पदार्थ और रूपों में परिवर्तन की प्रक्रिया से जुड़ी है, प्रज्ञा व्यवस्था और संचालन के सिद्धांत का प्रतीक है तथा समय परिवर्तन, रूपांतरण और संहार का आयाम है।

इस प्रकार कृष्ण का कथन केवल अनेक जन्मों की स्मृति का वर्णन नहीं करता, बल्कि सीमित व्यक्तिगत चेतना और कालातीत शुद्ध चेतना के बीच के अंतर को उद्घाटित करता है। अर्जुन की चेतना समय के भीतर खड़ी होकर प्रश्न करती है, जबकि कृष्ण की चेतना समय को भी व्यापक अस्तित्व की एक अभिव्यक्ति के रूप में देखती है।

श्लोक :7

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

अर्थ:- हे भरतवंशी अर्जुन! जब-जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब ही मैं अपने निराकार रूप को साकार रूप में प्रकट करता हूँ, भगवान् कृष्ण ने अवतार लेने का उद्देश्य बताया है, जब-जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब मैं (स्वयं को) प्रकट करता हूँ।

श्लोक 8:-

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥

अर्थ:- साधु पुरुषों का उद्धार करने के लिए, पाप कर्म करने वालों का विनाश करने के लिए और धर्म की अच्छी तरह से स्थापना करने के लिए, मैं युग-युग में प्रकट हुआ करता हूँ।

सार:-इन श्लोकों को चेतना के स्तर पर भी गहराई से समझा जा सकता है। चेतना का एक महत्वपूर्ण गुण संतुलन और सामंजस्य है। जिस प्रकार प्रकृति में विभिन्न शक्तियाँ संतुलन

बनाए रखने का कार्य करती हैं, उसी प्रकार व्यक्ति के भीतर चेतना उसकी मानसिक, भावनात्मक और आध्यात्मिक अवस्था में संतुलन स्थापित करने की क्षमता रखती है।

यहाँ धर्म का अर्थ केवल बाहरी धार्मिक कर्मकांड नहीं, बल्कि व्यक्ति का अपने शुद्ध, संतुलित और विवेकपूर्ण स्वभाव में स्थित होना भी समझा जा सकता है। जब चेतना सत्य, करुणा, संयम, विवेक और सजगता में स्थित होती है, तब व्यक्ति स्वाभाविक रूप से अपने वास्तविक कर्तव्य के अनुरूप कर्म करता है। यही चेतना की संतुलित अवस्था धर्म की ओर ले जाती है।

इसके विपरीत, जब चेतना कामना, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, अज्ञान और आलस्य के प्रभाव से अत्यधिक आच्छादित हो जाती है, तब व्यक्ति अपने विवेक और वास्तविक कर्तव्य से दूर होने लगता है। इस अवस्था को चेतना के असंतुलन के रूप में देखा जा सकता है। यही आंतरिक विकृति व्यक्ति के कर्मों में भी प्रकट होकर अधर्म का रूप ले सकती है।

जब व्यक्ति के भीतर अज्ञान और मानसिक अंधकार अत्यधिक बढ़ जाता है, तब उसके भीतर स्थित उच्चतर चेतना जागृत होने लगती है। इस आंतरिक जागरण को प्रतीकात्मक रूप से कृष्ण रूपी दिव्य चेतना का प्रकट होना कहा जा सकता है।

जब भीतर अंधकार बढ़ता है, तब अंतरात्मा की आवाज जागती है, विवेक सक्रिय होता है, सत्य की खोज प्रारंभ होती है, गुरु-तत्त्व का मार्गदर्शन प्राप्त होता है और व्यक्ति अपनी चेतना को निम्न अवस्था से ऊपर उठाने का प्रयास करता है।

अर्थात् चेतना में स्वयं को संतुलन की ओर ले जाने की एक आंतरिक क्षमता होती है। इस दृष्टि से धर्म और अधर्म केवल बाहरी घटनाएँ नहीं हैं, बल्कि चेतना की विभिन्न अवस्थाओं में भी प्रकट होते हैं।

जब चेतना अज्ञान में नीचे गिरती है, तब उसके भीतर स्थित जागरूकता उसे पुनः प्रकाश की ओर ले जाने का प्रयास करती है। इसलिए “अवतार” का एक आंतरिक और आध्यात्मिक अर्थ आत्म-जागरण भी समझा जा सकता है।

इसी प्रकार श्लोक 8 में बताया गया है साधु पुरुषों का उद्धार करने के लिए, पाप कर्म करने वालों का विनाश करने के लिए और धर्म की अच्छी तरह से स्थापना करने के लिए, मैं युग-

युग में प्रकट हुआ करता हूँ। चेतना के स्तर पर साधु पुरुष वह है जिसकी चेतना शुद्ध, सजग, सत्त्वप्रधान विचार और भावनाएँ रखती है।

जब मन में सत्य, करुणा, संयम और विवेक रहता है वही साधु चेतना है। लेकिन जो पाप कर्म करते हैं जिसका मन विकृत कार्य, इन्द्रियों के कार्य, इच्छाओं, आसक्तियों इत्यादि चेतना को निम्न करने वाले और निम्न कंपन आवृत्ति के गुणों (शर्म, डर, अवसाद, काम, क्रोध, लोभ) से युक्त हो जाता है। वह व्यक्ति विकृत, नकारात्मक, अहंकारी, काम-क्रोध से भरी चेतना से युक्त हो जाता है,

यह भीतर के वे संस्कार हैं जो हमें नीचे गिराते हैं। इस प्रकार निम्न चेतना के गुणों को पुनः संतुलित करने के लिए व्यक्ति के अंदर उपस्थित शुद्ध चेतना रूपी कृष्ण संतुलन के उद्देश्य से व्यक्ति में अज्ञान, अहंकार, वासनाओं का अंत कर देते हैं। जब चेतना फिर से संतुलन (सत्त्व) में स्थापित हो जाती है,

जब मन, बुद्धि और आत्मा में सामंजस्य आ जाता है

वही धर्म की स्थापना है।

श्लोक -9

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।

त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥

अर्थ:-हे अर्जुन! मेरे जन्म और कर्म दिव्य (अलौकिक) हैं। इस प्रकार जो मनुष्य (तत्त्व से) जान लेता है, वह शरीर को त्यागकर फिर जन्म को प्राप्त नहीं होता, बल्कि मुझे ही प्राप्त होता है।

सार:- यहाँ ईश्वर रूपी सर्वव्यापक चेतना के जन्म और कर्म के दिव्यता के बारे में चर्चा की जा रही है। जन्म के संबंध में ईश्वर रूपी सर्वव्यापक चेतना समय के परे उच्च आयाम है जिस कारण यह चेतना जन्म-मृत्यु के बंधन से मुक्त है लेकिन यही सर्वव्यापक चेतना समय-स्थान (Time-space) और ऊर्जा-पदार्थ (energy-matter) के द्वारा इस भौतिक जगत के निर्माण, विकास, परिवर्तन और विनाश का कार्य कर रही है जिस कारण सर्वव्यापक चेतना के जन्म और कर्म दोनों को अलौकिक बताया है अगर मनुष्य इसे इस त्रिआयामी

दुनिया के अंतर्गत नियम, सिद्धांत के अनुरूप सर्वव्यापक चेतना के कर्म और जन्म को जानना चाहेगा तो वह कभी भी पूर्णतः से इसे समझ न पाए।

सर्वव्यापक चेतना का न ही कोई स्थान निर्धारित है और न ही किसी सीमा में बांधना सम्भव है जबकि मनुष्य त्रि-आयामी जगत के समय-स्थान (Time- Space) से बंधा हुआ है और शरीर, मन की सहायता से व्यक्तिगत चेतना में सीमित है। अगर किसी पूर्ण को परिभाषित करना हो जिसका हिस्सा हमारा मन, बुद्धि, अहं, चित्त हो साथ ही जो इन सूक्ष्म तत्व के परे भी विद्यमान हो तो चेतना को किसी भी रूप में परिभाषित किया जाएगा वह पूर्ण परिभाषित नहीं हो सकता। जो कुछ हम देख सकते हैं सुन सकते हैं अनुभव कर सकते हैं वह भी सर्वव्यापक चेतना को पूर्ण नहीं करता है। यह चेतना किसी वस्तु की तरह नहीं दिखती वह साक्षी भाव रूप है, वस्तु नहीं है। जैसे आँख सब कुछ देखती है पर खुद को नहीं देख सकती वैसे ही सर्वव्यापक चेतना सबका अनुभव करती है पर खुद अनुभव की वस्तु नहीं है। यह चेतना की असीमता, अनंतता को सूचित करने के लिए प्रयोग किया गया है।

जब तक व्यक्ति स्वयं के अहं, मन, बुद्धि, चित्त के परे नहीं पहुँचेगा और समय-स्थान की सीमाओं में बंधा रहेगा तब तक वह स्वयं की चेतना को अहंबद्ध होकर कितना भी विस्तारित कर ले चेतना के वास्तविक पाँचवें आयाम को नहीं समझ एवं जान पाएगा। जैसे घड़ा मिट्टी से तब तक अलग है जब तक वह घड़ा है। जब मनुष्य अपने अहं (Ego) से ऊपर उठकर इस सर्वव्यापक चेतना से एकाकार होता है तब व्यक्ति को अनुभव होता है कि 'मैं नहीं, सब मैं ही हूँ'। इस प्रकार ईश्वर को तत्व से जानने वाला व्यक्ति फिर इस त्रिआयामी जगत को प्राप्त नहीं होता बल्कि वह उच्च आयाम रूपी सर्वव्यापक (शुद्ध) चेतना को प्राप्त होता है।

श्लोक 10:-

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।

बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः॥

अर्थ:-पहले भी, जिनके राग (आसक्ति), भय और क्रोध सर्वथा नष्ट हो गये थे और जो मुझ में ही (श्रीकृष्ण) अनन्य प्रेमपूर्वक स्थित रहते थे, ऐसे मेरे आश्रित रहने वाले बहुत से भक्त उपर्युक्त ज्ञानरूप तप से पवित्र होकर मेरे स्वरूप को प्राप्त हो चुके हैं।

सार :- पूर्व में बताया गया था कि राग, भय, क्रोध व्यक्ति के निम्न कंपन ऊर्जा या निम्न जागरूकता से संबंधित होते हैं। निम्न ऊर्जा स्तर की कंपन आवृत्ति में व्यक्ति शर्म, डर, अवसाद, क्रोध, लोभ का अनुभव करता है और मन को भ्रम के स्तर पर रखता है इसलिए गीता में काम, क्रोध, लोभ को नरक का द्वार कहा गया है। लेकिन विभिन्न प्रविधियों द्वारा साधक जब अपनी ऊर्जा स्तर उच्च करता है तो उच्च ऊर्जा स्तर या उच्च कंपन आवृत्ति में व्यक्ति प्रेम, आनंद, शांति, सद्भाव का अनुभव करता है। इसी प्रकार जब व्यक्ति अपनी चेतना को सर्वव्यापक शुद्ध चेतना में स्थापित करता है तब उसे वास्तविक ज्ञान प्राप्त होता है जिसे प्रबोधन का स्तर (Enlightenment) कहा जाता है या जिसे इस श्लोक में “ईश्वर में प्रेमपूर्वक स्थित रहकर ज्ञानरूप से पवित्र” होने की संज्ञा दी गई है।

प्रबोधन मन को सर्वव्यापक शुद्ध चेतना के साथ संरेखित करने में सहायक है और व्यक्ति के मन को समय - स्थान से परे चेतना के उच्च आयाम में स्थापित करने में सहायक है। यह मन को सत् चित् आनन्द की अनुभूति कराता है जो अनन्त अस्तित्व (सत्), अनन्त चेतना (चित्) एवं आनन्दमय है एवं जो सुख-दुख की उत्तेजना से परे है।

अब व्यक्तिगत मन परम चेतन मन के रूप में रूपान्तरित होने लगता है। मन का यह रूपान्तरण सभी व्यक्तियों के लिए अलग-अलग हो सकता है तथा मन को इस स्तर पर पहुँचने के अनुभव भी अलग-अलग हो सकते हैं। इस केन्द्र में मन स्वयं दृष्टा एवं दृश्य बनने लगता है अर्थात् दृष्टा एवं दृश्य में भेद समाप्त हो जाता है और समय शून्य हो जाता है। प्रत्येक ब्रह्मांड, आकाशगंगाओं, तारों, ग्रहों, जीव जंतु एवं अन्य प्राणी में व्याप्त चेतना स्वयं मन बनने लगता है।

जो गोचर है एवं जो अगोचर है सभी मन का हिस्सा हो जाते हैं। मन स्वयं में सृजन करता, पालनकर्ता, संहारकर्ता बन जाता है और इस उच्च आयाम की चेतना में मन रूपान्तरण कर व्यक्ति स्वयं कृष्ण रूपी शुद्ध चेतना बन जाता है अर्थात् ज्ञानरूप तप से पवित्र होकर मेरे स्वरूप को प्राप्त हो चुके हैं। यहाँ ज्ञानरूप तप का अर्थ केवल बौद्धिक जानकारी प्राप्त करना नहीं है, बल्कि अपने वास्तविक स्वरूप का अनुभव करते हुए अज्ञान, अहंकार और मानसिक विकारों को क्रमशः समाप्त करना है।

राग, भय और क्रोध से मुक्त होकर, प्रेमपूर्वक शुद्ध चेतना में स्थित होकर तथा ज्ञानरूप तप से अंतःकरण को शुद्ध करके साधक अपने वास्तविक स्वरूप को

पहचान सकता है। यही व्यक्तिगत चेतना का शुद्ध चेतना की ओर रूपांतरण है। इसी आंतरिक रूपांतरण को **भगवान के स्वरूप को प्राप्त करना** कहा गया है—अर्थात् कृष्ण रूपी शुद्ध, व्यापक और साक्षी चेतना के साथ अपनी एकता का अनुभव करना।

श्लोक 11:-

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।

मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥

अर्थ:-जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं (शरण में आते हैं)। मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ। हे अर्जुन! सभी मनुष्य (अनजाने या जानबूझकर) सब प्रकार से मेरे ही मार्ग का अनुसरण करते हैं।

सार:-व्यक्ति की भावना, विचार चेतना से जुड़े होते हैं और व्यक्तिगत चेतना सर्वव्यापक चेतना (ईश्वर) का ही अंश है जो सभी व्यक्ति में विभिन्न रूपों, विभिन्न आयामों, विभिन्न पहलू के रूप में व्याप्त है। इस चेतना के स्रोत से व्यक्ति के अंदर मन, प्राण ऊर्जा का प्रवाह होता है और यही मन विचारों का स्रोत है।

जीव-प्राणी अपने भीतर उत्पन्न होने वाले **विचारों और भावों को ही व्यवहार तथा कर्म के रूप में व्यक्त करता है।** इससे स्पष्ट होता है कि प्रत्येक जीव अपने-अपने मानसिक एवं चेतना-पैटर्न के अनुसार जीवन में कर्म कर रहा है। व्यक्ति जैसा सोचता है, जिन भावनाओं को बार-बार अनुभव करता है और जिस प्रकार की जागरूकता में स्थित रहता है, उसी के अनुरूप उसके निर्णय और कर्म निर्मित होते हैं।

यदि व्यक्तिगत चेतना को सर्वव्यापक चेतना अथवा ईश्वर की अभिव्यक्ति माना जाए, तो प्रत्येक जीव उसी व्यापक चेतना की अनंत संभावनाओं में से अपनी चेतना, संस्कार और मानसिक अवस्था के अनुरूप कुछ संभावनाओं को कर्म के रूप में व्यक्त कर रहा है। इस प्रकार सभी जीव अपने व्यक्तिगत स्तर पर भिन्न दिखाई देते हुए भी उसी सर्वव्यापक चेतना की व्यापक व्यवस्था के भीतर कार्य कर रहे हैं।

इस श्लोक को **विचार और भाव के स्तर पर भक्ति योग** के संदर्भ में भी समझा जा सकता है। जैसा कि पूर्व में बताया गया है, चेतना के अनुभव में **मन, समय और ऊर्जा** महत्वपूर्ण तत्व माने जा सकते हैं। व्यक्ति के विचार और भावनाएँ उसके मानसिक अनुभव, ऊर्जा की

अनुभूति तथा समय के प्रति उसकी अनुभूति को गहराई से प्रभावित करती हैं। जब कोई व्यक्ति भजन, कीर्तन, ध्यान, पूजा अथवा ईश्वर के प्रति गहन प्रेम और समर्पण में स्थित होता है, तब उसका मन सामान्य सांसारिक विचारों से हटकर एकाग्रता और भावनात्मक एकत्व की अवस्था में प्रवेश कर सकता है।

भक्ति का गहन भाव व्यक्ति की व्यक्तिगत चेतना को व्यापक चेतना के अनुभव की दिशा में ले जाता है। भक्त का मन जब प्रेम और समर्पण में स्थिर होता है, तब उसकी चेतना सीमित अहंकार, भय और व्यक्तिगत इच्छाओं से ऊपर उठने लगती है। आध्यात्मिक दृष्टि से इसे व्यक्तिगत चेतना का सर्वव्यापक चेतना के साथ **सरेखण अथवा एकत्व की अनुभूति** कहा जा सकता है।

योगिक परंपरा में प्रेम, करुणा और गहन भावनात्मक समर्पण को **अनाहत चक्र (Heart Chakra)** से संबंधित माना जाता है। जब व्यक्ति के विचार और भाव अधिक शुद्ध, गहन और प्रेमपूर्ण होते हैं, तब उसकी चेतना निम्न प्रवृत्तियों—जैसे भय, असुरक्षा और केवल इन्द्रिय-सुख की खोज—से ऊपर उठकर प्रेम, करुणा और व्यापकता की दिशा में विकसित होने लगती है। योग की प्रतीकात्मक भाषा में इसे मूलाधार, स्वाधिष्ठान और मणिपुर जैसे निम्न ऊर्जा केन्द्रों से आगे बढ़कर अनाहत के उच्चतर चेतना-केन्द्र में स्थापित होने की प्रक्रिया के रूप में समझा जा सकता है।

व्यक्ति के **विचार और भाव उसकी व्यक्तिगत चेतना की दिशा निर्धारित करते हैं।** जैसे-जैसे विचार भय और आसक्ति से मुक्त होकर प्रेम, करुणा, शांति और समर्पण की ओर बढ़ते हैं, वैसे-वैसे व्यक्तिगत चेतना भी अधिक व्यापक और शुद्ध अनुभव की ओर अग्रसर होती है। इसीलिए भक्ति योग केवल बाहरी पूजा या धार्मिक कर्मकांड नहीं है, बल्कि **मन, विचार और भावना का ऐसा रूपांतरण है जिसमें व्यक्तिगत चेतना धीरे-धीरे सर्वव्यापक चेतना के साथ अपनी एकता का अनुभव करने लगती है।**

प्रत्येक जीव-प्राणी की जैसी व्यक्तिगत चेतना और जागरूकता होती है, उसी के अनुरूप वह समय के प्रवाह में विचार करता है, निर्णय लेता है और कर्म करता है। सर्वव्यापक चेतना में अनंत संभावनाएँ विद्यमान हैं, किंतु व्यक्तिगत चेतना अपनी सीमित जागरूकता, संस्कारों, अनुभवों और मानसिक अवस्था के अनुसार उन्हीं अनंत संभावनाओं में से कुछ संभावनाओं को अपने अनुभव और कर्म के माध्यम से प्रकट करने में सक्षम होती है। दूसरे

शब्दों में, व्यक्ति की व्यक्तिगत चेतना यह निर्धारित करती है कि वह अनंत संभावनाओं में से किन संभावनाओं को अपने जीवन में अनुभव और कर्म के रूप में **घटित (collapse या manifest)** करता है।

किन्तु जिन संभावनाओं को व्यक्ति अपने कर्मों द्वारा प्रकट करता है, वे भी सर्वव्यापक चेतना से अलग नहीं हैं। व्यक्तिगत चेतना स्वयं उसी अनंत और सर्वव्यापक चेतना की एक अभिव्यक्ति है। व्यक्ति अपनी चेतना के प्रति जागरूक हो या अचेतन रूप से जीवन व्यतीत कर रहा हो, उसके भीतर निरंतर विचार, भावनाएँ, इच्छाएँ और संकल्प उत्पन्न होते रहते हैं। इन्हीं विचारों और भावनाओं के आधार पर वह निर्णय लेता है तथा कर्म करता है।

इस दृष्टि से मन में उत्पन्न होने वाले विचार और भावनाएँ भी उसी व्यापक अस्तित्व और चेतना की अभिव्यक्ति हैं। व्यक्ति अपने व्यक्तिगत अहंकार के स्तर पर स्वयं को स्वतंत्र कर्ता मान सकता है, किन्तु व्यापक चेतना के स्तर पर उसके सभी कर्म उसी अनंत अस्तित्व के भीतर घटित हो रहे होते हैं।

अतः प्रत्येक जीव, चाहे वह जानबूझकर या अनजाने में कर्म कर रहा हो, अपनी चेतना की अवस्था के अनुरूप जीवन के मार्ग पर आगे बढ़ रहा है। उसके द्वारा चुना गया प्रत्येक मार्ग, प्रत्येक अनुभव और प्रत्येक कर्म अंततः उसी **सर्वव्यापक चेतना की अनंत संभावनाओं के क्षेत्र** के भीतर घटित होता है। इसलिए कहा जा सकता है कि सभी प्राणी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से, जागरूक होकर या अनजाने में, उसी परम एवं सर्वव्यापक चेतना के मार्ग का अनुसरण कर रहे हैं।

श्लोक 12:-

**काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥**

अर्थ:- इस मनुष्य लोक में कर्मों के फल को चाहने वाले लोग देवताओं का पूजन किया करते हैं, क्योंकि उनको कर्मों से उत्पन्न होने वाली सफलता (सिद्धि) शीघ्र मिल जाती है।

सार:- जब व्यक्तिगत चेतना (Individual Consciousness) इच्छा, अपेक्षा और कर्मफल की कामना से प्रेरित होती है, तब उसका ध्यान बाहरी उपलब्धियों और विशेष परिणामों की ओर केंद्रित हो जाता है। मनुष्य लोक में कर्मों के फल की इच्छा रखने वाले

लोग देवताओं की उपासना करते हैं, क्योंकि उन्हें अपने कर्मों से उत्पन्न होने वाली सिद्धि अपेक्षाकृत शीघ्र प्राप्त हो जाती है।

इस संदर्भ में चेतना अभी मुख्यतः चेतन मन (Conscious Mind) और अवचेतन मन (Subconscious Mind) के स्तर पर कार्य कर रही होती है, जहाँ व्यक्ति का प्रमुख लक्ष्य किसी विशेष परिणाम की प्राप्ति होता है। इच्छा उत्पन्न होती है, व्यक्ति उस इच्छा के अनुसार कर्म करता है और फिर उसके परिणाम की अपेक्षा करता है—

इच्छा → कर्म → परिणाम

इसी मानसिक एवं कर्मगत प्रक्रिया में व्यक्ति किसी विशेष शक्ति, क्षमता या उपलब्धि की प्राप्ति के लिए अपनी चेतना और ऊर्जा को एक निश्चित दिशा में केंद्रित करता है।

यहाँ “देवता” को पारंपरिक धार्मिक अर्थ के साथ-साथ एक दार्शनिक और प्रतीकात्मक दृष्टि से भी समझा जा सकता है। उन्हें प्रकृति की विशिष्ट शक्तियों अथवा चेतना के अलग-अलग कार्यक्षेत्रों के प्रतीक के रूप में देखा जा सकता है—जैसे बुद्धि, शक्ति, धन, स्वास्थ्य, ज्ञान या सफलता। जब व्यक्ति किसी विशेष फल की कामना करता है, तब उसकी चेतना उसी लक्ष्य और उससे संबंधित शक्ति की ओर केंद्रित हो जाती है।

मानव जीवन में कर्मों के परिणाम अपेक्षाकृत शीघ्र अनुभव किए जा सकते हैं, क्योंकि व्यक्ति का जीवन निरंतर कारण और कार्य (Cause and Effect) की प्रक्रिया से जुड़ा हुआ है। व्यक्ति के विचार, निर्णय और कर्म परिस्थितियों को प्रभावित करते हैं तथा उनके परिणाम उसके अनुभवों के रूप में सामने आते हैं। किंतु कर्मफल से प्राप्त होने वाली सफलता, उपलब्धि अथवा सिद्धि सामान्यतः परिवर्तनशील होती है। धन, पद, शक्ति, प्रसिद्धि और अन्य सांसारिक उपलब्धियाँ समय के साथ बदल सकती हैं।

जब व्यक्तिगत चेतना परिपक्व होती है, तब व्यक्ति यह समझने लगता है कि केवल कामना की पूर्ति ही अंतिम सिद्धि नहीं है। वास्तविक प्रश्न यह बन जाता है कि कामना करने वाला कौन है? कर्म करने वाला कौन है? और अनुभव करने वाला कौन है?

यहीं से चेतना की यात्रा बाहरी सिद्धियों से भीतर की ओर मुड़ती है। व्यक्ति धीरे-धीरे स्व-चेतना (Self-Consciousness) की अनुभूति की ओर अग्रसर होता है। बाहरी फल प्राप्त करने वाली चेतना सीमित और परिवर्तनशील है, जबकि अपने शुद्ध स्वरूप की पहचान

व्यक्ति को उस व्यापक चेतना की अनुभूति कराती है, जिसे सर्वव्यापक चेतना अथवा ईश्वर कहा जा सकता है।

इस प्रकार, कामना से प्रेरित उपासना व्यक्ति को किसी विशेष कर्मफल या सिद्धि तक पहुँचा सकती है, किंतु आत्मज्ञान से उत्पन्न चेतना की सिद्धि व्यक्ति को स्वयं के वास्तविक स्वरूप की पहचान की दिशा में ले जाती है।

इस श्लोक को चेतना की दो अवस्थाओं के अंतर के रूप में भी समझा जा सकता है—एक ओर फल की इच्छा से प्रेरित चेतना, जो विशेष उपलब्धियों की ओर अग्रसर होती है; दूसरी ओर स्वरूप की खोज करने वाली चेतना, जो अस्थायी सिद्धियों से आगे बढ़कर शुद्ध और सर्वव्यापक चेतना के अनुभव की ओर बढ़ती है।

श्लोक 13:-

**चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥**

अर्थ:-गुणों और कर्मों के आधार पर मैंने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों की रचना की है। यद्यपि मैं इस सृष्टि का रचयिता हूँ, फिर भी मुझे अकर्ता (निर्माता होकर भी निर्लिप्त) और अविनाशी समझो।

सार:- इस श्लोक में कृष्ण कहते हैं कि उन्होंने गुण और कर्म के आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णों की रचना की है। इस विचार को केवल जन्म-आधारित सामाजिक व्यवस्था के रूप में देखने के बजाय, चेतना-केंद्रित दृष्टिकोण से भी समझा जा सकता है। यहाँ वर्ण का आधार मुख्यतः व्यक्ति के गुण और कर्म हैं, अर्थात् उसकी प्रवृत्तियाँ, स्वभाव और कर्म करने की दिशा।

ब्राह्मण उस व्यक्ति की अवस्था का प्रतिनिधित्व करता है जिसकी व्यक्तिगत चेतना ज्ञान, विवेक और आत्मबोध की ओर उन्मुख हो चुकी है। वह अपने सीमित अहंकार से ऊपर उठकर ब्रह्म अर्थात् सर्वव्यापक चेतना को जानने और अनुभव करने का प्रयास करता है।

क्षत्रिय उस चेतना की अवस्था का प्रतीक है जो आंतरिक संघर्ष और आत्म-विकास के मार्ग पर अग्रसर है। वह इन्द्रियों के आकर्षण, चंचल मन, भय और निम्न प्रवृत्तियों के विरुद्ध

संघर्ष करते हुए अपनी व्यक्तिगत चेतना को अधिक जागरूक और उच्चतर अवस्था की ओर रूपांतरित करने का प्रयास करता है। उसका युद्ध केवल बाहरी नहीं, बल्कि मुख्यतः स्वयं के भीतर उपस्थित अज्ञान और मानसिक दुर्बलताओं के साथ भी है।

वैश्य उस चेतना की प्रतीकात्मक अवस्था है जिसमें व्यक्ति का ध्यान मुख्यतः संसार, इन्द्रियों से प्राप्त अनुभवों और भौतिक आदान-प्रदान पर केंद्रित रहता है। उसकी चेतना विचारों, भावनाओं और संवेदनाओं के माध्यम से बाहरी जगत के साथ संबंध स्थापित करती है तथा प्राप्त सूचनाओं और संसाधनों के विनिमय के आधार पर जीवन को संचालित करती है।

शूद्र की चेतना-आधारित प्रतीकात्मक व्याख्या उस अवस्था के रूप में की जा सकती है जहाँ व्यक्ति अपनी इन्द्रियों, इच्छाओं और बाहरी परिस्थितियों के प्रति अत्यधिक आश्रित हो जाता है। यहाँ व्यक्तिगत चेतना स्वतंत्र विवेक से कम और बाहरी प्रभावों तथा तत्काल इच्छाओं के अनुसार अधिक संचालित होती है।

इस प्रकार इन चारों अवस्थाओं को मनुष्य के भीतर उपस्थित विभिन्न **मानसिक और चेतनात्मक प्रवृत्तियों** के रूप में भी देखा जा सकता है। एक ही व्यक्ति में परिस्थितियों और उसकी जागरूकता के अनुसार इन विभिन्न गुणों की अभिव्यक्ति हो सकती है। चेतना स्वयं शुद्ध, निराकार और साक्षीस्वरूप है, किंतु जब वह प्रकृति के तीन गुणों—**सत्त्व, रजस और तमस**—के माध्यम से व्यक्त होती है, तब व्यक्तित्व और कर्म की विभिन्न प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। इन गुणों के अलग-अलग अनुपात और उनके आधार पर किए जाने वाले कर्म व्यक्ति के व्यवहारिक स्वरूप को प्रभावित करते हैं।

सर्वव्यापक चेतना अथवा परम चेतना समस्त अस्तित्व के प्रकट होने का आधार है। उसी के भीतर प्रकृति, उसके नियम, गुण और कर्मों की समस्त प्रक्रिया कार्य करती है, किंतु परम चेतना स्वयं इन परिवर्तनों से प्रभावित नहीं होती। वह सृष्टि की समस्त गतिविधियों का आधार होते हुए भी साक्षीभाव में स्थित है। इसीलिए कृष्ण कहते हैं कि वे इस व्यवस्था के रचयिता होते हुए भी **अकर्ता और अविनाशी** हैं। व्यक्तिगत स्तर पर कर्म होते हैं, प्रकृति के गुण कार्य करते हैं और उनके परिणाम उत्पन्न होते हैं, किंतु शुद्ध चेतना स्वयं कर्मों के बंधन में नहीं आती। वह परिवर्तनशील घटनाओं के पीछे स्थित वह साक्षी तत्त्व है, जो जन्म, मृत्यु और समय के निरंतर परिवर्तन से परे है।

श्लोक 14:-

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥

अर्थ:-कर्मों के फल में मेरी स्पृहा (इच्छा) नहीं है, इसलिए मुझे कर्म लिप्त नहीं करते (प्रभावित नहीं करते)। जो व्यक्ति मुझे इस प्रकार (तत्व से) जान लेता है, वह भी कर्मों से नहीं बँधता।

सार:- सर्वव्यापक चेतना एक प्रकार से समस्त अस्तित्व का आधार और स्रोत होते हुए भी प्रत्येक घटना, विचार, भाव और कर्म की साक्षी है। वह सबमें व्याप्त है, सबके माध्यम से स्वयं को अभिव्यक्त करती है, फिर भी किसी एक कर्म या परिणाम से व्यक्तिगत रूप से बंधती नहीं है।

यहाँ कृष्ण अपनी वास्तविक प्रकृति को शुद्ध चेतना (Pure Consciousness) के रूप में समझाते हैं। शुद्ध चेतना मूलतः साक्षीस्वरूप है—वह अनुभवों, विचारों, भावनाओं और कर्मों को प्रकाशित करती है, पर स्वयं उनसे प्रभावित या आसक्त नहीं होती। कर्म शरीर, मन, इन्द्रियों और प्रकृति के गुणों के स्तर पर घटित होते हैं, जबकि शुद्ध चेतना उन सभी अनुभवों का साक्षी बनी रहती है।

बंधन तब उत्पन्न होता है जब चेतना स्वयं को शरीर और मन के साथ पूर्णतः जोड़कर यह मान लेती है—“मैं ही कर्ता हूँ” और “मुझे ही कर्म का फल प्राप्त होना चाहिए।” इस कर्तापन और फल की आसक्ति के कारण कर्म व्यक्ति के लिए बंधन का कारण बनते हैं। इसलिए समस्या केवल कर्म करना नहीं है, बल्कि कर्म के साथ जुड़ी हुई अहंकारपूर्ण कर्तापन की भावना और फल की आसक्ति है।

जब व्यक्ति शरीर और मन के माध्यम से कर्म करता है, तब कर्मों की प्रतिक्रिया और कर्मफल का अनुभव भी मुख्यतः व्यक्तिगत जीवन और मानसिक-व्यवहारिक स्तर पर प्रकट होता है। किंतु जब व्यक्ति आत्मबोध के माध्यम से यह अनुभव करने लगता है कि—

“मैं केवल शरीर और मन नहीं हूँ; मैं उन सभी अनुभवों का साक्षी शुद्ध चेतना हूँ।”

तब उसके भीतर कर्तापन की सीमित भावना धीरे-धीरे कम होने लगती है। वह कर्म करता है, किंतु स्वयं को कर्मों और उनके परिणामों से पूर्णतः बाँधकर नहीं देखता। इसी अवस्था को **अकर्तापन या साक्षीभाव** के रूप में समझा जा सकता है।

इसका अर्थ कर्मों से पलायन करना नहीं है। व्यक्ति शरीर और मन के स्तर पर अपने कर्तव्यों और कर्मों को करता रहता है, लेकिन भीतर से वह यह समझता है कि प्रकृति, शरीर, मन और उनके गुण अपनी-अपनी प्रवृत्ति के अनुसार कार्य कर रहे हैं। वह परिणामों को अपनी व्यक्तिगत पहचान का आधार नहीं बनाता।

इस प्रकार कर्मबंधन से मुक्ति का मार्ग कर्म को छोड़ना नहीं, बल्कि चेतना का रूपांतरण है। जब व्यक्तिगत चेतना सीमित अहंकार, इच्छा और आसक्ति से मुक्त होकर सर्वव्यापक चेतना के अनुभव की ओर अग्रसर होती है, तब व्यक्ति के भीतर **साक्षीभाव** विकसित होता है।

जब मनुष्य उसी शुद्ध चेतना में स्थिर होने लगता है, तब उसके भीतर यह अनुभव उत्पन्न होता है कि कर्म होते हैं, किंतु भीतर स्थित शुद्ध चेतना उनसे बंधती नहीं। शरीर कर्म करता है, मन विचार करता है और इन्द्रियाँ विषयों का अनुभव करती हैं, पर चेतना इन सभी की साक्षी बनी रहती है।

सच्ची मुक्ति कर्म का त्याग करने में नहीं, बल्कि कर्तापन और फल की आसक्ति से मुक्त होकर कर्म करने में है। जब व्यक्ति स्वयं को सीमित कर्ता के स्थान पर शुद्ध चेतना के साक्षीस्वरूप में अनुभव करने लगता है, तब कर्म करते हुए भी उसके भीतर अकर्तापन और आंतरिक स्वतंत्रता का अनुभव उत्पन्न होने लगता है।

श्लोक 15:-

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मु मुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ।

अर्थ:- श्रीकृष्ण अर्जुन को कर्मयोग का सिद्धांत समझाते हुए कहते हैं कि प्राचीन काल के मुमुक्षुओं (मोक्ष चाहने वालों) ने भी इस बात को जानकर (कि ईश्वर कर्ता होकर भी निर्लिप्त हैं) ही कर्म किए हैं। इसलिए, हे अर्जुन, तुम भी पूर्वजों की तरह अपने कर्तव्यों का पालन करो।

सार:- व्यक्ति जब तक शरीर-मन की ईच्छाओं की पूर्ति करने के लिए कर्म करेगा तब तक वह सांसारिक बंधन से बंधेगा और विषयों में आसक्ति बनी रहेगी। यही चेतना को शरीर-मन के स्तर पर बाँधते है और सीमिति करते है। यह श्लोक बताता है कि मोक्ष के लिए कर्मों का त्याग (सन्यास) करना जरूरी नहीं है, बल्कि निष्काम भाव से कर्तव्य कर्म करना ही श्रेष्ठ है, जैसा कि प्राचीन ऋषियों ने किया था। कर्मों में आसक्ति न रखते हुए, उन्हें ईश्वर की सेवा समझकर करना ही सही तरीका है।

जब चेतना शरीर और मन से जुड़कर शरीर को “कर्ता” समझ लेती है और शरीर-मन की ईच्छाओं की पूर्ति ही परम लक्ष्य मान लेती है तभी बंधन (बंधन = कर्म का असर) पैदा होता है और कर्म फल से आसक्ति शुरू होती है।

जब व्यक्ति चेतना को शरीर और मन से संबंध कर कर्म करता है तो कर्म सिद्धांत का निर्माण भी शरीर और मन के स्तर पर होता है जिस कारण व्यक्ति कर्मों के अच्छे और बुरे फलों के प्रभाव से भी प्रभावित होता है।

न्यूटन का तीसरा नियम, जिसे '**क्रिया-प्रतिक्रिया नियम**' (Action-Reaction Law) कहा जाता है, बताता है कि प्रकृति में हर क्रिया के लिए एक समान और विपरीत प्रतिक्रिया होती है इसलिए प्रत्येक कर्म करने की प्रतिक्रिया उसी समान होगी जिस प्रकार व्यक्ति के शरीर-मन के स्तर पर कर्म होंगे।

सामान्य व्यक्ति अहं युक्त, फल की इच्छा, और अज्ञानतावश कर्म करता है लेकिन मुमुक्षु (जाग्रत चेतना वाला व्यक्ति) कर्म “बिना कर्तापन के भाव “ से करता है, बिना फल की इच्छा से और जागरूक रहकर कर्म करता है। व्यक्ति जब यह जान लेता है कि मैं वास्तविक कर्ता नहीं हूँ। चेतना (आत्मा) साक्षी है, कर्म प्रकृति के द्वारा हो रहे हैं। जाग्रत चेतना वाला व्यक्ति अपने “प्रारब्ध “को जानता है और जीवन के वास्तविक उद्देश्य को समझता है जिस अनुरूप वह कर्तव्य-कर्म बिना फल की आसक्ति के केवल कर्तव्य और सत्य के भाव से करता है। अर्थात् कर्म वही है, पर चेतना बदलते ही कर्म का बंधन खत्म हो जाता है।

यहाँ कृष्ण रूपी शुद्ध चेतना अर्जुन रूपी व्यक्तिगत चेतना के गुण से युक्त पुरुष को मार्गदर्शित कर रही है कि कर्म सभी को करना है लेकिन निम्न चेतना (अहं, इच्छा, आसक्ति, काम वासना) ये युक्त होकर नहीं बल्कि उच्च चेतना के स्तर पर (प्रबोधन) पहुँच कर करना है

जहाँ कर्म बंधन नहीं बनते और कर्म व्यक्तिगत चेतना को सर्वव्यापक चेतना (शुद्ध चेतना) में रूपांतरित करते हैं। यही “कर्म योग” है।

पूर्वज साधकों के समान नियत कर्तव्य का तात्पर्य उन मुमुक्षु साधकों से है जिन्होंने जीवन के अपने उत्तरदायित्वों और परिस्थितियों से पलायन नहीं किया, बल्कि उन्हें साधना का माध्यम बनाया। उन्होंने कर्म करते हुए भी कर्म के फल, अहंकार और कर्तापन की आसक्ति को त्याग दिया। उनके लिए कर्तव्य केवल बाहरी कार्य नहीं था, बल्कि अंतःकरण की शुद्धि और चेतना के विकास का साधन था।

श्लोक -16

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।

तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्षयसेऽशुभात्

अर्थ:-श्री कृष्ण कहते हैं कि कर्म क्या है और अकर्म क्या है, इस विषय में बुद्धिमान् पुरुष भी मोहित हो जाते हैं। इसलिए, मैं तुझे वह कर्मतत्त्व भलीभाँति समझाकर कहूँगा, जिसे जानकर तू संसार-बन्धन से मुक्त हो जायेगा।

सार:-मनुष्य सामान्यतः कर्म को केवल बाहरी क्रिया (action) मानता है—जैसे बोलना, चलना, काम करना। लेकिन असली कर्म का संबंध चेतना की अवस्था से होता है। जब व्यक्ति अपने मन-चेतना के प्रति कम जागरूक होता है तो वास्तविक कर्तव्य कर्म करने के बजाय ऐसे कर्म करता है जो मनुष्य को सांसारिक इच्छाओं और आसक्तियों से बाँधते हैं। आपके कर्म करने स्वतंत्रता इस बात पर निर्भर करती है कि आप स्वयं के प्रति एवं सर्वव्यापक चेतना के प्रति कितने जागरूक हैं और किस प्रकार इस जागरूकता का प्रयोग करते हैं एवं सर्वव्यापक चेतना की उपरोक्त अनंत संभावनाओं के प्रति कितने जागरूक हैं और उन अनंत संभावनाओं में स्वयं के लिए किन संभावनाओं को निपात (घटित) करने में सक्षम हैं और जो आपको बंधन के बजाय मुक्ति का मार्ग प्रदान करते हैं।

अब यहाँ दो तथ्य जानना जरूरी है कि एक है सर्वव्यापक चेतना द्वारा अनंत संभावनाओं का अस्तित्व में लाना एवं सर्वव्यापक चेतना द्वारा ही इसका संचालन और निर्धारण करना और दूसरा है आपका पृथ्वी में होना और एक समयरेखा में जन्म, विकास, मृत्यु से व्यक्तिगत चेतना का गुजरना जिसमें व्यक्तिगत चेतना द्वारा इसका अनुभव करना भी सम्मिलित है।

जितना व्यक्तिगत चेतना का स्तर होगा उतनी ही संभावनाओं (possibilities) के प्रति आप सजग रह पाएंगे एवं जागरूकता के हिसाब से उन संभावनाओं का प्रयोग कर पाएंगे लेकिन व्यक्तिगत चेतना का स्तर मनुष्य अपने चेतन मन (Conscious Mind) द्वारा ही अनुभव एवं प्रयोग कर पाता है जो कि सर्वव्यापक चेतना के सापेक्ष नगण्य है एवं व्यक्ति के सम्पूर्ण मन का कुछ प्रतिशत भी नहीं है और यह चेतन मन ही व्यक्ति को जागृत अवस्था में प्रत्येक क्षण कुछ सीमित संभावनाएं प्रदान करता है एवं उन सीमित संभावनाओं में व्यक्ति द्वारा प्राप्त सूचनाएँ, संवेदनाएँ, भावनाएँ, पूर्वाग्रह, सामाजिक नियम एवं संस्कार, पूर्व के अनुभव, इन्द्रियों की प्रकृति, शारीरिक सूक्ष्म तत्व, बाहरी परिस्थितियाँ इत्यादि के सम्मिलित प्रभाव से व्यक्ति उन सीमित संभावनाओं में कुछ संभावनाओं में ही निर्णय लेने के लिए मजबूर एवं प्रेरित होता है।

चेतना के स्तर पर, व्यक्तिगत चेतन मन (Conscious Mind) के स्तर पर सोच-विचार कर निर्णय लेने के लिए सीमित स्तर पर स्वतंत्र इच्छा रखता है वह ज्ञान इन्द्रियों द्वारा प्राप्त सूचना, परिस्थितियों में बुद्धि द्वारा निर्णय ले सकता है और यहीं उसके कर्म आगे के कर्म एवं कर्मफल को निर्धारित करते हैं। लेकिन अवचेतन मन के स्तर पर व्यक्ति के निर्णय संस्कारों एवं पूर्व कर्मों, सूचनाओं द्वारा नियंत्रित होते हैं जहाँ व्यक्ति की स्वतंत्र इच्छा सीमित हो जाती है। इस स्तर पर व्यक्ति जागरूक न होने पर अवचेतन मन के मानसिक पैटर्न द्वारा ही नियंत्रित होकर निर्णय लेता है। वहीं अचेतन मन के स्तर पर स्वतंत्र इच्छा लगभग समाप्त हो जाती है। यहाँ व्यक्ति को चयन करने की स्वतंत्रता समाप्त हो जाती है। व्यक्ति की गहरी आदतें, भाव, प्रवृत्तियाँ, जैविक क्रियाएँ, व्यक्ति के निर्णय, चयन को स्वचालित रूप से नियंत्रित करती हैं। लेकिन व्यक्ति अतिचेतन मन (Super Conscious Mind) के स्तर पर पहुँच कर आत्म जागरूक होकर अपनी प्रकृति, विचार भावनाओं, आदतों पर पूर्ण नियंत्रण कर सकता है और विभिन्न विकल्पों में स्वतंत्र निर्णय ले सकता है। उसकी इच्छा ईश्वरी इच्छा या सर्वव्यापक चेतना की क्रियाओं के साथ एक रूप होने लगती है और जब व्यक्ति का अति चेतन मन परम-चेतन मन (Supreme Mind) के साथ एक हो जाता है तो कोई व्यक्तिगत इच्छा (Free will) नहीं रहती यहाँ सब कुछ सर्वव्यापक चेतना या ब्रह्मा की इच्छा में विलीन हो जाता है, व्यक्ति केवल साक्षी होता है।

“अकर्म” का मतलब कुछ न करना नहीं है, बल्कि ऐसी चेतना में रहना जहाँ “मैं कर्ता हूँ” का भाव खत्म हो जाए। जब व्यक्ति खुद को केवल साक्षी (observer) के रूप में देखता

है और कर्म अपने-आप प्रकृति द्वारा होते दिखते हैं। इस स्थिति में व्यक्ति के “अहं” की मृत्यु हो जाती है और किसी प्रकार की इच्छा नहीं होती और सर्वव्यापक चेतना की योजना का साक्षी बन जाता है जो “सम भाव” और “स्थिरबुद्धि” जैसे गुणों से युक्त हो जाता है। सार रूप में किसी व्यक्ति की कर्म से नहीं, चेतना की गुणवत्ता से बंधन या मुक्ति होती है। एक ही कर्म बंधन और मुक्ति बन सकती है बशर्ते जागरूकता का स्तर तय करता है की कर्म बंधन बनेंगे या मुक्ति का रास्ता। अचेतन (unaware) होकर कर्म करने से बंधन प्राप्त होते हैं और जागरूक (aware) होकर कर्म करने से मुक्ति प्राप्त होती है। कर्म का रहस्य बाहर नहीं, भीतर की चेतना में छिपा है जब चेतना विकसित होती है, तब कर्म योग बन जाता है और जीवन मुक्ति का मार्ग बन जाता है।

श्लोक 17:-

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।

अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥

अर्थ:-श्री कृष्ण कर्म (कर्तव्य), विकर्म (वर्जित कर्म), और अकर्म (निःस्वार्थ कर्म) की सूक्ष्म गति को समझने पर जोर देते हैं। वे बताते हैं कि कर्म का मार्ग बहुत गहरा और समझना कठिन है, इसलिए इन तीनों के अंतर को जानना आवश्यक है। शास्त्रों द्वारा बताए गए सही कर्मों (कर्तव्य) को समझना चाहिए जो कर्म मना किए गए हैं (विकर्म), उन्हें भी जानना चाहिए और अकर्म (निष्काम कर्म) बिना किसी फल की इच्छा के किए गए कर्मों (अकर्म) को भी समझना चाहिए, क्योंकि कर्म की गति बहुत गहन (गहरी) है।

सार:- कर्म (कर्तव्य) का स्वरूप:- प्रत्येक व्यक्ति जीव, प्राणी, वस्तु कर्म के स्वरूप अपनाएं एवं धारण किये हुए है जैसे अग्नि का कर्तव्य गर्म करना, जल का कर्तव्य शीतलता और प्रवाह करना, सूर्य का कर्तव्य उष्णता एवं जीवन प्रदान करना, वृक्षों का कार्य भोजन, ऑक्सीजन देना इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य का भी कर्तव्य है लेकिन वास्तविक कर्म की समझ न होने के कारण मनुष्य अज्ञानता वश शरीर के द्वारा किए गए कार्य को ही वास्तविक कर्म (कर्तव्य) समझ लेता है। व्यक्ति (मनुष्य) की चेतना न शरीर है, न मन है, न बुद्धि, न चित्त, न अहंकार, बल्कि मनुष्य वह सर्वव्यापक चेतना या आत्मा है जो सत्-चित्त-आनंद स्वरूप में है और ऐसे कर्म जो मनुष्य की चेतना को उन्नत करने की ओर प्रवृत्त होता है, साथ ही ऐसे सभी कर्म जो इन्द्रिय दासता से मनुष्य को दूर करे, स्वयं की चेतना को सत्-

चित्त-आनंद स्वरूप में स्थित करे, मनुष्य के अहं को आत्मा (शुद्ध चेतना) में और आत्मा को परमात्मा (सर्वव्यापक चेतना) में रूपांतरित करे, वह कर्म ही “सत्कर्म” या “कर्तव्य कर्म” है।

अकर्म का स्वरूप:—व्यक्ति अतिचेतन मन (Super Conscious Mind) के स्तर पर पहुँच कर आत्म जागरूक होकर अपनी प्रकृति, विचार भावनाओं, आदतों पर पूर्ण नियंत्रण कर सकता है और विभिन्न विकल्पों में स्वतंत्र निर्णय ले सकता है। उसकी इच्छा ईश्वरी इच्छा या सर्वव्यापक चेतना की क्रियाओं के साथ एक रूप होने लगती है और जब व्यक्ति का अति चेतन मन परम-चेतन मन (Supreme Mind) के साथ एक हो जाता है तो कोई व्यक्तिगत इच्छा (Free will) नहीं रहती यहाँ सब कुछ सर्वव्यापक चेतना या ब्रह्मा की इच्छा में विलीन हो जाता है, व्यक्ति केवल “साक्षी” होता है। “व्यक्ति कर्म की आवश्यकता से मुक्त होता और व्यक्ति बहरी रूप में कर्म तो कर रहा होता है लेकिन भीतर उसकी चेतना निर्लिप्त (आसक्त नहीं) है। जब व्यक्ति की चेतना इच्छा, आसक्ति, अहं जैसे गुणों से नहीं बंधती और केवल “साक्षी भाव” में रहती हुई प्रत्येक पल और उसमे होने वाले कर्म को जागरूकता के साथ “पर्यवेक्षण (अब्जर्व)” करती है तब व्यक्ति “अकर्म” की अवस्था में पहुँचता है।

विकर्म:—ऐसे प्रत्येक कर्म जो व्यक्ति की चेतना को निम्न स्तर पर रखते हैं और व्यक्ति के अंदर अहंकार, इच्छा, आसक्ति को जन्म देते हैं वे कर्म विकर्म की श्रेणी में आते हैं। जैसा पूर्व में बताया गया था की प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी कंपन आवृत्ति (vibrational frequency) में जागरूकता और ऊर्जा को रखता है। ऐसे कर्म जो ऊर्जा स्तर और जागरूकता को निम्न स्तर पर लाते हैं जैसे क्रोध, काम, लोभ संबंधी कर्म। ऐसे कर्म व्यक्ति में इन्द्रिय विषयों के प्रति इच्छा, आसक्ति उत्पन्न करते हैं और माया जाल में फँसा कर रखते हैं।

कर्मों के स्वरूप को शरीर, मन, चेतना के स्तर पर समझना जरूरी है। सभी कर्म विचार से उत्पन्न हो रहे हैं और विचार सूक्ष्म शरीर के अवयव मन में संकल्प-विकल्प, योजना, के द्वारा कर्मिन्द्रियों के माध्यम से भौतिक रूप से प्रकट होते हैं। लेकिन सभी विचारों का स्रोत “सर्वव्यापक चेतना” के अंतर्गत आता है जिसमें व्यक्तिगत चेतना को निम्न करने वाले विचार (विकर्म), चेतना को उन्नत करने वाले कर्म (सत्कर्म) समाहित होते हैं लेकिन जो

व्यक्ति इन दोनों प्रकार के विचार-कर्मों में “समत्व भाव, साक्षी भाव, स्थिर बुद्धि “ को प्राप्त कर लेता है वही “अकर्म ” है। **कर्मयोग का सार यही है कि व्यक्ति निष्काम कर्म और समभाव से युक्त होकर कर्म करे जो व्यक्ति को “साक्षी भाव” तक ले जाए जिससे सभी कर्म “अकर्म” की गति को प्राप्त हो।**

श्लोक 18:-

**कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
सबुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥**

अर्थ:-जो मनुष्य कर्म में अकर्म देखता है और जो अकर्म में कर्म देखता है, वह मनुष्य बुद्धिमान है और वह योगी समस्त कर्मों को करने वाला है।

सार:- प्रत्येक व्यक्ति निरंतर किसी न किसी प्रकार का कर्म कर रहा है। उसके कर्म सत्कर्म भी हो सकते हैं और विकर्म भी। लेकिन कर्मयोगी की अवस्था केवल कर्म के बाहरी स्वरूप से निर्धारित नहीं होती, बल्कि उसके भीतर की चेतना और कर्म करने की अवस्था से निर्धारित होती है। जो व्यक्ति कर्म करते हुए **समत्व भाव, साक्षी भाव और स्थिर बुद्धि** को प्राप्त कर लेता है, वह धीरे-धीरे कर्तापन के अहंकार और कर्मफल की इच्छा से मुक्त होने लगता है।

ऐसा व्यक्ति कर्म तो करता है, लेकिन कर्म को अपने अहंकार का विस्तार नहीं बनाता। वह स्वयं को कर्म का पूर्ण कर्ता न मानकर उस व्यापक चेतना का साक्षी और माध्यम मानता है, जिसके माध्यम से जीवन में विभिन्न कर्म घटित हो रहे हैं। इसलिए कर्म करते हुए भी उसके भीतर आसक्ति, फल की अपेक्षा और अपने कर्म को लेकर अहंकार उत्पन्न नहीं होता। इस अर्थ में उसके कर्म उसे कर्मबंधन में नहीं बाँधते।

यहाँ सत्कर्म और विकर्म के द्वैत से ऊपर उठने का अर्थ यह नहीं है कि व्यक्ति सही और गलत के विवेक को ही समाप्त कर दे या किसी भी प्रकार का कर्म करने को उचित मान ले। बल्कि इसका अर्थ है कि वह कर्म के बाहरी द्वैत को देखते हुए भी भीतर से समत्व और साक्षी भाव में स्थित रहे। वह अपने कर्म को अहंकार, व्यक्तिगत स्वार्थ और फल की इच्छा से प्रेरित करने के बजाय व्यापक व्यवस्था और धर्म के संदर्भ में देखता है।

जब बुद्धि स्थिर हो जाती है, तब व्यक्ति प्रत्येक कर्म को केवल “मैं कर रहा हूँ” के भाव से नहीं देखता। वह कर्म, उसके कारण और उसके परिणाम को एक व्यापक व्यवस्था का हिस्सा समझता है। इसी कारण वह कर्म के परिणाम से अत्यधिक प्रसन्न या दुखी नहीं होता, सफलता में अहंकार और असफलता में निराशा से ग्रस्त नहीं होता। उसकी चेतना कर्म के बीच रहते हुए भी कर्म के बंधन से मुक्त रहती है।

इस प्रकार बुद्धिमान व्यक्ति कर्म से भागता नहीं है, बल्कि कर्म करते हुए भी कर्तापन से मुक्त होता है। वह कर्म का त्याग नहीं करता, बल्कि कर्म में छिपी आसक्ति, अहंकार और फल की अपेक्षा का त्याग करता है। यही अवस्था कर्म को बंधन बनाने के बजाय “अकर्म” रूप में स्थापित होती है जो चेतना के विकास और अंतःकरण की शुद्धि का माध्यम बनती है।

सर्वव्यापक चेतना की योजना के अंतर्गत सभी कर्म प्रकृति गुणों (सत्व-राजस-तमस) के कारण हो रहे हैं यह तो व्यक्तिगत बुद्धि है जो उन कर्मों को सही-गलत बता सामाजिक नियम धारण करती है। जैसे हरित प्रदेश के लोगो के लिए “नॉन वेज” खाना गलत हो सकता है लेकिन अरब प्रदेश के रेगिस्तान/ नार्थ पोल में रहने वालो के लिए नॉन वेज खाना जीवन का आधार है।

एक प्रसिद्ध पंक्तियां हैं “घास के लिए बकरी दानव है, बकरी के लिए मनुष्य दानव है और मनुष्य के लिए “बाल” दानव है।

नोट:-द लेसर की ऑफ सोलोमन जैसी पुस्तकों में, बाल को एक शक्तिशाली दानव माना गया है।

जब तक व्यक्ति इन द्वैत (duality) और सापेक्षता (relativity) से ऊपर उठकर कर्मों के स्वरूप को नहीं समझेगा तब तक वह कर्मों को करने और समझने में हमेशा भ्रमित रहेगा। क्योंकि जैसे ही व्यक्ति कर्मों को स्वयं (अहं) से जोड़ेगा तो वही से द्वैत (duality) और सापेक्षता (relativity) के नियम शुरू हो जाएंगे। फिर वह या तो सत्कर्म करेगा या विकर्म लेकिन “अकर्म” नहीं करेगा। इसलिए जरूर है की सबसे पहले कर्म में निष्काम भाव, सम भाव को लाया जाये और कर्मों के साथ इच्छा और आसक्ति का त्याग किया जाए। ऐसा मनुष्य बुद्धिमान और योगी जब कर्तापन के भाव को त्याग देता है और साक्षी भाव में स्वयं की चेतना को स्थापित हो जाता है तब “अकर्म” रूप में सभी कर्तव्य “कर्म” को करता है।

श्लोक 19:-

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥

अर्थ:-जिसके सभी कर्म (प्रयास) कामना (इच्छा) और स्वार्थ (संकल्प) से रहित ।जिसके कर्म ज्ञान की अग्नि में जल चुके उसे ही बुद्धिमान ज्ञानी कहते हैं।

श्लोक 20:-

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ॥

अर्थ:-जो मनुष्य कर्मों में और उनके फल में आसक्ति का त्याग करके, संसार के आश्रय से रहित हो गया है और परमात्मा में ही नित्य तृप्त है, वह कर्मों में भलीभाँति लगा हुआ भी, वास्तव में कुछ भी नहीं करता (अर्थात् वह कभी भी कर्मों के बंधन में नहीं फंसता)।

श्लोक 21:-

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्

अर्थ:-जो व्यक्ति अहंकार से मुक्त होकर, फल की इच्छा न रखते हुए केवल अपना कर्तव्य (शरीर-संबंधी कर्म) करता है, उसे कर्म बंधन या पाप नहीं लगता।

श्लोक 22:-

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते॥

अर्थ:-जो बिना इच्छा के अपने आप प्राप्त लाभ में संतुष्ट रहता है, जो सुख-दुःख के द्वंद्व से ऊपर उठ चुका है, जो ईर्ष्या से मुक्त है, और जो सिद्धि (सफलता) और असिद्धि (असफलता) में सम रहता है, वह कर्म (निष्काम भाव से) करता हुआ भी कभी बंधन में नहीं पड़ता।

श्लोक 23:-

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।

यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥

अर्थ:-जो निस्वार्थ भाव से, ईश्वर को समर्पित होकर कर्म करता है, उसे कर्मफल का बंधन नहीं लगता। ऐसे योगी के सभी कर्म परमेश्वर में ही विलीन हो जाते हैं !

सार (श्लोक 19-23):- यहाँ आत्मज्ञानी व्यक्ति की बात की जा रही है जिसने स्वयं के मन को परमचेतन मन के रूप में रूपांतरित कर लिया है और स्वयं की चेतना को “शुद्ध चेतना” में रूपांतरित कर लिया है। ऐसा व्यक्ति “समत्व भाव, साक्षी भाव, स्थिर बुद्धि” को प्राप्त कर लेता है। जब व्यक्ति स्वयं की चेतना को सर्वव्यापक चेतना में रूपांतरित कर लेता है तब वह समस्त कर्म, विचार, घटनाओं को स्वयं की चेतना में घटित होता पाता है जिसे साक्षी भाव के रूप में जान पाता है। यह समस्त मन, ऊर्जा, समय का स्रोत बन जाता है लेकिन स्वयं उनमें लिप्त नहीं होता। ऐसे बुद्धिमान ज्ञानी के सभी कर्म ज्ञान की अग्नि में जल जाते हैं।

इच्छाएँ व्यक्ति में तब जन्म लेती हैं जब व्यक्ति मन में किसी विषय के प्रति विचार लाता है और संकल्प-विकल्प करता है और यही विचार इच्छाओं को जन्म देती हैं, सामान्य रूप से जिस व्यक्ति का मन अस्थिर होता है तो विभिन्न विचार विभिन्न इच्छाओं को जन्म देते हैं और यही इच्छाएँ आगे चल कर आसक्ति, क्रोध, कामवासना, लोभ का कारण भी बनती हैं। लेकिन आत्मज्ञानी व्यक्ति में “**कर्म की द्वैतता**” (**Duality of karma**) का भ्रम मिट जाता है और कर्म सिर्फ चेतना को शुद्ध रखते हुए किए जाते हैं। व्यक्ति को जब यह ज्ञान हो जाता है कि वह सभी कर्मों का साक्षी (observer) मात्र है और और उसकी चेतना की वजह से सामने का दृश्य घटित (collapse) हुआ है और सामने का दृश्य और स्वयं का द्रष्टा एक ही है। सभी व्यक्ति, प्राणी, संसार जगत, घटनाएँ आपकी चेतना का ही हिस्सा हैं तो व्यक्ति कर्मों में और उनके फल में आसक्ति का त्याग करके, संसार के आश्रय से रहित हो जाता है और शुद्ध चेतना (परमात्मा) में ही नित्य तृप्त है, वह कर्मों में भलीभाँति लगा हुआ भी, वास्तव में कुछ भी नहीं करता।

ऐसे व्यक्ति जो अहंकार से मुक्त हो गया है, ” मैं “ का स्थान “ सभी “ के भाव ने ले लिया है। सभी को स्वयं की चेतना का ही हिस्सा जो ज्ञान-जन जान लेता है वह कर्म करता हुआ

कभी पाप नहीं करता है अर्थात् उसकी ऊर्जा और कंपन आवृत्ति कभी निम्न नहीं होती। इसके अतिरिक्त उसे कर्म के बंधन भी नहीं होते क्योंकि वह शरीर-मन के स्तर के सभी कार्यों के लिए सिर्फ साक्षी (observer) होता है। जैसा पूर्व में बताया गया था कि जब व्यक्ति चेतना को शरीर और मन से संबंध कर कर्म करता है तो कर्म सिद्धांत का निर्माण भी शरीर और मन के स्तर पर होता है लेकिन व्यक्ति यह समझ लेता है कि: “मैं शरीर/मन नहीं, बल्कि शुद्ध चेतना हूँ” और मैं केवल साक्षी हूँ, कर्ता नहीं” तो वह कर्म करता हुआ भी अंदर से मुक्त रहता है उसके कर्म उसे बाँध नहीं पाते।

श्लोक 22 में कर्मयोग के “सम भाव” और **श्लोक 23** में “निष्काम कर्म” के तत्वों का वर्णन किया है। जो व्यक्ति सभी स्थिति में (सुख-दुःख, लाभ-हानि, सफलता- असफलता) में समान भाव रखता है उसका मन का असंतुलन दूर होकर मन को सर्वव्यापक चेतना में स्थापित कर तथा त्रि-आयामी जगत की **सीमित प्रज्ञा (Limited Intelligence)** को उच्च चेतना की प्रज्ञा में स्थापित करता है।

इसी प्रकार श्लोक 23 फल की इच्छा का त्याग कर कर्म को कर्तव्य भाव से कर सफलता एवं असफलता से विचलित हुए बिना कर्म करने पर शबल देता है जिसका उद्देश्य अहं भाव का त्याग, मन के विचलन को दूर करना तथा सर्वव्यापक चेतना को ही कर्ता समझना। इस प्रक्रिया के निरंतर अभ्यास से व्यक्ति का मन त्रि-आयामी दृश्य जगत से हटकर सभी कर्मों के पीछे पांचवे आयाम की चेतना की प्रज्ञा (Intelligence) को जानना तथा प्रकृति के तीन गुण (सत्व, तमस, रजस) के बलों (forces) को समझना है। इससे मन aur चेतना का शुद्धिकरण हो जाता है, व्यक्ति अपनी आभासी चेतना या निम्न चेतना को उच्च वास्तविक चेतना से जोड़ पाता है जिसे आत्मा या उच्च स्व (Higher self) कहा जाता है तथा अंततः सर्वव्यापक चेतना (परमात्मा) में स्वयं की चेतना को रूपांतरित कर लेता है।

श्लोक 24:-

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥

अर्थ:-जिस यज्ञ में अर्पण (आहुति की क्रिया) ब्रह्म है, हवि (हवन सामग्री) ब्रह्म है, ब्रह्मरूप अग्नि में ब्रह्मरूप कर्ता के द्वारा जो आहुति दी गई है, वह भी ब्रह्म ही है। ऐसे ब्रह्म-कर्म (ईश्वर को समर्पित कार्य) में स्थिर रहने वाले योगी द्वारा प्राप्त किया जाने वाला फल भी ब्रह्म ही है।

सार:- प्रत्येक व्यक्ति का प्रमुख कर्म यही है कि वह सत्-चित्-आनंद स्वरूप को प्राप्त करे, प्रगतिशील होकर चेतना को उन्नत करे जिससे चेतना शुद्ध हो सके और चेतना को उन्नत करने की प्रक्रिया ही “हवन रूपी यज्ञ” है जिसमें मनुष्य शरीर में स्थित चेतना केन्द्रों को सक्रिय करना, मन-बुद्धि स्थिर और सत्-चित्-आनंद स्वरूप में स्वयं को रूपांतरित करना सम्मिलित है जिसे “यज्ञ” की उपाधि प्रदान की है।

यह श्लोक चेतना के सर्वोच्च अनुभव को व्यक्त करता है और द्वैतता (duality) के सिद्धांत के स्थान पर यह स्पष्ट करता है की कि करने वाला (doer), कर्म (action), साधन (medium) और परिणाम (result) अलग-अलग नहीं हैं, बल्कि एक ही चेतना (ब्रह्म) के विभिन्न रूप हैं। जब साधक अपनी चेतना के उन्नयन और रूपांतरण के लिए यज्ञरूपी साधना करता है, तब वह अनुभव करता है कि यज्ञ की प्रत्येक प्रक्रिया उसी सर्वव्यापक चेतना अर्थात् ब्रह्म की अभिव्यक्ति है। यज्ञ करने वाला साधक, यज्ञ की क्रिया, हवन में अर्पित किया जाने वाला द्रव्य तथा उस क्रिया से प्राप्त होने वाला परिणाम—सभी उसी एक शुद्ध चेतना से उत्पन्न और उसी में स्थित हैं।

यहाँ हवन का द्रव्य केवल भौतिक पदार्थ नहीं है, बल्कि वे सभी साधन हैं जिनके द्वारा व्यक्ति अपनी चेतना का रूपांतरण करता है—जैसे कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग और क्रियायोग। साधक जब इन साधनों का प्रयोग अहंकार और फल की आसक्ति से मुक्त होकर करता है, तब उसके भीतर धीरे-धीरे कर्ता और कर्म का भेद समाप्त होने लगता है।

अंततः साधक उस अवस्था को प्राप्त करता है जहाँ द्रष्टा और दृश्य, कर्ता और कर्म, साधक और साधना—सभी का द्वैत मिटने लगता है। उसे अनुभव होता है कि अलग-

अलग दिखाई देने वाली यह सम्पूर्ण सृष्टि वास्तव में एक ही सर्वव्यापक चेतना, ब्रह्म, का विस्तार है।

जब यह अनुभूति गहरी हो जाती है, तब व्यक्ति का प्रत्येक कर्म यज्ञ बन जाता है और प्रत्येक अनुभव उसकी चेतना को और अधिक शुद्ध एवं व्यापक करता है। यही ब्रह्मरूपी फल है— जहाँ चेतना सीमित व्यक्तिगत पहचान से ऊपर उठकर उस अद्वैत अवस्था का अनुभव करती है, जहाँ करने वाला और किया जाने वाला वास्तव में अलग नहीं रहते, बल्कि दोनों एक ही शुद्ध चेतना की अभिव्यक्ति बन जाते हैं।

अर्थात्—यज्ञ का वास्तविक उद्देश्य बाहरी अग्नि में केवल द्रव्य अर्पित करना नहीं, बल्कि अपने अहंकार, आसक्ति और अज्ञान को ज्ञान एवं जागरूकता की अग्नि में समर्पित करके व्यक्तिगत चेतना को सर्वव्यापक चेतना के अनुभव तक पहुँचाना है।

नोट :-आगे के श्लोक विभिन्न प्रकार के व्यक्ति चेतना को उन्नत (निम्न जागरूकता से उच्च जागरूकता) और चेतना को शुद्ध करने के लिए विभिन्न विधियों (यज्ञ) का प्रयोग करते हैं उनका संक्षेप में वर्णन किया गया है।

श्लोक 25:-

दैवं एवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।

ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति।

अर्थ:-कुछ योगी देवताओं की पूजा-रूप यज्ञ का ही भली-भाँति अनुष्ठान किया करते हैं और दूसरे योगी परब्रह्म परमात्मा रूप अग्नि में अभेद-दर्शन रूप यज्ञ के द्वारा ही आत्मरूप यज्ञ का हवन किया करते हैं

सार:- इस श्लोक में चेतना को रूपान्तरण के लिए साकार देवताओं के रूपों-गुणों के माध्यम से और निराकार ईश्वर (शुद्ध चेतना) के गुणों से प्रेरित होकर विभिन्न विधियों का प्रयोग करता है।

साकार भक्ति और क्रिया में साधक देवताओं की पूजा करता है। ध्यान बाहर की शक्ति, रूप, और प्रतीकों पर होता है। यह द्वैत (Duality) की अवस्था है — मैं और ईश्वर अलग

हैं। इस अवस्था में चेतना अभी भी “मैं” और “दिव्य” के बीच भेद देखती है। भक्ति है, लेकिन अलगाव भी है।

वही अन्य योगीजन (साधक) अपनी आंतरिक चेतना (inner consciousness) को रूपांतरित और शुद्ध करने पर काम करता है। यहाँ साधक स्वयं को ब्रह्म (शुद्ध चेतना) में अर्पित करता है और “मैं” का त्याग ही यज्ञ की आहुति बन जाता है। इस अवस्था में चेतना अद्वैत (Non-duality) में प्रवेश करती है। साधक और परम सत्य एक हो जाते हैं। कोई अलग “करने वाला” नहीं बचता।

यह श्लोक बताता है कि शुरुआत में हम ईश्वर को बाहर खोजते हैं लेकिन जैसे-जैसे चेतना जागृत होती है, हम समझते हैं कि **ईश्वर (ब्रह्म) बाहर नहीं, बल्कि हमारी ही चेतना का सर्वोच्च रूप है और अंत में “साधक, साधना और साध्य — तीनों एक हो जाते हैं”।** यही अवस्था शुद्ध चेतना की अवस्था है। द्रष्टा और दृश्य में भेद मिट जाता है।

भक्ति योग के संबंध में अगर चर्चा करे तो भक्ति **सगुण रूप एवं निर्गुण रूप** में की जाती है जहाँ सगुण रूप में ईश्वर के किसी रूप से प्रेम करना जैसा कृष्ण, शिव, राम, राधा, काली माता इत्यादि। इसमें मंत्र, नाम जप, कीर्तन, भजन, पूजा इत्यादि के माध्यम से भक्ति की जाती है वही निर्गुण भक्ति में निराकार, सर्वव्यापक चेतना के रूप में ईश्वर को अनुभव करना जिसमें भाव की ऊर्जा, कंपन की अनुभूति करना सम्मिलित है।

साकार और निर्गुण रूप को समझने के लिए इस संबंध में संत तोतापुरी जो एक अद्वैत वेदांत के ज्ञानी थे और रामकृष्ण परम हंस जो माँ काली के उपासक थे की कहानी प्रसिद्ध है। जिसमें तोतापुरी रामकृष्ण के माँ काली के गहरे समर्पण को देखकर उनकी आध्यात्मिक क्षमता को पहचान गये। उन्होंने रामकृष्ण को समझाया कि काली सहित सब कुछ भ्रम है और केवल निराकार ब्रह्मा ही सत्य है। रामकृष्ण ने शुरू में विरोध किया क्योंकि उनकी भक्ति माँ काली से गहरी रूप में जुड़ी थी लेकिन धीरे-धीरे वे तैयार हो गये जब माँ काली ने ही उन्हें तोतापुरी से दीक्षा लेने की आज्ञा दी तब तोतापुरी ने रामकृष्ण को समझाया कि व्यक्तिगत भक्ति और साकार रूप की पूजा से आगे बढ़कर निराकार सत्य को जानना ही अंतिम लक्ष्य है और जब उन्होंने माँ काली के साकार रूप की भक्ति को निराकार भक्ति में परिवर्तित किया तब उन्हें अनुभव हुआ कि साकार रूप की भक्ति व्यक्ति की चेतना का रूपांतरित रूप ही है लेकिन शुद्ध चेतना निराकार, निर्लिप्त, साक्षी भाव है जिस प्रकार ऊर्जा और पदार्थ निराकार

और साकार रूप है और ऊर्जा से विभिन्न पदार्थ बने है इसी प्रकार शुद्ध चेतना (ब्रह्म) और रूपांतरित चेतना (साकार देवतागण) एक चेतना (ब्रह्म) के अनेक रूप है। इस प्रकार रामकृष्ण परमहंस साकार भक्ति (काली माँ) से निराकार ईश्वर या निराकार ब्रह्मा (सर्वव्यापक चेतना) को प्राप्त हुए।

श्लोक 26:-

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।

शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥

अर्थ:-कुछ योगीजन श्रोत्र (कान) आदि इन्द्रियों को संयम रूपी अग्नि में हवन किया करते हैं (नियंत्रित करते हैं), और दूसरे लोग शब्दादि (शब्द, रूप, रस आदि) विषयों को इन्द्रिय रूपी अग्नि में हवन किया करते हैं (अर्थात् विषयों में आसक्त न होकर उन्हें इन्द्रियों से दूर रखते हैं)।

सार:-जैसा कि पूर्व में बताया गया है, यहाँ “यज्ञ” का अर्थ केवल बाहरी अग्नि में हवन करना नहीं, बल्कि अपनी आंतरिक चेतना के रूपांतरण के लिए की जाने वाली साधना है। इस श्लोक में योग के दो मार्गों का वर्णन किया गया है—पहला, इन्द्रियों को संयम की अग्नि में अर्पित करना और दूसरा, इन्द्रिय-विषयों का अनुभव करते हुए भी उनमें आसक्त न होना।

इन्द्रियों को संयम-अग्नि में हवन करने का अर्थ है अपनी इन्द्रियों की प्रवृत्तियों पर जागरूक नियंत्रण स्थापित करना। साधक यह अभ्यास करता है कि उसे क्या सुनना है और क्या नहीं, क्या देखना है और किससे स्वयं को दूर रखना है। इस निरंतर अभ्यास के माध्यम से मन धीरे-धीरे नियंत्रित होने लगता है और चेतना अधिक जागरूक तथा ऊँची अवस्था की ओर बढ़ती है।

उदाहरण के लिए, कोई व्यक्ति अपमानजनक शब्द सुनता है, लेकिन तुरंत क्रोध या प्रतिक्रिया नहीं करता। उस क्षण वह अपनी श्रोत्र इन्द्रिय और उससे उत्पन्न मानसिक प्रतिक्रिया को संयम की अग्नि में अर्पित कर रहा होता है। इसी प्रकार कुछ योगी जिह्वा की इच्छाओं को नियंत्रित करने के लिए भोजन में संयम और त्याग का अभ्यास करते हैं। कुछ साधक दृष्टि को एकाग्र और नियंत्रित करने के लिए त्राटक जैसी साधनाओं का अभ्यास

करते हैं। इसी प्रकार स्पर्श इन्द्रिय के विषयों पर संयम रखकर व्यक्ति अपनी इच्छाओं और प्रवृत्तियों को नियंत्रित करने का प्रयास करता है।

दूसरा मार्ग है—विषयों को इन्द्रिय-अग्नि में अर्पित करना। इसका अर्थ इन्द्रियों को पूरी तरह रोक देना नहीं है। यहाँ इन्द्रियाँ अपना स्वाभाविक कार्य करती रहती हैं—कान सुनते हैं, आँखें देखती हैं, जिह्वा स्वाद का अनुभव करती है—लेकिन व्यक्ति इन अनुभवों के साथ आसक्त नहीं होता। उसकी चेतना एक साक्षी (Observer) की तरह अनुभवों को देखती रहती है।

उदाहरण के लिए, आप किसी सुंदर दृश्य को देखते हैं, उसकी सुंदरता का अनुभव भी करते हैं, लेकिन उसमें मानसिक रूप से खोकर या उससे चिपककर बंधते नहीं। आप अनुभव करते हैं, लेकिन अनुभव को अपनी चेतना पर अधिकार नहीं करने देते।

इस प्रकार दोनों मार्गों का अंतर समझा जा सकता है—पहले मार्ग में इन्द्रियों की प्रवृत्तियों पर संयम स्थापित करने का अभ्यास है, जबकि दूसरे मार्ग में इन्द्रियों के विषयों के बीच रहते हुए भी उनसे आसक्त न होने की कला है। एक मार्ग में साधक इन्द्रियों को नियंत्रित करना सीखता है और दूसरे मार्ग में वह अनुभवों को देखते हुए भी आंतरिक रूप से स्वतंत्र रहना सीखता है।

दोनों प्रकार के यज्ञों का उद्देश्य एक ही है—मन की प्रतिक्रियाओं, इच्छाओं और आसक्तियों से ऊपर उठकर चेतना को अधिक शुद्ध, जागरूक और विस्तृत बनाना। जब साधक इन्द्रियों का स्वामी बन जाता है और विषयों का दास नहीं रहता, तब उसकी चेतना धीरे-धीरे साक्षीभाव और आंतरिक स्वतंत्रता की अवस्था में प्रवेश करने लगती है।

श्लोक 27:-

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।

आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥

अर्थ:-अन्य योगी अपनी समस्त इन्द्रियों और प्राणों की क्रियाओं को ज्ञान से प्रकाशित, आत्म-संयम योग रूपी अग्नि में आहुति के रूप में समर्पित कर देते हैं, जिससे इन्द्रियां वश में हो जाती हैं।

सार:-श्रीकृष्ण अर्जुन रूपी साधक को आत्म-संयम योग के माध्यम से यह बताते हैं कि आत्मिक उन्नति केवल बाहरी कर्मों या विचारों से नहीं होती, बल्कि इन्द्रियों, मन, प्राण और चेतना के संतुलित एकीकरण से होती है। इस साधना में बाह्य स्तर पर इन्द्रियों का संयम, आंतरिक स्तर पर प्राणशक्ति का संतुलन तथा जागरूकता के स्तर पर चेतना का विकास किया जाता है।

जो साधक आत्म-साक्षात्कार (*Self-Realization*) की इच्छा रखते हैं, वे अपनी इन्द्रियों—जैसे देखना, सुनना, स्पर्श करना आदि—को अनियंत्रित रूप से बाहरी विषयों में भटकने नहीं देते। वे इन्द्रियों और उनकी प्रवृत्तियों को संयमित एवं जागरूक मन रूपी अग्नि में अर्पित करते हैं। इसका अर्थ इन्द्रियों का दमन करना नहीं, बल्कि विवेक और जागरूकता के माध्यम से उनका संतुलित संचालन करना है।

जब इन्द्रियाँ निरंतर बाहरी विषयों के पीछे भागती हैं, तो मन भी अनेक इच्छाओं, विचारों और प्रतिक्रियाओं में विभाजित हो जाता है। लेकिन जब साधक यह जागरूकता विकसित करता है कि क्या देखना है, क्या सुनना है और किस अनुभव पर प्रतिक्रिया देनी है, तब धीरे-धीरे मन की चंचलता कम होने लगती है। इस प्रकार इन्द्रियों का संयम चेतना को बाहरी आकर्षणों से मुक्त करके भीतर की ओर मोड़ने का माध्यम बनता है।

इसी प्रकार प्राणों का संयम और संतुलन भी आत्म-संयम योग का महत्वपूर्ण अंग है। श्वास और मन का संबंध अत्यंत गहरा अनुभव किया जाता है। जब श्वास तीव्र और असंतुलित होती है, तो मन भी प्रायः अधिक चंचल और उत्तेजित रहता है; वहीं सजग और संतुलित श्वास-अभ्यास मन को स्थिर करने में सहायक हो सकता है। प्राणायाम और अन्य योगिक अभ्यासों के माध्यम से साधक अपनी जीवनशक्ति के प्रवाह के प्रति अधिक जागरूक होता है।

धीरे-धीरे जब इन्द्रियाँ संयमित होती हैं, श्वास संतुलित होती है और मन की निरंतर चलने वाली विचार-तरंगें शांत होने लगती हैं, तब साधक के भीतर साक्षीभाव और आत्म-जागरूकता का विकास होता है। वह स्वयं को केवल शरीर, विचारों, इच्छाओं और भावनाओं तक सीमित मानने के बजाय उनके प्रति जागरूक होने लगता है।

इस अवस्था में व्यक्ति की सीमित और प्रतिक्रियात्मक चेतना धीरे-धीरे अधिक व्यापक जागरूकता की ओर अग्रसर होती है। इसे आध्यात्मिक भाषा में आत्मा या उच्चतर आत्म-जागरूकता (Higher Self) के अनुभव की दिशा में यात्रा कहा जा सकता है।

श्लोक 28:-

**द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः।**

अर्थ:-कई पुरुष द्रव्य (धन) सम्बन्धी यज्ञ करने वाले हैं, कितने ही तपस्या रूप यज्ञ करने वाले हैं। तथा दूसरे कितने ही योग रूप यज्ञ करने वाले हैं और कितने ही अहिंसादि तीक्ष्ण व्रतों से युक्त यत्नशील पुरुष स्वाध्याय (वेद/शास्त्रों का अध्ययन) रूप ज्ञान यज्ञ करने वाले हैं।

सार:-यह श्लोक बताता है कि चेतना को शुद्ध और ऊँचा उठाने के अनेक मार्ग हैं और प्रत्येक मार्ग एक प्रकार का “यज्ञ” है। यज्ञ का वास्तविक अर्थ केवल बाहरी अग्नि में आहुति देना नहीं है, बल्कि अपनी निम्न प्रवृत्तियों, अहंकार, इच्छाओं, आसक्तियों और सीमित पहचान को उच्चतर चेतना की दिशा में समर्पित करना है।

द्रव्य-यज्ञ में व्यक्ति धन, वस्त्र, अन्न आदि का दान करता है तथा भूखे, अनाथ, रोगी और असमर्थ व्यक्तियों की सेवा करता है। पशु-पक्षियों एवं अन्य जीवों की सेवा भी इसी भावना का विस्तार हो सकती है। चेतना के स्तर पर इस प्रकार की सेवा व्यक्ति के भीतर उपस्थित “मेरा” और “केवल मेरे लिए” की भावना को कम करती है। व्यक्ति धीरे-धीरे स्वार्थ से ऊपर उठकर सेवा, करुणा और व्यापकता की चेतना की ओर बढ़ता है।

इसी प्रकार **तपो-यज्ञ** में साधक इन्द्रियों और इच्छाओं पर नियंत्रण स्थापित करने के लिए अनुशासन एवं कठिन साधना का मार्ग अपनाता है। व्रत करना, मौन धारण करना, भोजन में संयम, नियमित साधना तथा शरीर और मन की सहनशीलता को विकसित करना तपस्या के विभिन्न रूप हो सकते हैं। इसका उद्देश्य केवल शरीर को कष्ट देना नहीं, बल्कि इच्छाओं और आवेगों का दास बनने के स्थान पर उनके प्रति जागरूक होना है। निरंतर और संतुलित अभ्यास से व्यक्ति में आत्मसंयम, मानसिक स्थिरता और इच्छाओं के प्रति स्वतंत्रता विकसित हो सकती है।

योग-यज्ञ में साधक शरीर, मन और चेतना के रूपांतरण के लिए विभिन्न योगिक एवं ध्यान विधियों का प्रयोग करता है। भारतीय आध्यात्मिक परंपराओं में चेतना के विकास के अनेक मार्ग बताए गए हैं। *भगवद्गीता* में कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग तथा ध्यान के माध्यम से चेतना के रूपांतरण की चर्चा मिलती है। योग परंपरा में अष्टांगयोग, ध्यान, प्राणायाम और विभिन्न साधना-पद्धतियों के माध्यम से शरीर, मन और प्राण के संतुलन का मार्ग बताया गया है। *विज्ञान भैरव तंत्र* में भी ध्यान और जागरूकता की अनेक विधियों का वर्णन मिलता है।

ज्ञान-यज्ञ वह साधना है जिसमें साधक अज्ञान, भ्रम, मिथ्या धारणाओं और सीमित अहंकार को **ज्ञान की अग्नि में समर्पित** करता है। यहाँ यज्ञ का अर्थ केवल पुस्तकों का अध्ययन या जानकारी एकत्र करना नहीं है, बल्कि सत्य को समझने, उस पर मनन करने और अपने जीवन में अनुभव करने की प्रक्रिया है।

ज्ञान-यज्ञ में साधक निरंतर प्रश्न करता है—**मैं कौन हूँ? मेरे विचारों का वास्तविक स्वरूप क्या है? क्या मैं केवल शरीर और मन हूँ, या इन सबका साक्षी भी हूँ?** इस प्रकार का आत्म-अन्वेषण व्यक्ति को बाहरी संसार से प्राप्त धारणाओं के बजाय अपने प्रत्यक्ष अनुभव और जागरूकता की ओर ले जाता है।

ज्ञान का पहला चरण **श्रवण** है—गुरु, शास्त्र और सत्य के ज्ञान को सुनना या पढ़ना। दूसरा चरण **मनन** है—उस ज्ञान पर गहराई से विचार करना और अपने संशयों को दूर करना। तीसरा चरण **निदिध्यासन** है—उस सत्य को ध्यान और निरंतर जागरूकता के माध्यम से अपने प्रत्यक्ष अनुभव का हिस्सा बनाना।

विभिन्न परंपराओं में ध्वनि, ऊर्जा, श्वास, ध्यान और एकाग्रता को चेतना के रूपांतरण के साधन के रूप में प्रयोग किया गया है। उदाहरण के लिए मंत्र-जप और ॐ की ध्वनि के माध्यम से मन को एकाग्र करने का अभ्यास, त्राटक द्वारा दृष्टि और ध्यान को केंद्रित करना तथा श्वास और प्राण के माध्यम से आंतरिक ऊर्जा को संतुलित करने की साधनाएँ विभिन्न योगिक परंपराओं में मिलती हैं।

इसी प्रकार **बौद्ध परंपरा** में मैत्री ध्यान (Metta Meditation), विपश्यना तथा करुणा-आधारित ध्यान जैसी विधियों के माध्यम से जागरूकता और करुणा का विकास किया

जाता है। **जैन परंपरा** में प्रेक्षा ध्यान और कायोत्सर्ग जैसी साधनाएँ शरीर, मन और आत्म-जागरूकता के विकास के मार्ग के रूप में देखी जाती हैं।

इसके अतिरिक्त कुछ साधक अपने जीवन को ही एक प्रकार का **आचरण-यज्ञ** बना लेते हैं। सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य जैसे सिद्धांतों का अभ्यास करके वे अपने व्यवहार और चेतना को शुद्ध करने का प्रयास करते हैं। इसी प्रकार शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान जैसे व्यक्तिगत अनुशासन व्यक्ति को केवल बाहरी ज्ञान तक सीमित नहीं रखते, बल्कि ज्ञान को जीवन जीने की शैली में परिवर्तित करने का प्रयास करते हैं।

अंततः इन सभी यज्ञों का मूल उद्देश्य एक ही है—व्यक्ति की सीमित और अहंकार-केंद्रित चेतना को धीरे-धीरे अधिक शुद्ध, जागरूक, करुणामय और व्यापक बनाना। किसी के लिए यह मार्ग सेवा है, किसी के लिए तपस्या, किसी के लिए ध्यान, योग, ज्ञान या भक्ति। मार्ग भिन्न हो सकते हैं, लेकिन जब साधना का उद्देश्य अहंकार और आसक्ति को कम करके चेतना का विस्तार करना हो, तब प्रत्येक मार्ग व्यक्ति को उसकी आंतरिक स्वतंत्रता और उच्चतर चेतना की ओर ले जा सकता है।

नोट:- आगे के 2 श्लोक प्राणायाम रूपी यज्ञ का वर्णन करेंगे ।

श्लोक 29-30:-

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः॥
अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः॥

अर्थ:-दूसरे कितने ही योगी जन अपान वायु (बाहर जाने वाली सांस) में प्राण वायु (भीतर जाने वाली सांस) को हवन करते हैं (पूरक प्राणायाम), वैसे ही अन्य योगीजन प्राण वायु में अपान वायु को हवन करते हैं (रेचक प्राणायाम)। तथा अन्य कितने ही नियमित आहार करने वाले प्राणायाम परायण पुरुष प्राण और अपान की गति को रोककर (कुम्भक) प्राणों को प्राणों में ही हवन किया करते हैं। ये सभी साधक यज्ञों द्वारा पापों का नाश कर देने वाले और यज्ञों को जानने वाले हैं।

सार (श्लोक 29-30):- उपरोक्त विधि विज्ञान भैरव तंत्र की पहली और दूसरी विधि से मेल खाती है साथ ही क्रियायोग के “हःसः” विधि और अष्टांग योग के “प्राणायाम विधि” के तत्वों को समाहित करती है।

यह विधि केवल सांस लेने की तकनीक नहीं, बल्कि चेतना को संतुलित करने की विधि है। सांसो का नियंत्रण मन के नियंत्रण और संतुलन से जुड़ा होता है और प्राणायाम से मन शांत और स्थिर होता है। शरीर की प्राण शक्ति संतुलित होती है और **नाड़ी (energy channels)** शुद्ध होती हैं और ऊर्जा बढ़ती है। जैसा बताया गया था ऊर्जा स्तर और चेतना का सीधा संबंध होता है, ऊर्जा स्तर बढ़ने पर चेतना स्तर और जागरूकता का स्तर बढ़ता है।

विधि: सांस लेते और छोड़ते समय, जब सांस अंदर आकर रुकती है और बाहर जाने वाली होती है, या बाहर जाकर रुकती है और अंदर आने वाली होती है—उस सूक्ष्म क्षण (Pause) पर ध्यान केंद्रित करें। श्वास अंदर आने और बाहर जाने के बीच के उस शांत, मौन बिंदु पर रुकें। वहां केवल जागरूकता है, विचार नहीं, जो सीधा समाधि की ओर ले जाता है। जब सांस नीचे से ऊपर की ओर मुड़ती है (इनहेलेशन से एक्सहेलेशन) और जब ऊपर से नीचे की ओर मुड़ती है (एक्सहेलेशन से इनहेलेशन), उस मोड़ के स्थान को महसूस करें। यह विधि सांस की निरंतरता के बजाय उसके 'मोड़' (Turning point) पर ध्यान केंद्रित करने को कहती है, जिससे मन के परे जाना आसान हो जाता है। इन विधियों का उद्देश्य सांस पर नियंत्रण नहीं, बल्कि श्वास के दौरान होने वाले उस "मौन" (Silence) को पकड़ना है जो विचारों के बीच का अंतराल है। इन्हें शांत वातावरण में, रीढ़ सीधी रखकर और आंखें बंद करके, केवल दृष्टा (Observer) बनकर किया जाना चाहिए।

इसी प्रकार **क्रिया योग विधि** प्राण ऊर्जा (Life force energy) को बढ़ाने के लिए क्रिया योग में कुंडलिनी प्राणायाम साधना का प्रयोग किया जाता है। जिसके अंतर्गत शक्ति संचार विधि, हः सः विधि का अभ्यास किया जाता है। इस विधि से नाड़ियों को शुद्ध एवं संतुलित किया जाता है जिसमें इडा, पिंगला और सुष्मुना नाड़ी को जागृत करना सम्मिलित है। इस प्रक्रिया से मूलाधार चक्र में स्थित ऊर्जा ऊपर उठने लगती है जिसे कुंडलिनी जागरण के नाम से जाना जाता है। क्रिया कुंडलिनी प्राणायाम से शरीर में स्थित ऊर्जा केन्द्र जागृत होने

से चेतना के नए आयाम खुलते हैं जिन्हें क्रिया ध्यान विधि के द्वारा सूक्ष्मता से जाना एवं समझा जा सकता है।

अष्टांग योग विधि में आसन सिद्धि के बाद प्राणायाम योग आता है जिसका उद्देश्य श्वास-प्रश्वास की गति को नियंत्रित करना है, जिससे मन शांत और एकाग्र होता है। इसे आसन सिद्धि (स्थिरता) के बाद किया जाता है। इसके मुख्य प्रकारों में भस्त्रिका, कपालभाति, और अनुलोम-विलोम शामिल हैं, जिन्हें सुबह खाली पेट, शांत स्थान पर रीढ़ सीधी रखकर करना चाहिए।

श्लोक:-31

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम।

अर्थ:- यज्ञ का आचरण करने वाले अमृततुल्य फल का भोग करते हैं और उन्हें सनातन परब्रह्म प्राप्त होता है। इसके विपरीत, जो यज्ञ नहीं करते, उनके लिए यह लोक या परलोक सुखदायी नहीं है।

सार:- जो व्यक्ति चेतना स्तर को उन्नत करने और मन को स्थिर करने की क्रिया (यज्ञ) करते हैं वे सनातन ब्रह्म (उच्च चेतना और शुद्ध चेतना) को प्राप्त करते हैं। जब आप “**यज्ञ भाव**” से काम करते हैं (निस्वार्थ सेवा, कृतज्ञता, समर्पण) मस्तिष्क में **डोपामिन, सेरोटोनिन, गाबा** जैसे “**खुशी देने वाले हार्मोन्स**” बनते हैं और तनाव वाले **हार्मोन (Cortisol)** कम होता है। जिससे व्यक्ति को भौतिक जीवन में खुशी, शांति प्राप्ति का भाव आता है। यह स्थिति “यज्ञशिष्टामृत” है — काम के बाद जो आंतरिक शांति और संतोष मिलता है।

इसके अतिरिक्त उपरोक्त योग क्रियाएँ व्यक्ति के सूक्ष्म तत्वों को भी उन्नत करती हैं। ये क्रियाएँ (यज्ञ) व्यक्ति के मन को स्थिर और शांत करने के अलावा ज्ञान इन्द्रियों की क्षमता बढ़ाने में मदद करते हैं और पाँच प्राण की क्रियाओं को संतुलित करते हैं जिससे व्यक्ति का स्वास्थ्य, शारीरिक ऊर्जा स्तर में वृद्धि होती है।

लेकिन जो व्यक्ति अपनी चेतना उन्नत करने के कर्म (यज्ञ) नहीं करते उनके लिए इस भौतिक जगत में और सूक्ष्म जगत में अनेक प्रकार के दुख होते हैं क्योंकि केवल इन्द्रियों के भोग के पीछे भागता है और मन अनियंत्रित होने से शांति, संतोष नहीं मिलती और हमेशा अभाव

में किसी न किसी भोग के लिए रहता है साथ ही स्वार्थ, अहंकार और अज्ञान में जीता है। उसकी चेतना बिखरी हुई रहती है जिससे जागरूकता में कमी के कारण सही समय पर सही निर्णय न लेने के कारण दुख, तनाव प्राप्त होता है। सिर्फ इसी भौतिक जगत के संबंध में यह बात नहीं की गई है व्यक्ति सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर के साथ अस्तित्व में होता है।

स्थूल शरीर को बनाए रखने एवं वृद्धि करने एवं संचालन करने में 'सूक्ष्म शरीर' की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। सूक्ष्म शरीर में पाँच ज्ञान इन्द्रियाँ, **पाँच प्राण (प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान)**, पाँच तन्मात्राएँ (इन्द्रियों के विषय), मन, बुद्धि, चित्त अहं जैसे तत्व आते हैं जो भौतिक शरीर को जीवित रखने, अनुभव करने, संचालन करने, निर्णय लेने एवं सूचनाओं को ग्रहण करने योग्य बनाते हैं। इसके अंतर्गत शरीर के 'प्राणमय कोश, मनोमयकोश, ज्ञानमय कोश' को रखा जाता है।

लेकिन सभी सूक्ष्म तत्वों एवं स्थूल तत्वों का जो कारण है वह '**कारण शरीर**' है जो सभी विचारों का स्रोत है एवं विचारों को वास्तविकता प्रदान करता है तथा अन्य शरीर (स्थूल, सूक्ष्म) का आधार है। इसमें सभी **कर्म बीज (Karma seed)**, **संस्कार (Values)**, **कारण (Causes)** समाहित है।

उपरोक्त योग विधियों के प्रयोग से व्यक्ति के कर्म बीज, संस्कार, विचार उन्नत होते हैं और सूक्ष्म तत्वों के उन्नत होने से व्यक्ति का भौतिक जगत में स्वतः परेशानी, दुख, तनाव इत्यादि दूर हो जाते हैं। अगर बात व्यक्तिगत चेतना को सर्वव्यापक चेतना में रूपान्तरण की करें तो सर्वव्यापक चेतना को जानने एवं समझने के लिए स्थूल ब्रह्मांड को आँखों से देखने की क्षमता विकसित करने की जरूरत नहीं है न ही इन्द्रियों को विस्तारित करने की जरूरत है, इसके लिए अपने मन को इतनी गहराई में उतारने की है जिसमें मन किसी भी शरीर के स्तर (स्थूल, सूक्ष्म, कारण) के साथ अहं भाव न रखे एवं मन का कोई ढंग न रहे न बुद्धि, न चित्त, न अहं रहे तब जो मन के परे प्राप्त होगा वह सर्वव्यापक चेतना ही प्राप्त होगी। यह सर्वव्यापक चेतना मन के परे, समय के परे स्थित है इस स्थिति में समस्त ब्रह्मांड (स्थूल, सूक्ष्म, कारण) में जो भी गति, परिवर्तनशीलता हो रही है वह स्वयं आप बनते जाएंगे और आप में वो सभी प्रज्ञा (intelligence) समाहित हो जाएगी जो सर्वव्यापक चेतना द्वारा उत्पन्न है। इस स्थिति को ही 'ब्रह्म ज्ञान' कहा गया है, इस ज्ञान के पश्चात न ही कुछ जानने योग्य बचता है न ही कुछ छुपता है। यही यज्ञ का अमृततुल्य फल है।

श्लोक 32:-

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान् विद्धि तान् सर्वान् एवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥

अर्थ:-अनेक प्रकार यज्ञों का विस्तार से वर्णन किया गया है, और ये सभी यज्ञ कर्मों से उत्पन्न होते हैं। इन्हें कर्म, मन और शरीर की क्रिया द्वारा संपन्न जानकर, जो व्यक्ति इन्हें समझ लेता है, वह कर्म-बंधन से मुक्त हो जाता है।

सार:-यह श्लोक स्पष्ट करता है कि चेतना को उन्नत करने और जागरूकता बढ़ाने के लिए अनेक प्रकार के यज्ञ अथवा साधना-पथ बताए गए हैं। जैसे—द्रव्य-यज्ञ, तप-यज्ञ, योग-यज्ञ, स्वाध्याय एवं ज्ञान-यज्ञ, प्राणायाम-यज्ञ, आत्म-संयम रूपी यज्ञ, इन्द्रिय-संयम तथा पूजा और समर्पण के विभिन्न साधन। ये केवल बाहरी धार्मिक क्रियाएँ नहीं हैं, बल्कि शरीर, मन और इन्द्रियों के रूपांतरण की आंतरिक प्रक्रियाएँ हैं। यज्ञों की संख्या केवल बताए गए साधनों तक सीमित नहीं है। प्रत्येक ऐसा कर्म, अभ्यास या साधना, जो व्यक्ति की चेतना को अधिक जागरूक, संतुलित और शुद्ध बनाती है, व्यापक अर्थ में यज्ञ का स्वरूप धारण कर सकती है।

इन सभी साधनाओं में एक समान तत्त्व दिखाई देता है—शरीर, मन और इन्द्रियों के साथ जागरूकता स्थापित करना। कोई साधक सेवा और दान के माध्यम से अपने अहंकार को कम करता है, कोई तपस्या द्वारा इच्छाओं पर संयम स्थापित करता है, कोई योग और ध्यान द्वारा मन को स्थिर करता है, कोई ज्ञान और स्वाध्याय द्वारा अज्ञान को दूर करता है तथा कोई प्राणायाम के माध्यम से श्वास और मन के संबंध को संतुलित करने का प्रयास करता है।

इस दृष्टि से सभी यज्ञों का मूल उद्देश्य केवल कर्म करना नहीं, बल्कि कर्म करने वाले की चेतना में परिवर्तन लाना है। वही कर्म व्यक्ति को बाँधता है, जो अहंकार, स्वार्थ, आसक्ति और फल की तीव्र इच्छा से किया जाता है। इसके विपरीत, जब कर्म जागरूकता, समर्पण और अनासक्ति के साथ किया जाता है, तो वही कर्म साधक की चेतना को शुद्ध करने का माध्यम बन सकता है।

हर कर्म चेतना की अभिव्यक्ति है और कर्म की दिशा इस बात से निर्धारित होती है कि वह किस चेतना से किया जा रहा है। अहंकार और आसक्ति से किया गया कर्म व्यक्ति को मानसिक और कर्मगत बंधनों में उलझा सकता है, जबकि जागरूकता और समर्पण से किया गया कर्म आंतरिक स्वतंत्रता की दिशा में ले जा सकता है।

इसलिए किसी भी साधना या योग-क्रिया का केवल बाहरी रूप अपनाना पर्याप्त नहीं है। उसके मर्म और उद्देश्य को समझना आवश्यक है। जब साधक यह समझ लेता है कि साधना का उद्देश्य इन्द्रियों का अंधा दमन नहीं, बल्कि उनका संतुलन; मन का विनाश नहीं, बल्कि उसकी शुद्धि; और कर्म का त्याग नहीं, बल्कि कर्म में आसक्ति का त्याग है—तब उसकी साधना वास्तविक यज्ञ का रूप लेने लगती है।

श्लोक 33:-

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप।

सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।

अर्थ:- हे अर्जुन, भौतिक वस्तुओं से किए जाने वाले दान संबंधी द्रव्ययज्ञ से ज्ञान यज्ञ श्रेष्ठ है। सभी प्रकार के कर्म (समग्र रूप से) ज्ञान में ही पूर्ण होते हैं।

सार:-द्रव्य संबंधी यज्ञ भौतिक वस्तुओं जैसे धन, अन्न इत्यादि समानेवाली दान रूप यज्ञ है जो की बाहरी चेतना (Outer Consciousness) का कार्य है

जहाँ व्यक्ति अभी इन्द्रिय और शरीर के स्तर पर कर्म करता है। जबकि ज्ञानयज्ञ आपको आत्मज्ञान के माध्यम से आंतरिक चेतना (inner consciousness) का कार्य है जिसमें व्यक्ति भ्रम (illusion) की जगह वास्तविकता (reality) को प्राप्त करता है और यह वह ज्ञान है जो अपने असली स्वरूप और आत्मा के ज्ञान पर केन्द्रित है। यह ज्ञान हमें बताता है कि हम शरीर नहीं हैं, मन भी नहीं है, हमारा वास्तविक स्वरूप शुद्ध चेतना है।

एक ओर द्रव्य यज्ञ केवल कर्म को शुद्ध करता है

वही ज्ञान यज्ञ कर्ता (Doer) की चेतना को शुद्ध करता है।

जब तक अज्ञान है “मैं करता हूँ” (Ego-based consciousness) तब तक व्यक्तिगत चेतना और सर्वव्यापक चेतना के बीच अंतर उपस्थित रहता है लेकिन जब ज्ञान आता है

सब कुछ प्रकृति कर रही है” (Witness consciousness) और द्रष्टा-दृश्य एक ही है। साथ ही अहं त्याग कर स्वयं की चेतना को सर्वव्यापक चेतना के साथ एक करते हैं तब पूर्ण ज्ञान होता है “मैं ही ब्रह्म हूँ, सब मैं ही हूँ” (Unity consciousness)। यहाँ कर्म समाप्त नहीं होते, कर्म करने वाला “अहंकार” समाप्त हो जाता है और जब चेतना शुद्ध हो जाती है तब व्यक्ति के कर्म भी बंधन मुक्त हो जाते हैं।

श्लोक 34:-

**तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः**

अर्थ:- उस तत्त्वज्ञान (परमात्मा के वास्तविक ज्ञान) को जानो, तत्त्वदर्शी संतों के पास जाकर, उन्हें दण्डवत् प्रणाम, सेवा और निष्कपट और विनम्र भाव से प्रश्न के द्वारा ज्ञान समझें। वे ज्ञानी महात्मा ही सत्य का उपदेश दे सकते हैं।

श्लोक 35:-

**यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ।**

अर्थ:- “हे पाण्डुपुत्र (अर्जुन), इस तत्त्वज्ञान को प्राप्त कर तुम फिर कभी ऐसे मोह को प्राप्त नहीं होगे, क्योंकि इस ज्ञान के द्वारा तुम संपूर्ण भूतों को निःशेष भाव से अपने में और मेरे में देखोगे”।

सार (श्लोक 34-35):- तत्त्व ज्ञान वह ज्ञान है जो हमें हमारे जीवन, मानसिक कार्यों, आत्मा, चेतना के मूल भूत सत्य को समझने में मदद करता है। यह सर्वव्यापक चेतना के उन तत्वों को जानने के लिए महत्वपूर्ण है जिससे इस सृष्टि, जीव जंतु, प्रकृति का निर्माण हुआ है तथा किन-किन नियमों से इसका संचालन हो रहा है, किस प्रकार प्रकृति कारण, सूक्ष्म से होते हुए स्थूलता को प्राप्त हो रही है, यह जानना तत्त्व ज्ञान के अंतर्गत आता है। ब्रह्मांड के स्तर पर जिस चेतना ने ब्रह्मांड का निर्माण किया है उसी ने व्यक्ति का भी निर्माण किया है। इसलिए सहज होने के कारण हम यहाँ मनुष्य के तत्त्व ज्ञान की चर्चा करेंगे।

मनुष्य का निर्माण चेतना के कई सालों के विकास के परिणाम स्वरूप हुई है तथा व्यक्ति का प्रकृति के साथ सामंजस्य के लिए चेतना द्वारा उसे तैयार किया गया है। हम यहाँ इसका संक्षेप में ही वर्णन करेंगे। मनुष्य स्थूल रूप (Physical form) में पंचमहाभूत (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश) से निर्मित होता है। लेकिन चेतना को समझने के लिए व्यक्ति के अन्य 19 सूक्ष्म तत्व को समझना चाहिए जो इस प्रकार हैं- मन, बुद्धि, अहं, चित्त, पाँच ज्ञान इन्द्रियाँ (आँख, नाक, कान, जीव्हा, त्वचा) तथा पाँच कर्म इन्द्रियाँ (हाथ, पैर, गुदा, मुँह, उपस्थ) और पाँच प्राण (उदान, प्राण, अपान, समान, व्यान) तथा उपर्युक्त वर्णित सूक्ष्म तत्वों को उत्पन्न एवं विकास करने के लिए कारण तत्व भी मनुष्य में उपस्थित होते हैं। ये सभी सूक्ष्म तत्वों की प्रकृति, गुण मनुष्य के व्यवहार, कार्य एवं भौतिक शरीर के विकास को प्रभावित करते हैं। इसके अतिरिक्त उपयुक्त स्थूल और सूक्ष्म तत्वों को चेतना के साथ संरेखित करने के लिए मनुष्य और सर्वव्यापक चेतना के बीच आत्म तत्व भी उपस्थित होता है जिसे व्यक्ति को जानना चाहिए। यही से अगले चरण 'आत्म ज्ञान' को व्यक्ति प्राप्त कर सकता है। इसी प्रकार समस्त ब्रह्मांड में कई सूक्ष्म तत्व, नियम, शक्तियाँ, अंतःक्रिया विद्यमान हैं जो ब्रह्मांडीय प्रज्ञा का रूप हैं जिसे जानना तत्व ज्ञान के अंतर्गत आता है।

यह क्षेत्र इतना व्यापक है जिसे किसी एक किताब या शब्दों में व्याख्या नहीं की जा सकती। इसलिए किसी तत्त्वदर्शी या आत्मा ज्ञानी महापुरुष के पास जाकर उनसे तत्व ज्ञान, आत्मज्ञान को प्राप्त करना चाहिए। हालांकि वर्तमान समय में ऐसे तत्वज्ञानी पुरुष विरले ही इस पृथ्वी में हैं। क्योंकि तत्त्वदर्शी वह है जिसने सत्य को अनुभव किया हो, सिर्फ पढ़ा नहीं। ऐसा गुरु आत्मा और परमात्मा की एकता को देखा है, उनकी चेतना “द्वैत” से “अद्वैत” में स्थिर हो चुकी होती है।

लेकिन अगर इस तत्व ज्ञान, आत्मज्ञान को किसी व्यक्ति द्वारा अनुभव कर लिया जाता है और जीवन शैली में उतार लिया जाता है तो भ्रम, अज्ञान, दुख – सब मिट जाते हैं क्योंकि अब आप “सत्य” में स्थापित हो जाते हैं और चेतना स्पष्ट और जागृत हो जाती है। सभी प्राणियों की चेतना स्वयं में अनुभव करने लगते हैं। यह **एकत्व (Oneness)** का अनुभव है जो अहं, मोह, क्रोध, लोभ जैसे तत्व को मनुष्य से समाप्त कर देता है।

श्लोक 36-37:-

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।

सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥

अर्थ:- यदि तू अन्य सब पापियों से भी अधिक पाप करने वाला है, तो भी तू ज्ञान रूपी नौका द्वारा निःसंदेह सम्पूर्ण पाप-समुद्र को अच्छी प्रकार तर जाएगा। जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि ईंधन को भस्म कर देती है, उसी प्रकार ज्ञान रूपी अग्नि सभी कर्मों (पापों/बंधनों) को नष्ट कर देती है। यह आत्मज्ञान हमें अज्ञान से मुक्त करता है।

सार (श्लोक 36-37):- यहाँ एक महत्वपूर्ण बात समझनी आवश्यक है कि **चेतना को केवल सकारात्मक गुणों का स्रोत मानना पर्याप्त नहीं है।** व्यक्तिगत अनुभव के स्तर पर चेतना प्रकृति के सत्त्व, रजस और तमस—इन तीनों गुणों के माध्यम से स्वयं को अभिव्यक्त करती है। यही गुण व्यक्ति के मन, बुद्धि, अंतःकरण और कर्मों में विभिन्न रूपों में दिखाई देते हैं।

इस दृष्टि से “पाप” को केवल बाहरी रूप से किए गए गलत कर्मों तक सीमित नहीं समझना चाहिए, बल्कि उसे अज्ञान और अविवेक से उत्पन्न चेतना की एक अवस्था के रूप में भी समझा जा सकता है। जब व्यक्ति का मन अज्ञान, भ्रम, भय, लोभ, क्रोध, आसक्ति और अहंकार से ढका होता है, तब उसके निर्णय और कर्म भी उसी मानसिक अवस्था से प्रभावित होते हैं।

इसे वैज्ञानिक भाषा में “निम्न कंपन आवृत्ति” या निम्न चेतनात्मक अवस्था के प्रतीक के रूप में समझा जा सकता है। शर्म, भय, क्रोध, लोभ, अत्यधिक आसक्ति, अनियंत्रित इच्छाएँ और नकारात्मक संस्कार व्यक्ति की जागरूकता को सीमित कर सकते हैं। जब बुद्धि और अंतःकरण पर्याप्त रूप से शुद्ध और विवेकपूर्ण नहीं होते, तब व्यक्ति अपने कर्मों के परिणामों को स्पष्ट रूप से देख नहीं पाता और अज्ञानवश ऐसे कर्म कर सकता है जो स्वयं और दूसरों के लिए दुःख तथा विनाश का कारण बनते हैं।

लेकिन श्रीकृष्ण का संदेश केवल व्यक्ति के दोषों का वर्णन नहीं करता, बल्कि **परिवर्तन की संभावना** भी प्रस्तुत करता है। चाहे व्यक्ति कितना भी अज्ञान, भ्रम या नकारात्मक संस्कारों से घिरा हुआ क्यों न हो, ज्ञान और जागरूकता के माध्यम से परिवर्तन संभव है।

ज्ञानरूपी नाव का अर्थ है—अपनी चेतना और कर्मों के प्रति सजग होना। जब व्यक्ति स्वयं को देखने लगता है, अपने भय, क्रोध, इच्छाओं और संस्कारों को पहचानने लगता है, तब वह उनके पूर्ण नियंत्रण में रहना बंद कर सकता है। यही जागरूकता उसे अज्ञान के पार ले जाने का माध्यम बनती है।

“पाप” को इस दृष्टि से केवल कर्म नहीं, बल्कि **अज्ञान की अवस्था** के रूप में भी देखा जा सकता है। जब चेतना अहंकार, भय और आसक्ति के प्रभाव में सीमित हो जाती है, तब गलत निर्णय और हानिकारक कर्म उत्पन्न हो सकते हैं। लेकिन ज्ञान के द्वारा व्यक्ति की दृष्टि बदलती है और उसकी चेतना अधिक विवेकपूर्ण होने लगती है।

जैसे प्रज्वलित अग्नि लकड़ी को भस्म कर देती है, वैसे ही ज्ञानाग्नि कर्मों को भस्म कर देती है।

यहाँ **ज्ञानाग्नि** को बाहरी अग्नि नहीं, बल्कि गहन जागरूकता और विवेक की अग्नि के रूप में समझा जा सकता है। जब व्यक्ति की आत्म-जागरूकता बढ़ती है, तब चेतना को नीचे खींचने वाले भय, अज्ञान और नकारात्मक संस्कार धीरे-धीरे अपनी शक्ति खोने लगते हैं।

ज्ञान व्यक्ति के अतीत को मिटाता नहीं, बल्कि उसके साथ व्यक्ति की पहचान और संबंध को बदल देता है। पहले व्यक्ति क्रोध, भय या लोभ के प्रभाव में कर्म करता था; अब वह इन प्रवृत्तियों को पहचानकर उनके प्रति जागरूक हो सकता है। इस जागरूकता के कारण पुरानी प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्तियाँ धीरे-धीरे कमजोर पड़ने लगती हैं।

इस प्रकार ज्ञान चेतना को सीमित और प्रतिक्रियात्मक अवस्था से अधिक शुद्ध, जागरूक और विवेकपूर्ण अवस्था की ओर ले जाता है। इसे प्रतीकात्मक रूप से निम्न चेतनात्मक अवस्था से प्रेम, करुणा, शांति और प्रबुद्धता जैसी उच्चतर अवस्थाओं की यात्रा कहा जा सकता है।

नोट- आगे के श्लोक “आत्मज्ञान और ब्रह्म ज्ञान” या “शुद्ध चेतना और सर्वव्यापक चेतना” के अनुभव की महिमा को को वर्णित करेंगे और कर्म योग के द्वारा भी चेतना शुद्ध कर वही ज्ञान प्राप्त होने की बात कहते हैं।

श्लोक 38:-

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥

अर्थ:-इस संसार में दिव्य ज्ञान के समान पवित्र करने वाला कुछ भी नहीं है। जो व्यक्ति कर्मयोग के अभ्यास द्वारा खुद को शुद्ध कर लेता है, वह समय आने पर इस सर्वोच्च ज्ञान को अपने भीतर ही पा लेता है।

श्लोक 39:-

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

अर्थ:-कि जो व्यक्ति श्रद्धावान, साधनपरायण है, जिसने अपनी इन्द्रियों को नियंत्रित कर लिया है और जो ज्ञान प्राप्त करने के लिए तत्पर है, उसे दिव्य ज्ञान की प्राप्ति होती है। यह ज्ञान प्राप्त होने पर, व्यक्ति को शीघ्र ही परम शांति प्राप्त होती है।

सार 38-39:-यहाँ “ज्ञान” केवल जानकारी (information) नहीं है, बल्कि चेतना की जागृति है। जब चेतना शरीर-मन की आवश्यकताओं, इच्छाओं तक सीमित होकर सर्वव्यापक चेतना के ज्ञान से दूर हो जाती है और सीमित चेतना अज्ञान (मोह, अहंकार, भ्रम) से ढकी होती है, जिससे मन अशांत और अशुद्ध रहता है।

जैसे ही आत्मज्ञान जागता है, चेतना शुद्ध होने लगती है या कहे जिसकी चेतना इन्द्रियों से ऊपर उठ चुकी हो, मन और बुद्धि संतुलित हो तब आत्मज्ञान होता है। ऐसी अवस्था में व्यक्ति बाहर नहीं, अपने भीतर सत्य को अनुभव करता है। यह ज्ञान अचानक नहीं आता, बल्कि साधन, ध्यान, स्वाध्याय, गुरु सेवा, योग मार्ग के द्वारा धीरे धीरे प्राप्त होता है। जब समय के साथ चेतना परिपक्व होती है और फिर सत्य स्वयं प्रकट होता है। ज्ञान ही चेतना की परम शुद्ध अवस्था है।

वास्तविक ज्ञान या सत्य तब प्रकट होता है जब व्यक्ति शरीर, मन के स्तर से ऊपर उठकर मात्र साक्षी भाव से सभी को देखता है एवं स्वयं की चेतना को सर्वव्यापक चेतना के रूप में समझ पाता है और स्वयं को सभी से एक होने की भावना को पहचानता है। इस एकता की भावना से व्यक्ति की चेतना सर्वव्यापक चेतना के हिस्से के रूप में स्वयं को जान पाती है। ज्ञानी व्यक्ति स्वयं की चेतना को सर्वव्यापक चेतना से अलग नहीं मानता उसे ज्ञात होता है कि सब कुछ वही परमचेतना है, न ही वह कर्ता है और न ही वह भोक्ता है जो भी घटित हो रहा है वह सर्वव्यापक चेतना द्वारा घटित किया जा रहा है। इसी सर्वव्यापक चेतना में परमचेतन मन, सार्वभौमिक ऊर्जा, समय, स्थान, तत्वों का विभिन्न रूप में इस्तेमाल कर विभिन्न-विभिन्न प्राणी समुदाय, कणों, आकाशगंगाओं, ब्रह्मांडों का निर्माण भिन्न-भिन्न स्तर पर किया है।

श्रद्धा केवल विश्वास नहीं है, बल्कि चेतना का खुलापन (receptivity) है। बिना श्रद्धा के चेतना बंद रहती है और श्रद्धा से चेतना ग्रहणशील (receiving) बनती है इसलिए ज्ञान का प्रवेश श्रद्धा से ही होता है।

“तत्पर” यानी पूर्ण समर्पण और फोकस। इसके अतिरिक्त जब चेतना इधर-उधर भटकती है, तब ज्ञान नहीं आता जब चेतना एक लक्ष्य (आत्मसत्य) पर टिकती है, तब गहराई पैदा होती है। यह चेतना को “विखंडित” से “एकाग्र” बनाता है। इसी प्रकार अनियंत्रित इन्द्रियाँ चेतना को शुद्ध न करने के बजाय सुनीति करती हैं। इन्द्रियाँ (देखना, सुनना, स्वाद आदि) चेतना को बाहर की ओर खींचती हैं। अनियंत्रित इन्द्रियाँ चेतना को भी अस्थिर करती हैं जबकि मन को स्थिर कर व्यक्तिगत चेतना को शुद्ध चेतना में रूपान्तरित करती हैं। जब चेतना भीतर स्थिर होती है, तभी आत्मज्ञान प्रकट होता है। जब व्यक्ति भौतिक ज्ञान की मान्यताओं से ऊपर उठ कर तत्व ज्ञानी बनता है और आत्म ज्ञान को प्राप्त करता है। यही आत्मज्ञान व्यक्ति को ब्रह्मा ज्ञान को प्राप्त करता है जिसे ब्रह्मा ज्ञानी कहा जाता है और यही ब्रह्मा ज्ञानी स्वयं ब्रह्मा होता है।

'ब्रह्मविद ब्रह्मैव भवति' ब्रह्मा को जानने वाला स्वयं ही ब्रह्मा हो जाता है। यह वही ज्ञान है जिसके बाद 'ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान' का भेद मिट जाता है।

यह ज्ञान व्यक्ति में निष्काम कर्म और समत्व भाव पैदा करता है और चेतना को सत्-चित्-आनंद में रूपांतरित करता है जो सुख - दुःख से परे की स्थिति है जो अनंत अस्तित्व, अनंत चेतना, आनंद (समभाव) के साथ बिना विचलन के साक्षी भाव रूप में स्थित है।

श्लोक 40:-

अज्ञश्चाश्रद्धानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥

अर्थ:-अज्ञानी, श्रद्धाहीन और संशयग्रस्त व्यक्ति का पतन हो जाता है। ऐसे संशयी आत्मा के लिए न यह लोक है, न परलोक और न ही सुख।

श्लोक 41:-

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय॥

अर्थ:-जिसने योग द्वारा कर्मफल का त्याग कर दिया है, ज्ञान से संशय नष्ट कर दिए हैं और जो आत्मज्ञान में स्थित है, उसे कर्म नहीं बांधते। ऐसे निष्काम कर्मयोगी को कर्मफल प्रभावित नहीं करते।

श्लोक 42:-

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्चैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत॥

अर्थ:-इसलिए हे भरतवंशी अर्जुन! तुम्हारे हृदय में अज्ञान के कारण जो संशय उत्पन्न हुआ है, उसे ज्ञानरूपी तलवार से काटकर अलग कर दो और योग (समत्व बुद्धि) में स्थित होकर युद्ध के लिए खड़े हो जाओ।

सार(श्लोक 40-42):-अज्ञानी व्यक्ति वह है जो अपने क्रियाकलाप, आस पास के वातावरण, विचारों, व्यवहार के प्रति जागरूक नहीं है साथ ही व्यापक स्तर पर जब मनुष्य अपनी शुद्ध चेतना (आत्मा) के प्रति जागरूक नहीं रहता और वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नहीं होता तब वह पुरुष अज्ञानी कहा जाएगा ।

जब व्यक्ति को अपने वास्तविक स्वरूप (आत्मा) का ज्ञान नहीं होता, तब उसकी चेतना केवल शरीर और इन्द्रियों तक सीमित रहती है। चेतना का व्यक्तिगत मन, शरीर के स्तर तक सीमित होने से चेतना के वास्तविक स्वरूप (आत्मा) का ज्ञान न होने के कारण इस विषय पर व्यक्ति विश्वास नहीं कर पाता। व्यक्ति का मन -बुद्धि सिर्फ इन्द्रियों की माध्यम से ग्रहण करने वाले संवेदन तक ही प्रतिक्रिया करने और निर्णय लेने तक समिति होते हैं। चेतना को शरीर -मन से जोड़ते हुए “मैं” के अहं से युक्त जीवन जीते हैं जिससे कभी भी व्यक्तिगत चेतना सर्वव्यापक चेतना में रूपांतरित नहीं होती।

जागरूकता में कमी की वजह से निर्णयों में **सर्वोत्तम का चुनाव (selection of optimum)** न होने के कारण निर्णय कई बार गलत लिए जाते हैं जो दुख का कारण बनते हैं। इसलिए न यह लोक (वर्तमान जीवन) सुख देता है और न ही परलोक (आध्यात्मिक उन्नति) मिलती है क्योंकि संशयग्रस्त चेतना निर्णय सही न होने से न पूरी तरह संसार में आनंद के साथ नहीं जी पाती है और न ही आध्यात्मिकता विकास में आगे बढ़ पाती है।

जिस व्यक्ति ने कर्मयोग द्वारा निष्काम कर्म, समत्व भाव से कर्म की कला सीख ली और कर्म फल की इच्छाओं, विषयों से आसक्ति को त्याग दिया है साथ ही अहं का त्याग कर दिया है वह वास्तविक ज्ञान प्राप्त करता है (आत्म ज्ञान और ब्रह्म ज्ञान) जिसमें अपनी चेतना को सभी प्राणी, कर्मों में देखता है। यही एक सर्वव्यापक चेतना सभी में विद्यमान देखते हुए कर्म चेतना की योजना अनुरूप ही करता है जिससे कर्म बंधन नहीं होता। जब चेतना “योग” में स्थित होती है तब कर्म होते हैं, लेकिन “मैं कर रहा हूँ” का भाव नहीं रहता। सब कुछ एक “साक्षी भाव” में होता है

ऐसी चेतना निर्लिप्त (detached) हो जाती है। सार रूप में अज्ञानी व्यक्ति कर्म और कर्मफल में फँसते हैं (गलत निर्णय के कारण), संशययुक्त व्यक्ति निर्णय नहीं ले पाता जिस कारण उसका जीवन द्वन्द्व में बीतता है जबकि आत्मज्ञानी व्यक्ति सभी कर्मों को सर्वव्यापक चेतना की योजना मानते हुए उनमें साक्षी भाव मात्र रखता है, न ही उन कर्मों में आसक्ति रखता है। न कर्मफल की इच्छा और कर्म न ही किसी प्रकार व्यक्ति के भाव को प्रभावित करता है। इसलिए, अपने हृदय में स्थित अज्ञान से उत्पन्न संदेह को ज्ञान रूपी तलवार से काटकर, योग में स्थित हो जाओ और उठ खड़े हो जाओ। यह ज्ञान भ्रम को काटता है, द्वंद्व को समाप्त करता है और चेतना को शुद्ध और पूर्ण जागरूक बनाता है।

अध्याय - 5

कर्म-संन्यास योग

इस अध्याय का नाम “कर्म-संन्यास योग” दिया गया है। अभी तक कृष्ण अर्जुन रूपी साधक को सांख्य अथवा ज्ञान-मार्ग और कर्मयोग के विषय में समझा चुके हैं। इन दोनों मार्गों का उद्देश्य व्यक्ति की व्यक्तिगत चेतना को सीमित अहंकार, इच्छा और आसक्ति से ऊपर उठाकर सर्वव्यापक शुद्ध चेतना के अनुभव की ओर ले जाना है। किंतु अर्जुन रूपी साधक के मन में यह संशय उत्पन्न होता है कि चेतना को शुद्ध करने और आत्मिक मुक्ति प्राप्त करने के लिए इन दोनों मार्गों में से कौन-सा मार्ग अपनाया जाए तथा कौन-सा मार्ग अधिक सरल और श्रेष्ठ है। अर्जुन के इसी संशय का समाधान करने तथा कर्मयोग और संन्यास योग की वास्तविक एकता को स्पष्ट करने के लिए इस अध्याय का आरंभ किया जाता है।

जैसा कि विदित है, कर्मयोग में निष्काम भाव से कर्म करने, कर्मफल की इच्छा का त्याग करने तथा सफलता और असफलता, सुख और दुःख में समत्व भाव बनाए रखने पर बल दिया गया है। कर्मयोगी संसार में रहते हुए अपने कर्तव्यों का पालन करता है, किंतु अपने कर्मों के परिणामों से स्वयं को बाँधता नहीं है। इसके विपरीत, संन्यास अथवा ज्ञानयोग में आत्मज्ञान के माध्यम से यह बोध उत्पन्न होता है कि वास्तविक कर्ता सीमित अहंकार नहीं है। साधक अनुभव करता है कि—“मैं केवल यह शरीर नहीं हूँ, न ही केवल मन हूँ; मैं इन दोनों का साक्षी आत्मस्वरूप हूँ।” इस ज्ञान के आधार पर शरीर और मन के स्तर पर उत्पन्न होने वाले अहंकार, इच्छा और आसक्ति का त्याग ही वास्तविक संन्यास की दिशा है।

कर्मयोग और ज्ञानयोग में मुख्य अंतर उनके साधन के स्तर पर दिखाई देता है। कर्मयोग में बाह्य कर्मों को कर्तव्य के रूप में निष्काम और समत्व भाव से किया जाता है, जबकि संन्यास अथवा ज्ञानयोग में कर्मों को आंतरिक आत्मज्ञान के आधार पर अहंकार, इच्छा और आसक्ति से मुक्त होकर देखा और किया जाता है।

कर्मयोग व्यक्ति को कर्म के माध्यम से चेतना की शुद्धि की ओर ले जाता है, जबकि ज्ञानयोग व्यक्ति की बुद्धि को आत्मस्वरूप के ज्ञान द्वारा प्रकाशित करता है।

कर्मयोग में साधक शरीर और संसार के स्तर पर कर्म करते हुए योग की ओर बढ़ता है। निष्काम कर्म, समभाव और ईश्वर-स्मरण (नाम जप, मंत्र जप) उसके प्रमुख साधन बनते हैं। दूसरी ओर ज्ञानयोग में साधक बुद्धि और विवेक के माध्यम से स्वयं के वास्तविक स्वरूप को पहचानने का प्रयास करता है। वह शरीर, मन और अहंकार से अपनी पहचान हटाकर स्वयं को शुद्ध चेतना के रूप में अनुभव करने लगता है।

सामान्य साधक के लिए कर्मयोग ज्ञानयोग की अपेक्षा अधिक सरल और व्यावहारिक मार्ग हो सकता है, क्योंकि मनुष्य स्वभावतः कर्मशील है और संसार में रहते हुए कर्मों का पूर्ण त्याग करना संभव नहीं है। इसलिए कर्मयोग के माध्यम से धीरे-धीरे मन और बुद्धि की शुद्धि होती है तथा अंततः उसी शुद्ध बुद्धि द्वारा आत्मज्ञान का उदय होने लगता है। इस दृष्टि से कर्मयोग और ज्ञानयोग दो अलग-अलग तथा विरोधी मार्ग नहीं हैं, बल्कि आध्यात्मिक विकास की एक ही यात्रा की परस्पर जुड़ी हुई कड़ियाँ हैं।

शुद्ध चेतना सभी कर्मों में निर्लिप्त और साक्षी भाव में स्थित रहती है, किंतु यही चेतना समस्त ऊर्जा, प्रज्ञा तथा समय और स्थान के अनुभव का मूल आधार भी है। इसी चेतना के माध्यम से प्रकृति और उसके तीन गुण—सत्त्व, रजस और तमस—व्यक्तिगत अनुभव के क्षेत्र में प्रकट होते हैं।

सर्वव्यापक चेतना व्यक्ति के समक्ष अनंत संभावनाएँ प्रस्तुत करती है, जिनमें व्यक्ति अपनी मन-बुद्धि, ज्ञानेंद्रियों तथा जागरूकता के स्तर के अनुसार निर्णय लेता है और कर्मेंद्रियों के माध्यम से कर्म करता है। इसी प्रक्रिया से कर्म और उसके परिणामों का अनुभव निर्मित होता है।

जब व्यक्ति स्वयं को केवल शरीर और मन मानता है, तब वह कर्मों के साथ अपनी पहचान जोड़ लेता है। इसी से उसके भीतर “मैं करता हूँ”, “मुझे प्राप्त करना है” और “यह मेरा है” जैसी धारणाएँ उत्पन्न होती हैं। यही अहंकार, इच्छा और आसक्ति व्यक्ति को कर्मफल के बंधन में बाँधती हैं। किंतु जब साधक ज्ञान और अनुभव के माध्यम से यह पहचान लेता है कि वह शरीर और मन के परिवर्तनशील अनुभवों से

परे शुद्ध चेतना अथवा आत्मा है, तब उसके भीतर ज्ञान का प्रकाश उत्पन्न होने लगता है। इसके विपरीत, जब ज्ञान अज्ञान से ढका रहता है, तब व्यक्ति मोह, दुःख और अभाव की अनुभूति में संसार के साथ बंधा रहता है।

इस अध्याय का एक अत्यंत महत्वपूर्ण संदेश यह है कि वास्तविक संन्यास कर्मों का त्याग करना नहीं, बल्कि कर्मों में कर्तापन के अहंकार का त्याग करना है। अर्थात् व्यक्ति कर्म करता है, किंतु स्वयं को कर्मों का पूर्ण और स्वतंत्र कर्ता मानकर अहंकार से बंधता नहीं है। वह समझने लगता है कि शरीर और मन प्रकृति के नियमों और गुणों के अनुसार कार्य कर रहे हैं, जबकि उसका वास्तविक आत्मस्वरूप उन सभी अनुभवों का साक्षी है।

अध्याय के अंतिम भाग में ध्यान की महत्ता भी स्पष्ट की गई है। ध्यान के माध्यम से साधक कर्म और ज्ञान के बीच सेतु स्थापित करता है। ध्यान मनुष्य की इन्द्रियों, मन और बुद्धि को संयमित करने में सहायता करता है तथा उसे इच्छा, भय और क्रोध के प्रभाव से मुक्त होने की दिशा में ले जाता है। जब मन बाहरी विषयों की निरंतर दौड़ से मुक्त होकर भीतर की चेतना में स्थिर होने लगता है, तब आत्मज्ञान का प्रकाश अधिक स्पष्ट रूप से प्रकट होता है।

इस प्रकार कर्म-संन्यास योग कर्मयोग और ज्ञानयोग के बीच किसी विरोध को नहीं, बल्कि उनकी गहरी एकता को स्थापित करता है। कर्मयोग साधक को कर्मों के माध्यम से अंतःकरण की शुद्धि प्रदान करता है और यही शुद्धि अंततः ज्ञान के उदय का आधार बनती है। ज्ञान व्यक्ति को कर्तापन और अहंकार से मुक्त करता है, जबकि ध्यान उस ज्ञान को प्रत्यक्ष अनुभव में रूपांतरित करने का माध्यम बनता है।

यह अध्याय हमें सिखाता है कि मुक्ति संसार और कर्मों से भागने में नहीं, बल्कि कर्म करते हुए भी अहंकार, इच्छा, आसक्ति और कर्तापन के भाव से मुक्त होने में है। जब व्यक्तिगत चेतना अपने सीमित “मैं” से ऊपर उठकर स्वयं को व्यापक चेतना के साथ एकात्म अनुभव करने लगती है, तभी कर्म बंधन नहीं रहता—वह आत्मज्ञान, शांति और मुक्ति का साधन बन जाता है।

श्लोक 1:-अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥

अर्थ:-अर्जुन ने कहा: हे कृष्ण! आप कर्मों के त्याग (संन्यास) की प्रशंसा करते हैं और फिर कर्म योग (भक्तिपूर्वक कर्म करने) की भी प्रशंसा करते हैं। इन दोनों में से जो एक मेरे लिए निश्चित रूप से अधिक कल्याणकारी (श्रेष्ठ) हो, वह मुझे बताइए।

सार:-यहाँ अर्जुन रूपी प्रत्येक साधक शुरुआत में यह संशय रख सकता है की जहाँ कर्मयोग कर्म करने पर बल देता वहीं संन्यास योग कर्मों के त्याग पर बल देता है। जब कर्मों को सिर्फ शरीर के स्तर पर समझा जाएगा तब तक साधक इन दो योग साधनों के बीच भ्रमित रहेगा। वह अपनी चेतना के रूपांतरण और जागरूकता बढ़ाने के लिए किस साधन का प्रयोग करे इस बात को स्पष्ट करने के लिए अर्जुन कृष्ण रूपी गुरु (मार्गदर्शक) से यह प्रश्न करते हैं जिसे प्रतीकात्मक रूप में अर्जुन/कृष्ण संवाद के रूप में इस अध्याय की शुरुआत की है।

अभी तक अर्जुन को इस बात का द्वन्द है कि चेतना को उन्नत करने के लिए क्या सब छोड़कर संन्यास ले लूँ या संसार में रहकर कर्म करूँ? यह हर साधक की स्थिति होती है, जब वह आध्यात्मिक मार्ग पर आगे बढ़ता है। सांसारिक कर्म करने और ज्ञान के माध्यम से कर्मों के त्याग करने में उसके लिए कौन सा मार्ग (साधन) चेतना के विकास के लिए अधिक सरल और निश्चित है?"इस बात को सुनिश्चित करना चाहता है।

श्लोक 2:-

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥

अर्थ:-श्री कृष्ण ने संन्यास योग और कर्म योग (निःस्वार्थ कर्म) दोनों को कल्याणकारी बताया है, लेकिन कर्म योग को संन्यास से श्रेष्ठ माना है क्योंकि यह अधिक व्यावहारिक और सुलभ है।

सार:-कर्मयोग में "निष्काम कर्म" अर्थात् कर्मफल की इच्छा के बिना कर्म करने तथा प्रत्येक परिस्थिति में समत्व भाव बनाए रखते हुए अपने कर्तव्यों का पालन

करने पर बल दिया जाता है। कर्मयोगी कर्म करता है, लेकिन उसके परिणाम के प्रति आसक्त नहीं होता। सफलता और असफलता, लाभ और हानि, सुख और दुःख—इन सभी परिस्थितियों में वह अपने मन को समान भाव में रखने का प्रयास करता है।

वहीं “संन्यास योग” में ज्ञान की प्राप्ति के पश्चात साधक को यह बोध होता है कि वास्तविक कर्ता वह स्वयं नहीं है। वह न केवल अपने अहंकार का त्याग करता है, बल्कि इस सत्य को भी अनुभव करता है कि “मैं केवल शरीर नहीं हूँ, न ही मन हूँ; मेरा वास्तविक स्वरूप आत्मा है।” शरीर और मन के स्तर पर होने वाले सभी कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा संपन्न हो रहे हैं। आत्मा स्वयं इन कर्मों की साक्षी है।

कर्मयोग साधना में बाह्य गुण ज़्यादा जबकि संन्यास योग (ज्ञान योग) में आंतरिक गुण ज़्यादा होता है। कर्मयोग साधना में कर्ता और ईश्वर में भेद होते हुए कर्म किए जाते हैं जबकि संन्यास योग में द्रष्टा और दृश्य में अंतर नहीं रहता, साधक और ईश्वर में एकत्व रखते हुए कर्तापन का अभाव होता है अर्थात् व्यक्तिगत चेतना और सर्वव्यापक चेतना में एक ही दृष्टिकोण रखा जाता है। कर्मयोग में कर्म करते हुए (निष्काम कर्म, स्थिर बुद्धि, सम भाव, नाम जप) इत्यादि के माध्यम से योग प्राप्ति की जाती है जबकि संन्यास योग में ज्ञान में के माध्यम से योग प्राप्त किया जाता है। लेकिन कर्मयोग विधि अपनाते हुए अंत में ज्ञान उदित हो ही जाता है इसलिए ये दोनों योग एक कड़ी के रूप में जुड़े हुए हैं।

संन्यासयोग (कर्मों का त्याग, अहं का त्याग, कर्म फल की इच्छा और विषयों से आसक्ति का त्याग) इतना आसान नहीं है जितना पढ़ने में लग रहा है क्योंकि व्यक्ति को वास्तविक ज्ञान तब तक प्राप्त नहीं होता जब तक वह पूर्ण रूप से जागरूक नहीं होता और पूर्ण जागरूक होना इतना आसान नहीं है, पूर्ण जागरूक होने के लिए चेतना को शुद्ध करना जरूरी है। चेतना शुद्ध तब होती है जब द्रष्टा और दृश्य के बीच भेद समाप्त हो जाता है। आपके अंदर जो दृष्टा (Observer) है वह स्वयं दृश्य (Object) बन जाए “Experiencer Become Experience”। अर्थात् जहाँ चित्रण हो रहा है और जिसका चित्रण किया जा रहा है उनमें समय का अंतर शून्य हो जाए तथा दृष्टा एवं दृश्य के बीच किसी भी प्रकार का भेद न हो यही से पूर्ण जागरूकता की समझ शुरू होती है। ज्ञानी व्यक्ति स्वयं की चेतना को सर्वव्यापक

चेतना से अलग नहीं मानता उसे ज्ञात होता है कि सब कुछ वही परमचेतना है, न ही वह कर्ता है और न ही वह भोक्ता है जो भी घटित हो रहा है वह सर्वव्यापक चेतना द्वारा अनंत संभावनाओं के साथ घटित किया जा रहा है।

इसी सर्वव्यापक चेतना में परमचेतन मन, सार्वभौमिक ऊर्जा, समय, स्थान, तत्वों का विभिन्न रूप में इस्तेमाल कर विभिन्न-विभिन्न प्राणी समुदाय, कणों, आकाशगंगाओं, ब्रह्मांडों का निर्माण भिन्न-भिन्न स्तर पर किया है। जब व्यक्ति भौतिक ज्ञान की मान्यताओं से ऊपर उठ कर तत्व ज्ञानी बनता है और आत्म ज्ञान को प्राप्त करता है तब यही आत्मज्ञान व्यक्ति ब्रह्मा ज्ञान को प्राप्त करता है जिसे ब्रह्मा ज्ञानी कहा जाता है और यही ब्रह्मा ज्ञानी स्वयं ब्रह्मा होता है। 'ब्रह्मविद ब्रह्मैव भवति' ब्रह्मा को जानने वाला स्वयं ही ब्रह्मा हो जाता है। यह वही ज्ञान है जिसके बाद 'ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान' का भेद मिट जाता है। ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान का भेद मिटना आसान कार्य नहीं है इसके लिए कई कठिन साधना, क्रियाओं, बौद्धिक समझ, जागरूकता, गुरु मार्गदर्शन, अनुकूल परिस्थितियों की जरूरत होती है इसलिए इसकी अपेक्षा कर्मयोग के मार्ग को सरल बताया गया है।

कर्मयोग शरीर के माध्यम से ऐसा कर्म या कार्य जिससे मन की तरंग शांत हो जाए या कहे मन का शुद्धिकरण हो जाता है जिसमें निष्काम कर्म, समत्व भाव की प्रधानता होती है। प्रत्येक व्यक्ति हर पल कुछ न कुछ कर्म कर रहा है बस स्वयं को समान भाव, निस्वार्थ कर्म करने के लिए मन-बुद्धि को कर्म करते हुए सजग करने की जरूरत है।

मनुष्य स्वभावतः कर्मशील है। शरीर, मन और इन्द्रियाँ निरंतर किसी-न-किसी कर्म में लगी रहती हैं। इसलिए केवल बाहरी कर्मों का त्याग कर देना वास्तविक संन्यास नहीं है। यदि व्यक्ति कर्म छोड़ दे, लेकिन मन में इच्छा, आसक्ति, अहंकार और विषयों की कल्पना बनी रहे, तो वह वास्तविक ज्ञान या संन्यास प्राप्त नहीं कर सकता।

कर्मयोग व्यक्ति को संसार से भागने के बजाय संसार के भीतर रहते हुए अपनी चेतना को शुद्ध करने का अवसर देता है। वह अपने कर्तव्यों का पालन करते हुए **कर्मफल की इच्छा का त्याग, समत्व भाव, निःस्वार्थ सेवा और ईश्वर-अर्पण भाव** विकसित करता है। धीरे-धीरे कर्म करते-करते उसका अहंकार और आसक्ति कम होने लगती है तथा मन और बुद्धि शुद्ध होने लगते हैं।

ज्ञानयोग में सीधे यह समझ विकसित करनी होती है कि **“मैं शरीर और मन नहीं, बल्कि उनका साक्षी आत्मस्वरूप हूँ”** लेकिन जब तक मन इच्छाओं, भय, क्रोध और आसक्ति से अशांत है, तब तक इस ज्ञान को केवल बौद्धिक रूप से समझ लेना पर्याप्त नहीं होता। कर्मयोग पहले मन और अंतःकरण को शुद्ध करता है, जिससे आत्मज्ञान का अनुभव अधिक सहज हो जाता है। इसलिए कर्मयोग को ज्ञान की तैयारी भी कहा जा सकता है।

कर्मयोग और ज्ञानयोग विरोधी नहीं हैं। कर्मयोग साधक को कर्म के माध्यम से उस आंतरिक अवस्था तक पहुँचाता है जहाँ ज्ञान स्वयं प्रकाशित होने लगता है। इसीलिए कहा जा सकता है कि सामान्य साधक के लिए कर्मयोग अधिक सरल है, जबकि ज्ञानयोग उसी शुद्ध और परिपक्व चेतना की अवस्था है जिसकी ओर कर्मयोग ले जाता है। साधक के लिए कर्मयोग अधिक सरल, व्यावहारिक और सुरक्षित मार्ग बताया गया है। दोनों के अंतिम लक्ष्य आत्मज्ञान और मुक्ति ही है।

श्लोक 3:-

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।

निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥

अर्थ:-उसे सदा संन्यासी ही समझना चाहिए जो न किसी से द्वेष (घृणा) करता है और न ही किसी वस्तु की इच्छा (कामना) करता है। हे अर्जुन! सुख-दुख, सदी-गमी आदि द्वंद्वों से मुक्त रहने वाला व्यक्ति आसानी से सांसारिक बंधनों से मुक्त हो जाता है।

सार:- जब तक व्यक्ति द्वैतता (duality) और सापेक्षता (relativity) से प्रभावित रहता है—जैसे सुख-दुःख, सदी-गमी, जीत-हार, मान-अपमान—तब तक उसका मन और भावनाएँ परिस्थितियों के अनुसार अस्थिर होती रहती हैं। अस्थिर मन व्यक्ति को बाहरी संसार की वस्तुओं और परिस्थितियों के प्रति कभी आकर्षित (attachment) तो कभी विकर्षित (aversion) करता रहता है। परिणामस्वरूप व्यक्ति का मन निरंतर द्वंद्व में फँसा रहता है।

ऐसी स्थिति में व्यक्तिगत जागरूकता भी प्रकृति के तीन गुणों—सत्त्व, रजस और तमस—तथा बाहरी परिस्थितियों के प्रभाव से कभी उच्च और कभी निम्न भावों में विचलित होती रहती है। जब मन निरंतर परिवर्तनशील भावनाओं और इच्छाओं से संचालित होता है, तब

व्यक्ति के लिए अपनी शुद्ध चेतना के स्थिर और शांत स्वरूप का अनुभव करना कठिन हो जाता है।

लेकिन जिसने अपने मन पर नियंत्रण प्राप्त कर लिया है, जो न किसी व्यक्ति या परिस्थिति से द्वेष करता है और न ही किसी वस्तु की प्राप्ति के लिए भीतर से व्याकुल रहता है, उसे वास्तविक अर्थों में सदा संन्यासी समझना चाहिए। संन्यास का अर्थ केवल घर-परिवार या संसार का बाहरी त्याग नहीं है, बल्कि मन के भीतर उत्पन्न आसक्ति और द्वेष का त्याग है।

जब व्यक्ति आकर्षण और विकर्षण, इच्छा और घृणा, सुख और दुःख के द्वंद्वों से ऊपर उठने लगता है, तब उसकी चेतना अधिक स्थिर और स्वतंत्र होने लगती है। ऐसी अवस्था में व्यक्ति बाहरी परिस्थितियों का अनुभव तो करता है, लेकिन उनसे भीतर से बंधता नहीं है।

सुख-दुःख, जीत-हार और मान-अपमान में समभाव बनाए रखना ही द्वंद्वों से मुक्ति की दिशा है। यही आंतरिक संन्यास ध्यान, योग और ज्ञान का वास्तविक उद्देश्य है। इस अवस्था में व्यक्ति संसार में रहते हुए भी भीतर से शांत, स्वतंत्र और आनंदमय रहता है।

श्लोक 4:-

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।

एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्।

अर्थ:- अज्ञानी ही कर्म-योग और सांख्य-योग को अलग-अलग मानते हैं, लेकिन विद्वान् ऐसा नहीं मानते। जो व्यक्ति इन दोनों मार्गों में से किसी एक पर भी निष्ठापूर्वक चलता है, उसे दोनों के ही फल मिल जाते हैं, क्योंकि दोनों का अंतिम लक्ष्य एक ही (परमात्मा की प्राप्ति) है।

श्लोक 5:-

यत्साख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।

एकं साख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति

अर्थ:- ज्ञान योगियों (सांख्य) द्वारा जो परमधाम प्राप्त किया जाता है, कर्मयोगियों द्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है। इसलिए, जो पुरुष ज्ञान योग और कर्म योग को फल के रूप में एक ही मानता है, वही वास्तव में (यथार्थ) देखता है।

सार (श्लोक 4-5):

उपरोक्त श्लोकों में कर्मयोग और सांख्ययोग की एकता तथा दोनों के द्वारा प्राप्त होने वाले एक ही फल का वर्णन किया गया है। यद्यपि कर्मयोग और ज्ञानयोग की साधना-पद्धतियाँ प्रारम्भ में अलग-अलग दिखाई देती हैं, परंतु जब साधक इन मार्गों पर आगे बढ़ता है, तब चेतना और कर्मों की वास्तविक प्रकृति दोनों ही मार्गों से उजागर होने लगती है। अंततः दोनों योगों का परिणाम चेतना का शुद्धिकरण और रूपांतरण ही है।

सांख्ययोग व्यक्ति को बुद्धि और विवेक के स्तर पर यह ज्ञान देता है कि “मैं वास्तव में कौन हूँ?”, मेरा वास्तविक स्वरूप क्या है तथा मेरे जीवन के कर्तव्य और धर्म क्या हैं। आत्मज्ञान के माध्यम से व्यक्ति अपने कर्मों को समझने और उन्हें अधिक जागरूकता एवं विवेक के साथ करने लगता है।

वहीं कर्मयोग व्यक्ति को निष्काम भाव और समत्व के साथ कर्म करना सिखाता है। जब व्यक्ति कर्म के फल की इच्छा और उसके प्रति आसक्ति का त्याग करके अपना कर्तव्य करता है, तब उसके भीतर धीरे-धीरे वैराग्य (संन्यास) और आंतरिक स्वतंत्रता और ज्ञान उत्पन्न होता है।

सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो सांख्ययोग ज्ञान के माध्यम से कर्मों को शुद्ध और सही दिशा प्रदान करता है, जबकि कर्मयोग शुद्ध कर्म के माध्यम से मन को आसक्ति और फल की इच्छा से मुक्त करता है। इस प्रकार दोनों मार्ग एक-दूसरे के विरोधी नहीं, बल्कि एक-दूसरे के पूरक हैं।

जब साधक ज्ञान और कर्म—दोनों की वास्तविकता को समझ लेता है, तब उसका ज्ञान भी अधिक शुद्ध और कर्म भी अधिक निःस्वार्थ हो जाता है। दोनों मार्ग अंततः व्यक्ति को “साक्षी भाव” की अवस्था की ओर ले जाते हैं, जहाँ वह कर्म करते हुए भी स्वयं को कर्मों और उनके फलों से पूर्णतः बंधा हुआ नहीं मानता।

चाहे आप कर्म योग का मार्ग अपनाएँ या ज्ञान योग का मार्ग अपनाएँ एक समय पश्चात ये दोनों मार्ग एक हो जाते हैं और दोनों योग के मूलभूत तत्व आपकी चेतना में समाहित होने लगते हैं। कहने के लिये ये मार्ग अलग - अलग दिखाई पड़ते हैं लेकिन इन योग मार्ग पर आगे बढ़ने पर सभी योग आपकी चेतना में एक साथ घटित होने लगते हैं। चाहे वह कर्म योग का निष्काम कर्म, सम भाव हो या सत्य का ज्ञान हो (आत्म ज्ञान) या कुण्डलिनी

जागरण हो अंततः दोनों मार्ग आपकी व्यक्तिगत चेतना को उन्नत कर समाधि के स्तर पर ले जाते हैं एवं सर्वव्यापक चेतना में आपकी चेतना को स्थापित करते हैं।

नोट:-आगे के 2 श्लोक कर्मयोग और सांख्ययोग की एकता को बताते हुए अब किस प्रकार कर्मयोग के बिना संन्यास प्राप्त करना कठिन है और योग फल की विशेषताओं के विषय पर चर्चा करेंगे।

श्लोक 6:-

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्नुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति।

अर्थ:-महाबाहो (अर्जुन)! कर्मयोग के बिना संन्यास (निष्काम कर्म की अवस्था) प्राप्त करना कठिन है, परन्तु कर्मयोग में लगा हुआ मुनि (ध्यानमग्न व्यक्ति) शीघ्र ही ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।

श्लोक:-7

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥

अर्थ:-श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो व्यक्ति कर्मयोग के प्रति समर्पित है, शुद्ध हृदय, मन और इन्द्रियों पर नियंत्रण रखने वाला है, वह सभी प्राणियों में स्वयं को देखता है। ऐसा निस्वार्थ कर्मयोगी संसार में अनेक कार्य करते हुए भी (कर्मों के बंधन में) लिप्त नहीं होता।

सार(श्लोक 6-7):- मानसिक स्तर पर संन्यास प्राप्त करना, आत्मज्ञान प्राप्त करना और अहं का त्याग करना आसान कार्य नहीं है। कर्मों को जबरदस्ती छोड़ने (संन्यास) से मन शुद्ध नहीं होता। निष्काम कर्म (कर्मयोग) के द्वारा ही मन पवित्र होता है और सच्चा वैराग्य आता है। केवल बाहरी कर्म छोड़ देना मन और चेतना को शुद्ध नहीं करता।

यदि मन में अभी भी इच्छा, अहंकार, द्वेष है तो व्यक्ति का मन भीतर से अस्थिर रहता है और चेतना शरीर -मन के स्तर पर बँधी रहती है इसलिए यह “दुःखमाप्नुम” (दुःखदायी) कहा गया है। विशेषकर कर्मयोग चेतना को धीरे-धीरे शुद्ध करता है जब कर्म करते हुए निःस्वार्थ भाव, समभाव रखना, फल की इच्छा न करना, कर्तव्य पालन के रूप में कर्म

किया जाता है तब इससे चेतना निर्मल, शांत और साक्षी बनती है और **मन आंतरिक रूप से ज्ञान प्राप्त कर से वैराग्य प्राप्त कर लेता है**। ऐसा व्यक्ति योगयुक्त” होकर अर्थात् जिसकी चेतना संतुलित है और जिसने अपने मन को समझ चुका है वह “मुनि” रूप है। ऐसा व्यक्ति कर्म करता है, पर बंधता नहीं और भीतर से मुक्त रहता है इसलिए वह जल्दी (नचिरेण) ब्रह्म को प्राप्त करता है।

श्लोक 7 कर्मयोग- सांख्ययोग और चेतना की उच्च अवस्था को दर्शाता है, जो व्यक्ति योग से युक्त होता है (कर्मयोग या सांख्ययोग) अर्थात् अपनी चेतना को रूपांतरित कर सर्वव्यापक चेतना में स्थापित कर लेता जैसे जब मनुष्य की चेतना अहंकार से हटकर आत्मा में स्थित हो जाती है, तो उसके कर्म “मैं कर रहा हूँ” से नहीं, बल्कि “ईश्वर के माध्यम से हो रहा है” से होते हैं। यहाँ चेतना व्यक्तिगत (individual) से सर्वव्यापक (omnipresent) बन जाती है।

जब व्यक्ति विशुद्ध आत्मा होता है अर्थात् जो अपनी चेतना को मूल रूप (शुद्ध रूप) में स्थापित कर लेता है, शुद्ध चेतना के स्तर पर कर्म करता है अर्थात् आत्मा को जीतने वाला होता है, जिस व्यक्ति का इन्द्रियों पर नियंत्रण होता है और विषयों से इन्द्रियाँ विचलित नहीं होती ऐसा व्यक्ति सभी प्राणियों की चेतना में स्वयं की चेतना को देखता है, यही “एकत्व की चेतना” (Unity Consciousness) है

जहाँ “मैं और तुम” का अंतर मिट जाता है।

जिसके लिए कर्म सिर्फ कर्तव्य रूप होते हैं उन्हें वह निःस्वार्थ रूप से करता है और किसी भी कर्मों में लिप्त नहीं होता ऐसा व्यक्ति कर्म तो करता है हैं, पर कर्तापन (doership) का अहं नहीं रखता। जब चेतना शुद्ध, नियंत्रित और एकत्व में स्थित हो जाती है,

तो व्यक्ति कर्म करते हुए भी कर्म से मुक्त रहता है।

यही कर्मयोग की सर्वोच्च अवस्था है।

श्लोक 8-9:

नैव किञ्चित्क्रोमीति युक्तो मन्येत् तत्त्ववित् ।
पश्यञ्चशृण्वन्स्पृश्रिञ्जघ्नन्श्रनागच्छन्स्वपञ्चश्वसं
प्रलपण्विवसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्पि ।
इन्द्रियाणिन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥

अर्थ:-तत्त्व को जानने वाला योगयुक्त योगी देखने, सुनने, छूने, सूँघने, चलने, सोने, सांस लेने, बोलने, मल त्यागने, पकड़ने और आँखें खोलने या बंद करने जैसी क्रियाओं में लगे रहते हुए भी, सदा यह सोचते हैं, “मैं कर्ता नहीं हूँ” दिव्य ज्ञान के प्रकाश से वे देखते हैं कि केवल भौतिक इन्द्रियाँ ही उनके विषयों के बीच गतिमान हैं।

सार(श्लोक 8-9) :-यह श्लोक सांख्ययोग और तत्त्वज्ञान की एक महत्वपूर्ण अवस्था को स्पष्ट करता है। जब योगी को तत्त्वज्ञान प्राप्त होता है, तब वह समझने लगता है कि उसकी वास्तविक आत्मा कर्मों की कर्ता नहीं, बल्कि उन सभी कर्मों की **साक्षी** है। शरीर, मन और इन्द्रियाँ प्रकृति के गुणों के प्रभाव से अपने-अपने कार्यों में निरंतर लगी रहती हैं, जबकि शुद्ध चेतना इन सभी गतिविधियों को देखने वाली साक्षी बनी रहती है।

यही चेतना का वास्तविक परिवर्तन है, जहाँ व्यक्ति स्वयं को केवल **कर्ता** मानने की अवस्था से ऊपर उठकर **साक्षी भाव** में स्थापित होने लगता है। तत्त्वज्ञानी की चेतना स्पष्ट रूप से देखती है कि इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों में गतिशील हैं। वह शरीर को कार्य करते हुए देखता है, मन को विचार करते हुए देखता है और इन्द्रियों को संसार का अनुभव करते हुए देखता है।

इस अवस्था में व्यक्ति यह समझने लगता है कि “**देखना आँखों का कार्य है, सुनना कानों का, चलना शरीर का और विचार करना मन का; इन सभी क्रियाओं का साक्षी मेरा वास्तविक चेतन स्वरूप है।**” इसलिए कर्म होते हुए भी उसके भीतर कर्तापन का अहंकार धीरे-धीरे समाप्त होने लगता है।

शुद्ध चेतना इन सभी अनुभवों और क्रियाओं से स्वयं अस्पर्शित (untouched) रहती है। इसे आकाश के उदाहरण से समझा जा सकता है—जिस प्रकार आकाश में बादल आते-जाते रहते हैं, वर्षा होती है और अनेक परिवर्तन दिखाई देते हैं, फिर भी आकाश स्वयं उन

परिवर्तनों से प्रभावित नहीं होता; उसी प्रकार शरीर, मन और इन्द्रियों में निरंतर परिवर्तन होते रहते हैं, लेकिन शुद्ध चेतना अपने मूल स्वरूप में साक्षी और अप्रभावित रहती है।

यही तत्त्वज्ञान व्यक्ति को कर्मों से भागना नहीं, बल्कि कर्म करते हुए भी कर्तापन और आसक्ति से मुक्त होना सिखाता है। जब व्यक्ति यह अनुभव करने लगता है कि प्रकृति अपने गुणों के अनुसार कार्य कर रही है और वह उन सभी गतिविधियों का सजग साक्षी है, तब उसके भीतर स्वतंत्रता, शांति और मुक्ति की अवस्था विकसित होने लगती है।

नोट:-इस प्रकार श्लोक 8-9 सांख्ययोग (ज्ञान योग) की विशेषताओं को बतला कर अब आगे के 2 श्लोक कर्मयोगी की विशेषताओं का वर्णन करते हैं।

श्लोक 10-11:-

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।

लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।

योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥

अर्थ:-जो पुरुष सभी कर्मों को परमात्मा (ईश्वर) में अर्पण करके, आसक्ति (attachment) त्यागकर कर्म करता है, वह पाप से वैसे ही लिप्त नहीं होता, जैसे कमल का पत्ता जल से अलिप्त रहता है। योगी जन आसक्ति को त्यागकर केवल शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियों के द्वारा भी आत्मशुद्धि के लिए कर्म करते हैं।

सार:-इन श्लोकों में कर्मयोग की उस उच्च अवस्था का वर्णन किया गया है, जहाँ व्यक्ति कर्मों का त्याग नहीं करता, बल्कि कर्मों के प्रति अपनी आसक्ति और कर्तापन के भाव का त्याग करता है। जब साधक अपने सभी कर्मों को परमात्मा अथवा सर्वव्यापक चेतना को अर्पित करके करता है, तब कर्म उसके लिए व्यक्तिगत इच्छा, अहंकार और स्वार्थ की पूर्ति का साधन नहीं रहते।

ऐसा व्यक्ति कर्म तो करता है, लेकिन उसके भीतर यह भाव नहीं रहता कि “मैं ही सब कुछ कर रहा हूँ और मुझे ही इसके फल प्राप्त होने चाहिए।” वह स्वयं को कर्मों का अंतिम

स्वामी मानने के बजाय प्रकृति और चेतना की व्यापक व्यवस्था का एक माध्यम समझने लगता है। यही भाव कर्म में आसक्ति को कम करता है।

श्लोक में कमल के पत्ते का उदाहरण अत्यंत सुंदर है। जिस प्रकार कमल का पत्ता जल में रहते हुए भी जल से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार योगी संसार और कर्मों के बीच रहते हुए भी उनसे भीतर से बंधता नहीं है। संसार उसके चारों ओर होता है, कर्म उसके द्वारा होते हैं, लेकिन उसकी चेतना कर्मफल, अहंकार और आसक्ति से मुक्त रहने का प्रयास करती है।

दूसरे श्लोक में कहा गया है कि योगी शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियों के माध्यम से कर्म करता है, लेकिन उसका उद्देश्य केवल व्यक्तिगत लाभ या इच्छाओं की पूर्ति नहीं होता। वह कर्म को आत्मशुद्धि और अंतःकरण की शुद्धि का माध्यम बना लेता है।

जब व्यक्ति बिना आसक्ति के, समत्व भाव से और व्यापक कल्याण की भावना के साथ कर्म करता है, तब कर्म धीरे-धीरे उसके मन को शुद्ध करने लगते हैं। **स्वार्थपूर्ण कर्म मन में अहंकार और बंधन को बढ़ा सकते हैं, जबकि निःस्वार्थ कर्म अहंकार को कम करके चेतना को अधिक निर्मल और स्वतंत्र बनाने में सहायक होते हैं।**

इस प्रकार कर्मयोग का रहस्य कर्म छोड़ने में नहीं, बल्कि कर्म करते हुए भी उसके फल, आसक्ति और “मैं कर्ता हूँ” के अहंकार से मुक्त होने में है। जब कर्म ईश्वर अथवा सर्वव्यापक चेतना को समर्पित हो जाता है, तब व्यक्ति संसार में सक्रिय रहते हुए भी भीतर से कमल के पत्ते की भाँति अलिप्त, शांत और स्वतंत्र रहने की दिशा में आगे बढ़ता है।

श्लोक 12:-

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।

अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥

अर्थ:-निष्काम कर्मयोगी अपने कर्मों का फल ईश्वर को अर्पित कर देते हैं। वे परम शांति (ईश्वर की प्राप्ति) प्राप्त करते हैं। जो लोग स्वार्थ और इच्छाओं से प्रेरित होकर (अयुक्त) कार्य करते हैं वे अपने कर्मों के फल में आसक्त होकर बंधन में बँध जाते हैं (जन्म-मरण के चक्र में)

सार:-जो व्यक्ति योगयुक्त अर्थात् संतुलित, जाग्रत और विवेकपूर्ण चेतना वाला है, वह कर्म करते हुए भी उसके फल के प्रति आसक्त नहीं होता। वह अपने कर्मों और उनके परिणामों को ईश्वर अथवा सर्वव्यापक चेतना को समर्पित कर देता है। ऐसी निष्काम कर्म की अवस्था व्यक्ति को मानसिक बंधनों से मुक्त करके स्थायी शांति की ओर ले जाती है।

जब योगयुक्त व्यक्ति जीवन में घटित होने वाली विभिन्न परिस्थितियों और संभावनाओं के पीछे किसी व्यापक चेतना अथवा दिव्य व्यवस्था को अनुभव करने लगता है, तब वह समझता है कि मनुष्य के पास कर्म करने और संभावनाओं में चुनाव करने की स्वतंत्रता तो है, किंतु प्रत्येक परिणाम पूर्णतः उसके नियंत्रण में नहीं है। यह समझ उसकी चेतना को अहंकार और फल की अपेक्षा से मुक्त करती है। तब वह अपने कर्मों को **“मैं कर रहा हूँ और मुझे इसका फल मिलना चाहिए”** की भावना से नहीं, बल्कि समर्पण और साक्षीभाव से करने लगता है।

इसके विपरीत, जिसकी चेतना इच्छाओं, कामनाओं और अपेक्षाओं में उलझी हुई है, वह प्रत्येक कर्म में यह सोचता है—**“मुझे इससे क्या मिलेगा?”** यही कर्मफल के साथ अहंकार का जुड़ाव व्यक्ति के भीतर चिंता, भय, क्रोध, निराशा और मानसिक विचलन उत्पन्न करता है। जब अपेक्षित परिणाम प्राप्त नहीं होता, तो दुःख उत्पन्न होता है; और जब परिणाम प्राप्त हो जाता है, तो उसे बनाए रखने की नई चिंता जन्म लेती है। इस प्रकार व्यक्ति कर्म और उसके फल के निरंतर बंधन में उलझा रहता है।

कर्मयोग का मूल सिद्धांत यही है कि चेतना को कर्म से नहीं, बल्कि कर्मफल की आसक्ति से मुक्त किया जाए। शरीर और मन प्रकृति के अनुसार कर्म करते रहते हैं, पर जाग्रत चेतना समभाव में स्थित रहकर कर्म की साक्षी बन सकती है। इसलिए कर्मयोग में कर्म का त्याग नहीं, बल्कि **अहंकार, आसक्ति और फल की अपेक्षा का त्याग** किया जाता है। यही निष्काम कर्म व्यक्ति को आंतरिक स्वतंत्रता, शांति और अंततः ईश्वर अथवा सर्वव्यापक चेतना के अनुभव की ओर ले जाता है।

श्लोक 13:-

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ।

अर्थ:-जो व्यक्ति आत्मसंयमी है, वह मन से सभी कर्मों का त्याग कर नौ द्वारों वाले शरीर-नगर में सुखपूर्वक रहता है। ऐसा व्यक्ति न तो स्वयं कोई कर्म करता है और न ही दूसरों से करवाता है, क्योंकि वह खुद को शरीर से भिन्न समझता है।

सार:-यह श्लोक ज्ञान योग (संन्यास योग) के अंतर्गत मन से सभी कर्मों में त्याग का भाव रखता है, यह ज्ञान योग का विषय है, जहाँ मनुष्य कर्म करते हुए भी अनासक्त (Detached) रहता है। यह श्लोक बताता है कि हमारी असली चेतना (आत्मा) कर्म करने वाली नहीं है, बल्कि देखने वाली (साक्षी) है। व्यक्ति का शरीर कार्य करता है

, इन्द्रियाँ अनुभव करती हैं और मन सोचता है लेकिन चेतना सिर्फ देखती है — वह “कर्ता” नहीं है। यहाँ संन्यास का मतलब काम छोड़ना नहीं है, बल्कि “मैं कर रहा हूँ” यह अहंकार छोड़ना, फल की इच्छा छोड़ना और आसक्ति छोड़ना। चेतना जब शुद्ध होती है, तब वह जानती है कि

सब प्रकृति (प्रकृति के गुण) कर रहे हैं, मैं नहीं।

शरीर को यहाँ “नौ द्वारों का नगर” कहा गया है। ये नौ द्वार हैं—दो आँखें, दो कान, दो नासिका छिद्र, एक मुख तथा शरीर के दो अन्य द्वार। आत्मा इस शरीर-नगर में निवास करती हुई प्रतीत होती है, लेकिन वास्तव में वह शरीर की गतिविधियों से बंधी हुई नहीं है। अज्ञान की अवस्था में व्यक्ति शरीर और मन को ही अपना वास्तविक स्वरूप मान लेता है और कहता है—“मैं करता हूँ, मैं भोगता हूँ।” लेकिन जाग्रत चेतना की अवस्था में वह देखता है कि शरीर कर्म कर रहा है, मन विचार कर रहा है और इन्द्रियाँ अनुभव कर रही हैं।

यही वास्तविक संन्यास है—कर्म का नहीं, कर्तापन के अहंकार का त्याग। फल का नहीं, बल्कि फल के प्रति आसक्ति का त्याग। संसार का नहीं, बल्कि मानसिक बंधन का त्याग।

जब चेतना जाग्रत होती है, तब इन्द्रियाँ संयमित होने लगती हैं, मन अपेक्षाकृत शांत होता है और व्यक्ति बाहरी परिस्थितियों के उतार-चढ़ाव से भीतर तक विचलित नहीं होता। ऐसी

अवस्था में व्यक्ति बाहरी सुखों पर पूर्णतः निर्भर रहने के स्थान पर अपने भीतर स्थित शांति और आनंद का अनुभव करने लगता है

श्लोक 14:-

न कर्तव्यं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।

न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥

अर्थ:- न तो कर्तापन का बोध और न ही कर्मों का स्वरूप ईश्वर से आता है; न ही वह कर्मों के फल उत्पन्न करता है। यह सब भौतिक प्रकृति के गुणों द्वारा ही होता है।

सार:-ईश्वर या प्रभु यहाँ सर्वव्यापक चेतना को इंगित करता है जो परम चेतन मन के रूप में सर्वोच्च प्रज्ञा (supreme intelligence) और इसके विभिन्न नियम -विनियम (rule-regulation) का स्रोत है जिसमें ऊर्जा ने पदार्थ का निर्माण किया और विभिन्न बलों ने क्रिया -प्रतिक्रिया कर प्रकृति का निर्माण किया जिसमें जड़-चेतन तत्वों का निर्माण, विकास, संहार(रूपांतरण) सम्मिलित है। चेतन प्राणी में मन, बुद्धि, जागरूकता का स्रोत भी यही चेतना है लेकिन व्यक्ति जब मन, बुद्धि, जागरूकता को सीमित करता है तो यह अहं (Ego) को जन्म देता है और इसी शरीर के साथ अहं व्यक्ति को स्वयं कर्ता के रूप में प्रदर्शित करता है। जबकि सभी गतिविधियों के पीछे सर्वव्यापक चेतना ही स्रोत रूप है और चेतन प्राणी सिर्फ प्रकृति द्वारा प्रदत्त संभावनाओं में क्रिया-प्रतिक्रिया कर रहा है और यही से चेतन प्राणी क्रिया-प्रतिक्रिया नियम अनुरूप कर्म करता है और कारण -प्रभाव (cause-effect) के अनुरूप फल प्राप्त करता है।

लेकिन शुद्ध चेतना इस क्रिया-प्रतिक्रिया और कारण-प्रभाव से मुक्त होती है। इसलिए इस श्लोक में कहा गया है कि ईश्वर (प्रभु) न तो कर्तापन का बोध और न ही कर्मों में इच्छा, आसक्ति और न ही वह कर्मों के फल उत्पन्न करता है। यह चेतन प्राणी का मन का खेल है जो प्रकृति के नियमों अनुरूप कर्म करता है और कर्म-कर्मफल में आसक्ति रखने लगता है।

मनुष्य जिस भौतिक वातावरण और परिस्थितियों में विकसित हुआ है, उसी के अनुसार उसकी शारीरिक संरचना, आवश्यकताएँ, कर्म और जीवन-शैली निर्मित हुई हैं। उदाहरण के लिए, यदि मनुष्य का विकास जल के भीतर हुआ होता, तो संभव है कि उसका शरीर, इन्द्रियाँ और जीवन जीने की व्यवस्था आज से बिल्कुल भिन्न होती। शायद वह भूमि पर

घर और गृहस्थी का निर्माण करने के बजाय समुद्री वातावरण में भोजन, आश्रय और जीवन की संभावनाएँ तलाशता। उसकी आवश्यकताएँ और इच्छाएँ भी संभवतः वर्तमान मानव जीवन से अलग होतीं।

इसी प्रकार, यदि इस विशाल ब्रह्मांड में पृथ्वी के स्थान पर मनुष्य का विकास किसी अन्य आकाशीय पिंड की भिन्न परिस्थितियों में हुआ होता, तो उसकी शारीरिक संरचना और जीवन की प्रकृति भी वहाँ के वातावरण के अनुरूप विकसित होती। इससे यह समझा जा सकता है कि जीवन का वर्तमान स्वरूप ही एकमात्र संभावना नहीं है, बल्कि अस्तित्व में विकास और अभिव्यक्ति की अनंत संभावनाएँ विद्यमान हो सकती हैं।

इस दृष्टि से सर्वव्यापक चेतना को अनंत संभावनाओं के स्रोत के रूप में समझा जा सकता है। वह केवल किसी एक रूप, शरीर, ऊर्जा या जीवन-पद्धति तक सीमित नहीं है। उसमें अनंत रूपों, अनंत ऊर्जा-अभिव्यक्तियों और अनंत जीवन-संभावनाओं की क्षमता निहित है। लेकिन जब चेतना किसी विशेष भौतिक प्रकृति, शरीर और वातावरण के माध्यम से स्वयं को अभिव्यक्त करती है, तब उसकी अभिव्यक्ति उस प्रकृति की सीमाओं और संभावनाओं के अनुसार दिखाई देती है।

अर्थात् सर्वव्यापक चेतना अनंत संभावनाओं का स्रोत है, जबकि व्यक्तिगत चेतना अपनी भौतिक प्रकृति, शरीर, वातावरण और सीमित अनुभवों के माध्यम से उन संभावनाओं के एक छोटे से भाग को अनुभव करती है। मनुष्य का वर्तमान जीवन, उसके कर्म, उसकी आवश्यकताएँ और उसकी जीवन-व्यवस्था भी पृथ्वी की परिस्थितियों के अनुरूप विकसित हुई अभिव्यक्तियाँ हैं।

इसीलिए योग का उद्देश्य केवल शरीर या मन को नियंत्रित करना नहीं, बल्कि व्यक्तिगत चेतना की सीमित पहचान से ऊपर उठना भी है। जब व्यक्ति योग, ध्यान और आत्मज्ञान के माध्यम से अपनी चेतना का विस्तार करता है, तो वह स्वयं को केवल शरीर, परिस्थितियों और सीमित इच्छाओं तक सीमित नहीं देखता। वह व्यापक अस्तित्व और अनंत संभावनाओं के प्रति अधिक सजग होने लगता है।

श्लोक 15:-

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥

अर्थ:-ईश्वर किसी के पाप या पुण्य को ग्रहण नहीं करते। अज्ञान के कारण ज्ञान ढका हुआ है, जिससे सभी जीव भ्रमित हैं।

सार:- शुद्ध अथवा सर्वव्यापक चेतना को एक ऐसी अद्वैत अवस्था के रूप में समझा जा सकता है, जो किसी भी प्रकार के भेद—मैं और तुम, अच्छा और बुरा, सुख और दुःख, पाप और पुण्य—से परे है। वह स्वयं में एकात्मक, पूर्ण और साक्षीस्वरूप है। उसमें किसी वस्तु, व्यक्ति या घटना के प्रति व्यक्तिगत आग्रह या विरोध नहीं होता।

लेकिन जब यही चेतना प्रकृति, शरीर, मन और इन्द्रियों के माध्यम से अभिव्यक्त होती है, तब अनुभवों का संसार उत्पन्न होता है। प्रकृति में सत्त्व, रजस और तमस जैसे गुण तथा सुख-दुःख, आकर्षण-विकर्षण और जन्म-मृत्यु जैसे द्वंद्व दिखाई देते हैं। चेतन प्राणी जब स्वयं को शरीर और मन के साथ पहचानने लगता है, तब उसमें “मैं” और “दूसरा” का भाव उत्पन्न होता है। यहीं से व्यक्तिगत चेतना का सीमित अनुभव आरंभ होता है।

व्यक्तिगत चेतना शुद्ध चेतना का कोई वास्तविक विभाजन नहीं, बल्कि शरीर, मन, संस्कार और अनुभवों के माध्यम से प्रकट होने वाली सीमित पहचान है। व्यक्ति चेतना को अपने शरीर और मन से संबंधित करके अनुभव करता है और स्वयं को दूसरों से अलग मानने लगता है। यही अलगाव का अनुभव अहंकार और कर्तापन की भावना को जन्म देता है।

व्यक्तिगत चेतना के स्तर पर मनुष्य अपने समाज, संस्कार, धर्म, संस्कृति, स्थान और व्यक्तिगत अनुभवों के आधार पर कर्मों को अच्छा-बुरा, सही-गलत तथा पाप-पुण्य के रूप में विभाजित करता है। इसलिए नैतिकता की कुछ सामाजिक अभिव्यक्तियाँ समय और स्थान के अनुसार बदल सकती हैं।

गीता के दार्शनिक सिद्धांत के अनुसार शरीर, इन्द्रियाँ और मन प्रकृति के गुणों के अनुसार कार्य करते हैं। जब व्यक्ति स्वयं को इन कर्मों का पूर्ण स्वतंत्र कर्ता मान लेता है, तब वह कर्मफल, अहंकार और आसक्ति के बंधन में पड़ जाता है।

शुद्ध चेतना इन सभी कर्मों की साक्षी है। वह प्रकृति की संभावनाओं और क्रियाओं से प्रभावित हुए बिना उनका अनुभव होने का आधार बनती है। इसीलिए कहा गया है कि परम चेतना किसी व्यक्ति के कर्मों को व्यक्तिगत रूप से अपने ऊपर ग्रहण नहीं करती। अज्ञान के कारण व्यक्ति अपने वास्तविक स्वरूप को भूलकर स्वयं को केवल शरीर और मन मान लेता है और उसी भ्रम के कारण बंधन अनुभव करता है।

यहाँ एक महत्वपूर्ण बात समझना आवश्यक है कि कृष्ण रूपी गुरु का संदेश **“क्या सही है और क्या गलत, इसकी चिंता मत करो और कुछ भी कर्म कर लो”** नहीं है। बल्कि कृष्ण अर्जुन को यह समझा रहे हैं कि केवल व्यक्तिगत अहंकार, भय, मोह और आसक्ति के आधार पर कर्म का निर्णय मत करो। धर्म को समझने के लिए अपनी सीमित व्यक्तिगत दृष्टि से ऊपर उठो और ज्ञान, विवेक तथा व्यापक चेतना के प्रकाश में कर्म करो।

अर्जुन का वास्तविक युद्ध केवल बाहरी युद्ध नहीं, बल्कि उसके भीतर चल रहा युद्ध भी है। भीष्म, कौरव और युद्धभूमि को प्रतीकात्मक रूप में व्यक्ति की चेतना के भीतर उपस्थित विभिन्न संस्कारों, अहंकार, मोह और मानसिक बंधनों के रूप में भी देखा जा सकता है। जब कृष्ण अर्जुन को युद्ध करने के लिए प्रेरित करते हैं, तो उसका गहरा अर्थ यह भी है कि व्यक्ति को अपने भीतर उपस्थित अज्ञान और अहंकार का सामना करना चाहिए।

ज्ञान की तलवार से अज्ञान का नाश करना ही वास्तविक आंतरिक युद्ध है। इस प्रकार व्यक्ति को कर्म का त्याग नहीं करना है, बल्कि अहंकारयुक्त कर्तापन का त्याग करना है। कर्म करना है, लेकिन स्वयं को कर्मफल का स्वामी नहीं मानना है। निर्णय लेना है, लेकिन केवल व्यक्तिगत स्वार्थ, भय और मोह के आधार पर नहीं।

श्लोक 16:-

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्

अर्थ:- किन्तु जिनका वह अज्ञान आत्मज्ञान (स्वयं के ज्ञान) द्वारा नष्ट कर दिया गया है, उनका ज्ञान सूर्य की तरह सब कुछ प्रकाशित कर देता है और उन्हें परम सत्य (परमात्मा) का बोध कराता है।

सार:- सर्वप्रथम अज्ञान को जानना चाहिए कि अज्ञान क्या है। जब तक व्यक्ति यह नहीं जान लेता कि वह न शरीर है, न मन है, न बुद्धि, न कोई रूप-रंग और न ही सामने दिखने वाला संसार भी सत्य नहीं है। तब तक व्यक्ति का आत्मज्ञान वास्तविक ज्ञान द्वारा प्रकट नहीं होता तब तक वह अज्ञानी है। पूर्व में जैसा बताया गया की वास्तविक ज्ञान या सत्य तब प्रकट होता है जब व्यक्ति शरीर, मन के स्तर से ऊपर उठकर मात्र साक्षी भाव से सभी को देखता है एवं स्वयं की चेतना को सर्वव्यापक चेतना के रूप में समझ पाता है और स्वयं को सभी से एक होने की भावना को पहचानता है। इस एकता की भावना से व्यक्ति की चेतना सर्वव्यापक चेतना के हिस्से के रूप में स्वयं को जान पाती है। ज्ञानी व्यक्ति स्वयं की चेतना को सर्वव्यापक चेतना से अलग नहीं मानता उसे ज्ञात होता है कि सब कुछ वही परमचेतना है, न ही वह कर्ता है और न ही वह भोक्ता है जो भी घटित हो रहा है वह प्रकृति द्वारा घटित किया जा रहा है।

इसी सर्वव्यापक चेतना में परमचेतन मन, सार्वभौमिक ऊर्जा, समय, स्थान, तत्वों का विभिन्न रूप में इस्तेमाल कर विभिन्न-विभिन्न प्राणी समुदाय, कणों, आकाशगंगाओं, ब्रह्मांडों, प्रकृति का निर्माण भिन्न-भिन्न स्तर पर किया है जिसमें चेतना प्राणी शरीर-मन के स्तर पर कर्म करते हुए मोहित है।

वास्तविक ज्ञान तब प्रकट होता है जब व्यक्ति भौतिक ज्ञान की मान्यताओं से ऊपर उठ कर तत्व ज्ञानी बनता है और आत्म ज्ञान को प्राप्त करता है। यही “आत्मज्ञान” व्यक्ति ब्रह्मा ज्ञान को प्राप्त करता है जिसे ब्रह्मा ज्ञानी कहा जाता है और यही ब्रह्मा ज्ञानी स्वयं ब्रह्मा होता है। 'ब्रह्मविद ब्रह्मैव भवति' ब्रह्मा को जानने वाला स्वयं ही ब्रह्मा हो जाता है। यह वही ज्ञान है जिसके बाद 'ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान' का भेद मिट जाता है। यही ज्ञान अज्ञान को नष्ट कर परमात्मा (शुद्ध चेतना) का बोध कराता है।

श्लोक 17:-

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥

अर्थ:-जिनकी बुद्धि, मन, निष्ठा और गति (आश्रय) सब कुछ परमात्मा में ही स्थिर है, वे ज्ञान द्वारा पाप-रहित होकर, उस परम गति (मोक्ष) को प्राप्त होते हैं, जहाँ से फिर कभी लौटकर नहीं आना पड़ता।

सार:-व्यक्ति का मन, बुद्धि व्यक्ति और सर्वव्यापक चेतना के बीच एक प्रकार से कड़ी के रूप में भी है और अवरोध के रूप में भी है। जब चेतन प्राणी का मन, बुद्धि, शरीर के स्तर पर ही संलग्न रहकर कार्यरत रहती है तब तक वह सर्वव्यापक चेतना (शुद्ध चेतना) के अस्तित्व को नहीं समझ सकता क्योंकि मन, बुद्धि शरीर को किसी न किसी विचार, कार्य में व्यक्ति की चेतना को व्यस्त रखते हैं और सामने आने वाले दृश्य, कार्य को ही सत्य मान लेने की प्रवृत्ति जीव (प्राणी) के अंदर विकसित कर देता है जिससे त्रिआयामी दुनिया के परे अन्य आयाम उपस्थित है इसका आभास जीव प्राणी को कभी नहीं हो पाता।

लेकिन जैसे ही व्यक्ति अपने मन की परतों को खोलना शुरू करता है और जब मन अहं का त्याग कर, चित्त वृत्ति निरोध (जमा हुई इच्छाएँ, भावनाएँ, सूचनाएँ, विचार का मानसिक स्तर पर निरोध), बुद्धि का त्याग एवं जागरूकता बढ़ा कर मन को उच्च स्व (आत्मा) के स्तर पर लाने में सक्षम होता है तब मन स्वयं सर्वव्यापक चेतना में विलीन हो जाता है। मन का कोई अस्तित्व नहीं रहता। अब दृष्टा (आत्मा) एवं दृश्य (सर्वव्यापक चेतना) एक हो जाती है या कहे इन दोनों के बीच किसी भी प्रकार का अंतर नहीं होता।

इस प्रकार जब व्यक्ति बुद्धि, मन, निष्ठा और गति (आश्रय) सब कुछ परमात्मा (सर्वव्यापक चेतना) में ही स्थिर हो जाती है तो वह पाप रहित होकर **मोक्ष** को प्राप्त होता है।

मोक्ष का अर्थ केवल जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति नहीं है बल्कि मोक्ष वह अवस्था है जो तुम्हें सीमित चेतना (finite consciousness) से असीम चेतना (infinite consciousness) की ओर ले जाती है। जिस सीमित शरीर के कारण तुम्हारी चेतना या आत्मा बंधी हुई है, उसे असीम चेतना में विलीन कर देना ही मोक्ष है।

इस शरीर में रोग, दुख, अभाव, बुढ़ापा और मृत्यु जैसे तत्व मौजूद होते हैं इसलिए इन सब से मुक्त होकर पूर्ण स्वतंत्रता और परम आनंद (जहाँ सुख-दुख की उत्तेजनाएँ समाप्त हो जाती हैं) प्राप्त करना ही मोक्ष है। शरीर परिवर्तनशील है, नश्वर है। इसे आत्मा के शाश्वत स्वरूप के रूप में अनंत चेतना के साथ एकाकार कर देना ही सच्चा मोक्ष है। यह एक ऐसी अवस्था है जहाँ से चेतना शुद्ध होकर पुनः वापस प्रकृति/माया में वापस सीमित चेतना के रूप में नहीं लौटती।

श्लोक 18:-

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।

शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

अर्थ:-सच्चे ज्ञान से संपन्न विद्वान (पंडित) एक विनम्र और विद्यावान ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता और चांडाल में एक ही परमात्मा को समान दृष्टि से देखते हैं।

सार:-चेतना सभी प्राणियों, पिण्डों, पेड़ पौधों में उपस्थित है, यही चेतना प्रत्येक अणु, प्रत्येक कोशिकाएँ, प्रत्येक ग्रह, प्रत्येक तारों, प्रत्येक आकाशगंगा, प्रत्येक ब्रह्मांडों में भी विद्यमान है।

जैसा पूर्व में बताया गया था कि चेतना ऊर्जा का भी स्रोत है। जहाँ-जहाँ ब्रह्मांड अस्तित्व में है वहाँ-वहाँ ऊर्जा ने रचना में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। हमारे ब्रह्मांड में भी ऊर्जा द्वारा पंचमहाभूत (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश) का निर्माण किया गया है। ऊर्जा कंपन के रूप में स्थित है, यह कंपन विभिन्न आवृत्तियों (Different Frequency) में हो रहा है जिससे विभिन्न गुणों एवं विशेषताओं, आकार से युक्त विभिन्न ब्रह्मांड, आकाशगंगाएँ, तारों, ग्रहों, प्राणियों इत्यादि का निर्माण होता है। विभिन्न ऊर्जा स्तर, कंपन आवृत्ति ने विभिन्न प्राणियों का निर्माण किया है जिसमें मनुष्य, गाय, हाथी, कुत्ता का भी निर्माण किया है।

जो तत्व ज्ञानी व्यक्ति होते हैं वे जानते हैं विभिन्न रूपों के जीव प्राणी में विभिन्न रूप से चेतना (consciousness), ऊर्जा (Energy), कंपन आवृत्ति (vibrational frequency) के तत्व उपस्थित हैं, इन्हीं के समायोजन से कुछ समय अवधि के लिए सभी जीव प्राणियों का निर्माण हुआ है। इसी प्रकार व्यक्ति में भाव, व्यवहार का निर्माण भी उपरोक्त तत्व के

आधार पर हुआ है। प्रत्येक विचार, भावनाएँ, कार्य किसी न किसी ऊर्जा स्तर या कंपन आवृत्ति (Vibrational Frequency) के स्तर पर घटित होते हैं। यह ऊर्जा स्तर व्यक्ति के क्रियाकलाप, मानसिक विचार प्राप्त सूचनाओं के आधार पर निरंतर परिवर्तनशील रहता है जो कि व्यक्ति के भावनाओं, विचारों एवं कर्मों का निर्धारण करता है।

अगर व्यक्ति के विचार उच्च है तो वह विनम्र और प्रबोधन के गुण को प्राप्त होगा जिसे ब्राह्मण की संज्ञा दी गई है वही इसके विपरीत जिसकी भावना, विचार एवं कर्म निम्न है उसे चंडाल की संज्ञा दी गई है।

ज्ञानी महापुरुष ब्राह्मण या चंडाल को नहीं, बल्कि सभी जीवों के भीतर स्थित एक ही परमात्मा (सर्वव्यापक चेतना) को देखते हैं। ज्ञानी व्यक्ति जानता है कि शुद्ध चेतना का स्वरूप सभी में एक समान है, भले ही शरीर भिन्न-भिन्न हो। ज्ञानी महापुरुषों का दृष्टिकोण समत्व का होता है, क्योंकि वे परमात्मा (सर्वव्यापक चेतना) को सभी प्राणियों में समान रूप से देखते हैं।

श्लोक 19:-

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥

अर्थ:- जिनके मन में समता (समानता) स्थापित हो गई है, उन्होंने जीवित रहते हुए ही जन्म-मृत्यु रूपी संसार को जीत लिया है। क्योंकि ब्रह्म (परमात्मा) निर्दोष और समान है, इसलिए वे पहले से ही ब्रह्म में स्थित हैं।

श्लोक 20:-

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थिताः॥

अर्थ:- जो व्यक्ति प्रिय वस्तु (सुख) पाकर हर्षित नहीं होता और अप्रिय (दुःख) पाकर उद्विग्न/विचलित नहीं होता, वह स्थिर बुद्धि, मोह-रहित और ब्रह्मवेत्ता (ज्ञानी) पुरुष परब्रह्म परमात्मा में ही स्थित है। यह समता और वैराग्य का प्रतीक है।

सार (श्लोक 19-20):-यहाँ ब्राह्मी स्थित में स्थित व्यक्ति के गुणों का वर्णन किया गया है जिसने अपनी जागरूकता को पूर्ण जागरूकता में परिवर्तित कर लिया और स्वयं की चेतना को शुद्ध कर लिया है ऐसा ब्रह्मा ज्ञानी व्यक्ति मन में समानता, सभी प्राणी में समत्व भाव, सभी क्रिया में समदर्शी होता है। ऐसा व्यक्ति जन्म-मृत्यु रूपी संसार में जीवित होते हुए मोक्ष प्राप्त कर लेता है जहाँ वह शरीर-मन के ऊपर उठकर चेतना के स्तर पर शुद्ध, समान, स्थिर, समत्व होकर स्वयं की चेतना को रूपांतरित करता है।

यही गुण परमात्मा (शुद्ध चेतना) के है जो निर्दोष और सभी के लिए समान है। इसलिए ऐसा व्यक्ति पहले से ही परमात्मा में स्थित है। जब आपकी चेतना (consciousness) ऐसी हो जाती है कि वह द्वैत सिद्धांत और सापेक्ष सिद्धांत से ऊपर उठ जाती है तो ऐसी चेतना **समत्व चेतना** कहलाती है जिसमें न कोई अपना-पराया लगता है, न किसी से लगाव न भेद होता है। शुद्ध चेतना जिसमें कोई दोष, भेद या पक्षपात नहीं है वह चेतना सर्वोपक चेतना के रूप में हर जीव में समान रूप से उपस्थित है, यह सामान्य मन नहीं, बल्कि शुद्ध और संतुलित चेतना है।

जहाँ सामान्य मन सुख-दुख, लाभ-हानि, पाप-पुण्य जैसी धारणाओं, विचारों से प्रभावित होता है और इनके प्रभाव से मन अस्थिर रहता है वैसा पुरुष जब तक शरीर-मन से ऊपर नहीं उठ पाता तब तक वह परमात्मा की झलक नहीं प्राप्त कर सकता। जब चेतना “द्वंद्व” (सुख-दुख, लाभ-हानि, पाप पुण्य) से ऊपर उठ जाती है, तब वह ब्रह्म के स्तर पर स्थिर हो जाती है। मनुष्य केवल शरीर या विचारों का समूह नहीं है, बल्कि उसके भीतर एक ऐसी सूक्ष्म सत्ता विद्यमान है जो सब अनुभवों की साक्षी है।

इन दोनों श्लोकों में चेतना के विकास, उसकी स्थिरता और अंततः उसके परम रूप—ब्रह्म—में स्थित होने की गहन व्याख्या मिलती है। ऐसा व्यक्ति प्रिय वस्तु मिलने पर अत्यधिक प्रसन्न नहीं होता और अप्रिय मिलने पर विचलित नहीं होता, वही “स्थिरबुद्धि” और “असम्मूढ़” कहलाता है। इसका अर्थ है कि उसकी चेतना अब प्रतिक्रियाशील (reactive) न रहकर साक्षी (witness) बन जाती है। वह अपने अनुभवों को देखता है, पर उनसे बंधता नहीं। यह “साक्षी चेतना” का स्तर है, जहाँ व्यक्ति अपने भीतर एक स्थिरता और संतुलन अनुभव करता है।

यहाँ मन में उठने वाले विचार और भावनाएँ समुद्र की सतह पर उठने वाली लहरों के समान होती हैं, जबकि भीतर गहराई में शांति बनी रहती है। ब्रह्म को “निर्दोष” और “सम” कहा गया है, अर्थात् उसमें कोई दोष, पक्षपात या भेद नहीं है। जब मनुष्य की चेतना भी उसी प्रकार सम और निर्मल हो जाती है, तब वह “ब्रह्मणि स्थित” में स्थित हो जाता है—अर्थात् वह स्वयं को परम चेतना में स्थापित कर लेता है। यह अवस्था केवल बौद्धिक समझ नहीं, बल्कि एक जीवंत अनुभव है, जहाँ व्यक्ति अपनी सीमित पहचान से ऊपर उठकर **असीम शुद्ध चेतना (infinite pure consciousness)** से एकाकार हो जाता है।

श्लोक 21:-

**बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमाश्रुते ॥**

अर्थ:-बाहर के विषयों (इन्द्रिय सुखों) में आसक्ति रहित अंतःकरण वाला साधक, आत्मा में स्थित जो ध्यान जनित सात्त्विक आनंद है, उसको प्राप्त होता है। तत्पश्चात्, वह सच्चिदानंदधन परमात्मा के ध्यान रूप योग में अभिन्न भाव से स्थित होकर अक्षय (असीम) सुख का अनुभव करता है।

श्लोक 22:-

**ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥**

अर्थ:-हे कुंतीपुत्र (अर्जुन)! इन्द्रियों और विषयों के संयोग से होने वाले जो भी सुख हैं, वे निश्चित रूप से दुखों के ही स्रोत हैं। वे आदि और अंत वाले हैं (अर्थात् अनित्य/नाशवान हैं)। बुद्धिमान व्यक्ति उनमें नहीं रमता।

सार(श्लोक 21-22):- यहाँ शुद्ध चेतना में स्थापित होने की अनुभूति का वर्णन किया गया है। मन, बुद्धि, अहं, चित्त, इन्द्रियों द्वारा व्यक्ति प्रकृति के गुणों से प्रभावित होकर निरन्तर इच्छाओं और आसक्ति के साथ व्यक्ति संसार में फँसा रहता है। व्यक्ति मन बुद्धि, चित्त, अहं द्वारा निर्मित संसार को ही परम सत्य मानकर कर्म करता रहता है और विभिन्न ईच्छाओं, डर, क्रोध, लोभ, काम वासनाओं के साथ जीवन व्यतीत करता है और शरीर मन

की सीमाओं में बंधे रहने के कारण सर्वव्यापक चेतना या आत्मा की वास्तविकता से दूर रहता है।

सामान्य मनुष्य बाहरी वस्तुओं—धन, पद, संबंध, भोग—में सुख खोजता है। लेकिन ये सभी सुख सीमित (finite) होते हैं और समय के साथ समाप्त हो जाते हैं। जब ये सुख समाप्त होते हैं, तो दुख और असंतोष उत्पन्न होता है। इसलिये मन को ध्यान, अभ्यास और वैराग्य द्वारा प्रकृति के गुणों से परे ले जाने की ज़रूरत है।

जो व्यक्ति अपनी चेतना को भीतर की ओर मोड़ता है, वह आत्मा के आनंद का अनुभव करता है। यह आनंद किसी बाहरी कारण पर निर्भर नहीं होता, इसलिए इसे “अक्षय सुख” कहा गया है। यही स्थिति ब्रह्मयोग की है—जहाँ व्यक्ति अपनी चेतना को ब्रह्म (शुद्ध चेतना) से जोड़ लेता है। सभी इच्छाओं व आसक्तियों का त्याग कर, इन्द्रियों का प्रत्याहार (Withdraw) कर मन को शान्त एवं स्थिर करने के साथ ही मन, बुद्धि, चित्त, अहं की प्रवृत्ति का त्याग कर व्यक्ति अपने स्व (Self) या आत्मा में स्थापित हो सकता है जहाँ उसे अनंत अस्तित्व के साथ आनंद की अनुभूति होती है और यही सर्वव्यापक चेतना का मूल स्वरूप है।

जो आत्मज्ञानी व्यक्ति होते हैं वे इन्द्रियों की प्रवृत्ति (कौरव की सेना) और इससे प्राप्त होने वाले क्षणिक सुख की अपेक्षा अनंत आनंद की प्राप्ति के लिए इनके विरुद्ध युद्ध करता है। इन्द्रियों और इसके विषयों से प्राप्त सुख-दुख अस्थायी प्रवृत्ति के हैं जिनके सामने आने पर भी एक आत्मनियंत्रित योगी विचलित और भ्रमित नहीं होता।

आत्मज्ञानी व्यक्ति यह समझता है कि सच्चा सुख बाहरी वस्तुओं में नहीं, बल्कि भीतर की शांति और आत्मा (शुद्ध चेतना) में है। इसलिए वह अपनी चेतना को बाहरी आकर्षणों से हटाकर आत्मचिंतन, ध्यान और साधना में लगाता है। यदि मनुष्य अपनी चेतना को नियंत्रित करके उसे बाहरी विषयों से हटाकर भीतर की ओर केंद्रित करे, तो वह दुःखों से मुक्त हो सकता है। इसके लिए संयम, विवेक और अभ्यास आवश्यक है। **ध्यान और योग के माध्यम से चेतना को स्थिर किया जा सकता है।**

श्लोक 23:-

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्धवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥

अर्थ:-जो मनुष्य शरीर त्यागने से पूर्व काम (इच्छाओं) और क्रोध के वेग को सहन करने में समर्थ हो जाता है, वही वास्तव में योगी और सुखी है।

श्लोक 24:-

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥

अर्थ:-जो व्यक्ति भीतर से सुखी (आत्म-संतोषी), भीतर ही रमण करने वाला (अंतर्मुखी) और भीतर ही प्रकाशमान (आत्मा के ज्ञान में स्थित) है, वह योगी साक्षात् ब्रह्मरूप होकर ब्रह्म-निर्वाण (मोक्ष/परम आनंद) को प्राप्त करता है

सार(श्लोक 23-24):-मानव जीवन में सुख और शांति की प्राप्ति का सबसे बड़ा रहस्य मन और इन्द्रियों के नियंत्रण में निहित है। काम (अत्यधिक इच्छा) और क्रोध (इच्छा के विफल होने पर उत्पन्न प्रतिक्रिया) दोनों ही मन को अशांत कर देते हैं। इससे व्यक्ति का विवेक कमजोर हो जाता है और वह सही-गलत का निर्णय नहीं कर पाता। जब मनुष्य इन दोनों के प्रभाव में होता है, तो उसकी चेतना सीमित और बंधी हुई हो जाती है।

श्लोक में “सोढुं” (सहन करना) शब्द अत्यंत महत्वपूर्ण है। इसका अर्थ है—काम और क्रोध के वेग को दबाना नहीं, बल्कि समझदारी से नियंत्रित करना।

जो व्यक्ति अपनी मन को नियंत्रित कर लेता है कि वह इन बाह्य और आंतरिक वेगों को शांतिपूर्वक सहन कर सके, वही सच्चा योगी है। यह अवस्था अभ्यास, ध्यान और आत्मनियंत्रण से प्राप्त होती है।

श्लोक 24 में एक सच्चे योगी की अवस्था और उसकी आंतरिक अनुभूति का गहरा वर्णन किया गया है। आनंद बाहरी वस्तुओं में नहीं, बल्कि आंतरिक शांति में है। जो साधक काम और क्रोध पर विजय प्राप्त कर लेता है, उसकी चेतना स्थिर और निर्मल हो जाती है। वह परिस्थितियों से प्रभावित नहीं होता और हर स्थिति में संतुलित रहता है। ऐसा व्यक्ति ही

“युक्त” (योगयुक्त) कहलाता है और वही वास्तविक अर्थों में सुखी होता है। स्थायी आनंद को प्राप्त करने के लिए बाहरी साधनों की नहीं, बल्कि आंतरिक नियंत्रण की आवश्यकता है। चेतना को जागरूक और स्थिर बनाकर ही मनुष्य काम और क्रोध जैसे विकारों पर विजय पा सकता है।

ऐसा व्यक्ति अपनी शुद्ध चेतना में ही रमण करने वाला होता है अर्थात् अपने भीतर ही आनंद लेना। जब मनुष्य ध्यान, साधना और आत्मचिंतन के माध्यम से अपने भीतर स्थित आत्मा से जुड़ता है, तब उसे बाहरी दुनिया की आवश्यकता कम हो जाती है। वह अपने ही अस्तित्व में संतुष्ट रहता है।

यह स्थिति मानसिक शांति और स्थिरता प्रदान करती है, जिससे व्यक्ति जीवन के उतार-चढ़ाव में भी संतुलित बना रहता है। इसी प्रकार शुद्ध चेतना (आत्मा) के ज्ञान अनुसार धर्म-कर्म करता है, जब व्यक्ति अज्ञान (अविद्या) से मुक्त होकर आत्मज्ञान प्राप्त करता है, तब उसके भीतर ज्ञान का प्रकाश फैलता है। यह प्रकाश उसे सत्य, धर्म और सही मार्ग की ओर ले जाता है। ऐसा योगी, जो भीतर सुख, शांति और प्रकाश को अनुभव करता है, वह धीरे-धीरे ब्रह्म के साथ एकरूप हो जाता है। इसे ही ‘ब्रह्मभूत’ अवस्था कहा जाता है। इस अवस्था में व्यक्ति अहंकार, इच्छा और द्वेष से मुक्त हो जाता है। अंततः वह ‘ब्रह्मनिर्वाण’ को प्राप्त करता है, जिसका अर्थ है जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति और परम शांति की प्राप्ति।

श्लोक 25:-

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।

छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥

अर्थ:-जिनके सब पाप नष्ट हो गए हैं, जिनके सब संशय ज्ञान से निवृत्त हो गए हैं, जो अपनी इन्द्रियों को वश में रखते हैं और जो संपूर्ण प्राणियों के हित में लगे रहते हैं, वे ब्रह्मवेत्ता पुरुष (ऋषि) शांत ब्रह्म को प्राप्त होते हैं।

श्लोक 26:-

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥

अर्थ:-काम और क्रोध से मुक्त, मन को वश में करने वाले, और आत्म-ज्ञान (स्वरूप) को जानने वाले संन्यासियों (साधकों) के लिए, परमात्मा में विलीन होने की मुक्ति हर तरफ मौजूद है।

सार:-जैसा पूर्व में बताया गया था कि पाप वह कर्म है जो चेतना को निम्न स्तर पर लाते हैं लेकिन जो प्राणी अपनी चेतना को उन्नत कर शुद्ध चेतना में रूपान्तरण कर लेते हैं उनकी कंपन आवृत्ति (जो व्यक्ति के व्यवहार और स्वभाव को निर्धारित करती है) कभी भी निम्न नहीं होती और उच्च कंपन आवृत्ति में मनुष्य प्रबोधन (enlightenment) को प्राप्त होता है जिससे उसके पाप कर्म भी नष्ट हो जाते हैं और निम्न कंपन आवृत्ति के कारण भय, काम, क्रोध, लोभ जैसे भ्रमित गुणों के कारण ढकी चेतना की शुद्ध प्रकृति को भी प्रबोधन के माध्यम से नष्ट कर देता है। ऐसा व्यक्ति अपने अहं को त्याग कर स्वयं की चेतना को सभी जीव प्राणी में घटित होता देखता है जिस कारण “मैं” के हित के भाव की जगह “सभी” के हित की भावना का विकास होता है। ऐसे महान पुरुष आत्मज्ञानी एवं ब्रह्म ज्ञानी की श्रेणी में होते हैं जो शुद्ध चेतना रूपी परमात्मा को प्राप्त होते हैं।

व्यक्ति के अंदर निम्न कंपन आवृत्ति (low vibrational frequency) और अज्ञानता(निम्न जागरूकता) के गुण जैसे काम (अत्यधिक इच्छाएँ) और क्रोध (विकार) मन को अशांत कर देते हैं। जब मनुष्य अपनी इच्छाओं के पीछे भागता है, तो वह कभी संतुष्ट नहीं होता। इच्छाओं की पूर्ति न होने पर क्रोध उत्पन्न होता है, जो विवेक को नष्ट कर देता है। इस प्रकार काम और क्रोध, चेतना को दूषित करके मनुष्य को आत्मज्ञान से दूर कर देते हैं।

लेकिन जब चेतना नियंत्रित होती है, तब मन स्थिर हो जाता है। ऐसे व्यक्ति बाहरी परिस्थितियों से विचलित नहीं होते और हर स्थिति में संतुलन बनाए रखते हैं। जब व्यक्ति अपनी वास्तविक पहचान (आत्मा) को समझ लेता है, तब उसका अहंकार समाप्त हो जाता है। वह यह जान लेता है कि वह केवल शरीर या मन नहीं, बल्कि शुद्ध चेतना है। यह ज्ञान उसे भीतर से स्वतंत्र और शांत बना देता है।

जब मनुष्य काम और क्रोध से मुक्त होकर अपनी चेतना को शुद्ध और नियंत्रित कर लेता है, तब वह ब्रह्मनिर्वाण के निकट पहुँच जाता है। ब्रह्मनिर्वाण का अर्थ है—परम शांति, आनंद और जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति। ऐसी अवस्था में व्यक्ति के भीतर और बाहर, हर जगह उसे केवल शांति और एकत्व का अनुभव होता है।

नोट:- आगे के श्लोक ध्यान योग के माध्यम से इन्द्रियों को वश में करने और मोक्ष प्राप्ति की विधि बताते हैं।

श्लोक 27:-

स्पर्शान्कृत्वा बहिरबाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।

प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ॥

अर्थ:-बाहर के स्पर्शों (विषय-भोगों) को बाहर ही करके, दृष्टि को दोनों भौहों के बीच में स्थिर करके, और नासिका में विचरने वाले प्राण तथा अपान वायु को समान करके।

श्लोक 28:-

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।

विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥

अर्थ:-इच्छा, भय और क्रोध से रहित, अपनी इन्द्रियों, मन और बुद्धि को वश में करने वाला, जो मुनि (साधक) केवल मोक्ष के ही परायण है, वह वास्तव में सदा मुक्त ही है।

सार(श्लोक 27-28):-उपरोक्त श्लोक में ध्यान की एक सरल एवं व्यावहारिक विधि का वर्णन किया गया है, जिसके नियमित अभ्यास से साधक धीरे-धीरे योग की अवस्था की ओर अग्रसर होता है। इस ध्यान विधि का उद्देश्य केवल शरीर को स्थिर करना नहीं, बल्कि इन्द्रियों, मन और प्राण की चंचलता को संतुलित करके चेतना को भीतर की ओर केंद्रित करना है।

साधक को एक सहज एवं स्थिर सुखासन में बैठकर बाहरी विषयों से मन को हटाने का प्रयास करना चाहिए। आँखों को बंद अथवा अर्ध-बंद करके दृष्टि और ध्यान को दोनों भौहों के मध्य स्थित भ्रूकृति क्षेत्र पर स्थिर किया जा सकता है। इसके साथ साधक अपनी श्वास के

आने-जाने के प्रति सजग रहता है और बिना किसी अनावश्यक प्रयास के श्वास-प्रश्वास की गति एवं लय का अवलोकन करता है।

योगिक परंपरा में प्राण और अपान को शरीर की जीवन-ऊर्जा के महत्वपूर्ण प्रवाहों के रूप में समझा जाता है। प्राण को सामान्यतः ऊपर की ओर सक्रिय ऊर्जा तथा अपान को नीचे की ओर कार्य करने वाली ऊर्जा के रूप में वर्णित किया जाता है। ध्यान और श्वास के प्रति जागरूकता के माध्यम से जब इन ऊर्जा-प्रवाहों में संतुलन अनुभव होने लगता है, तब शरीर और मन की अस्थिरता कम होने लगती है और साधक की जागरूकता अधिक सूक्ष्म होती जाती है।

विभिन्न ध्यान परंपराओं में श्वास के प्रति सजगता की अनेक विधियाँ मिलती हैं, जैसे प्राण-धारणा, हंस अथवा हं-सः की श्वास-जागरूकता, ईश क्रिया तथा अनापानसति। इन सभी विधियों का मूल उद्देश्य श्वास को केवल एक शारीरिक क्रिया के रूप में नहीं, बल्कि वर्तमान क्षण में चेतना को स्थिर करने के माध्यम के रूप में देखना है। जब साधक निरंतर अपनी श्वास के प्रति जागरूक रहता है, तब मन स्वाभाविक रूप से अतीत और भविष्य की अनावश्यक गतिविधियों से हटकर वर्तमान क्षण में आने लगता है।

मनुष्य की इन्द्रियाँ स्वभावतः निरंतर बाहरी विषयों की ओर आकर्षित होती रहती हैं। रूप, रस, गंध, शब्द और स्पर्श के प्रति निरंतर आकर्षण मन को बाहर की ओर खींचता है। जब साधक अभ्यासपूर्वक इन विषयों के प्रति अपनी अनावश्यक आसक्ति को कम करता है, तब मन धीरे-धीरे भीतर की ओर केंद्रित होने लगता है। इन्द्रिय-संयम ध्यान की एक आवश्यक आधारभूमि है, क्योंकि इन्द्रियों की चंचलता कम होने पर मन की चंचलता भी धीरे-धीरे शांत होने लगती है।

नियमित ध्यान और श्वास-जागरूकता के अभ्यास से व्यक्ति कामना, क्रोध, भय और अत्यधिक इच्छाओं जैसी मानसिक वृत्तियों को अधिक सजगता से देख और नियंत्रित कर सकता है। जैसे-जैसे मन स्थिर होता है और बुद्धि अधिक स्पष्ट होती है, व्यक्ति प्रतिक्रियात्मक जीवन से सजग जीवन की ओर बढ़ने लगता है। वह परिस्थितियों के अनुसार अनजाने में प्रतिक्रिया करने के बजाय जागरूक होकर कर्म करने लगता है।

इस अवस्था में चेतना का विस्तार अनुभव किया जा सकता है। व्यक्ति स्वयं को केवल शरीर, विचारों और इच्छाओं तक सीमित मानने के बजाय उनके पीछे उपस्थित साक्षीभाव को अनुभव करने लगता है।

यही योग की दिशा है—इन्द्रियों का संयम, श्वास के प्रति जागरूकता, मन की स्थिरता, बुद्धि की स्पष्टता और अंततः साक्षीभाव का उदय।

ऐसा साधक संसार का त्याग किए बिना भी आंतरिक रूप से उससे मुक्त रह सकता है। वह जीवन की परिस्थितियों में कर्म करता है, लेकिन प्रत्येक परिस्थिति से अपनी पहचान और शांति को नहीं जोड़ता। सुख-दुःख, लाभ-हानि और सफलता-असफलता के बीच संतुलन बनाए रखने की क्षमता विकसित होती है।

यही **आंतरिक स्वतंत्रता (मुक्ति)** की दिशा है—जहाँ व्यक्ति संसार में रहते हुए भी संसार के मानसिक बंधनों से मुक्त होकर, सजगता, संतुलन और आंतरिक शांति के साथ जीवन जीता है।

श्लोक 29:-

**भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥**

अर्थ:-सभी यज्ञों और तपस्याओं का परम भोगने वाला जानकर।समस्त लोकों (ब्रह्मांड) का महान ईश्वर या परम स्वामी जानकर।सभी प्राणियों का निस्वार्थ मित्र या शुभचिंतक जानकर।जो मुझे इस प्रकार जान लेता है, वह परम शांति (भौतिक यातनाओं से मुक्ति) प्राप्त करता है।

सार:- यह श्लोक परमात्मा (सर्वव्यापक चेतना) के गहन रहस्य को उजागर करता है। कोई भी जीव प्राणी और साधक जो भी क्रिया, साधना, तपस्या करता है वह चेतना के आधार पर ही करता है वही चेतना इन क्रियाओं की प्रेरणा स्रोत है। मनुष्य अक्सर सोचता है—“मैं कर रहा हूँ, मैं भोग रहा हूँ”

लेकिन जब वह समझता है कि सभी कर्मों का अंतिम भोक्ता परमात्मा है, तब उसका अहंकार कम हो जाता है।इससे चेतना शुद्ध होती है और मन हल्का हो जाता है।

जब व्यक्ति को यह ज्ञान हो जाता है कि एक ही शक्ति पूरे ब्रह्मांड को संचालित कर रही है, तब उसकी सोच संकीर्ण नहीं रहती। वह केवल “मैं और मेरा” तक सीमित नहीं रहता, उसकी चेतना सार्वभौमिक (Universal) बन जाती है। जब यह समझ चेतना में उतरती है, तब व्यक्ति सबमें अपनेपन का भाव देखता है और द्वेष, घृणा और अलगाव कम हो जाते हैं। जब मनुष्य इन सत्यों को जान लेता है सबका कर्ता और भोक्ता एक है, वही सबका स्वामी है, वही सबका मित्र है तब उसकी चेतना पूर्ण रूप से शुद्ध हो जाती है।

व्यक्ति शुद्ध चेतना के स्तर पर पहुँच कर आत्म जागरूक होकर अपनी प्रकृति, विचार भावनाओं, आदतों पर पूर्ण नियंत्रण कर सकता है और विभिन्न विकल्पों में स्वतंत्र निर्णय ले सकता है। उसकी इच्छा ईश्वरी इच्छा या सर्वव्यापक चेतना की क्रियाओं के साथ एक रूप होने लगती है और जब व्यक्ति का अति चेतन मन परम-चेतन मन (Supreme Mind) के साथ एक हो जाता है तो कोई व्यक्तिगत इच्छा (individual will) नहीं रहती यहाँ सब कुछ सर्वव्यापक चेतना या ब्रह्मा की इच्छा में विलीन हो जाता है, व्यक्ति केवल साक्षी होता है। इस प्रकार जानकर व्यक्ति “परम शान्ति” और “वास्तविक स्वतंत्रता” को प्राप्त करता है।

अध्याय - 6

आत्मसंयम योग/ध्यान योग

यह अध्याय “योग” में स्थापित होने के लिए आत्मनियंत्रण पर केंद्रित है जिसके अंतर्गत ध्यान के द्वारा निर्विकल्प समाधि (योगारूढ़) की अवस्था तक पहुँचने के लिए मन, बुद्धि, इन्द्रियों के नियंत्रण पर बल दिया है। यह आत्मनियंत्रण ध्यान की क्रियाओं के निरंतर अभ्यास और कर्मों में अनासक्त भाव से प्राप्त होगी। इसके लिए व्यक्ति स्वयं ही जिम्मेदार है क्योंकि मन के स्तर पर मनुष्य कर्मों से बँधता भी और मुक्त भी मन के माध्यम से हो सकता है। मन को स्थिर और संतुलन करने से व्यक्ति सम भाव, वैराग्य की स्थिति को प्राप्त कर सकता है।

आगे के श्लोक ध्यान के लिए विधियों को और ध्यान के दौरान ध्यान में रखने वाली बातों का वर्णन करते हैं। योग किस प्रकार सिद्ध होगा किन-किन बातों का ध्यान रखना चाहिए यह भी वर्णन इस अध्याय में मिलता है। इस अध्याय में यह भी वर्णन है कि योगयुक्त व्यक्ति के “चित्त” की क्या स्थिति होती है और एक योगी शुद्ध चेतना से युक्त होने पर क्या लक्षण प्रदर्शित करता है। अगर साधक का इन्द्रियों विषयों पर ध्यान भटक जाए तो क्या किया जाना चाहिए।

मूल सार के रूप में योग में स्थाई स्थित होने के लिए और मन के स्थायी नियंत्रण के लिए “अभ्यास और वैराग्य” पर बल दिया गया है। यह अध्याय बताता है जो व्यक्ति मन को नियंत्रित नहीं करता, संयमी नहीं है, मोह से युक्त, आश्रय रहित है उस व्यक्ति के लिए योग की प्राप्ति कठिन है लेकिन योग के लिए कर्म करने वाला व्यक्ति अगर थोड़ा सा भी प्रयास करता है तो वह मनुष्य संस्कार और चेतना के अनुरूप अगले जन्म में परिस्थिति अनुरूप पुनः शुद्ध चेतना को प्राप्त करने का प्रयास पहले से बढ़कर करता है। जो योगी /साधक चेतना शुद्धिकरण के क्षेत्र में निरंतर “ध्यान और कर्म” करता है वह सर्वव्यापक चेतना को अंततः प्राप्त करता है।

श्लोक 1:-

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निरन चाक्रियः॥

अर्थ:-वे मनुष्य जो कर्मफल की कामना से रहित होकर अपने नियत कर्मों (कर्तव्य कर्म) का पालन करते हैं वे वास्तव में संन्यासी और योगी होते हैं, न कि वे जो अग्निहोत्र यज्ञ संपन्न नहीं करते या शारीरिक कर्म नहीं करते।

सार:- मन हर पल कोई न कोई कर्म की योजना बनाता है और उस योजना में हित-अहित, लाभ-हानि के ज़रिए निर्णय लेता है। व्यक्ति की यह प्रवृत्ति मन को अस्थिर और अशांत करती है इसलिए मन को स्थिर करने के लिए यह श्लोक किसी भी कर्मफल की कामना को त्यागने पर बल देता है। फिर यह प्रश्न स्वाभाविक उठता है कि कर्म क्यों करे ?? प्रत्येक व्यक्ति का जीवन रहना ही कर्म है। सांस लेना, सोचना, चलना — ये सब कर्म हैं। कोई भी व्यक्ति एक क्षण भी बिना कर्म के नहीं रह सकता। अगर मनुष्य कर्म नहीं करेगा, तो वह आगे नहीं बढ़ पाएगा न ही चेतना को उन्नत कर पाएगा, न ही ज्ञान प्राप्त कर पाएगा — सब कर्म के माध्यम से ही प्राप्त होता है।

कई बार लोग सोचते हैं कि “कुछ न करना” सही है, लेकिन कुछ न करना भी एक प्रकार का कर्म है या निष्क्रियता है — और उसके भी परिणाम होते हैं। इसलिए यह श्लोक “नियत कर्म” या “कर्तव्य कर्म” करने पर बल देता है। पूर्व अध्यायो में यहाँ स्पष्ट किया गया है कि “नियत कर्म” या “कर्तव्य कर्म” कौन से है।

प्रत्येक व्यक्ति जीव, प्राणी, वस्तु कर्म के स्वरूप अपनाएं एवं धारण किये हुए है जैसे अग्नि का कर्तव्य गर्म करना, जल का कर्तव्य शीतलता और प्रवाह करना, सूर्य का कर्तव्य उष्णता एवं जीवन प्रदान करना, वृक्षों का कार्य भोजन, ऑक्सीजन देना। इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य का भी कर्तव्य है लेकिन वास्तविक कर्म की समझ न होने के कारण मनुष्य अज्ञानता वश शरीर के द्वारा किए गए कार्य को ही वास्तविक कर्म (कर्तव्य) समझ लेता है।

व्यक्ति (मनुष्य) की चेतना न शरीर है, न मन है, न बुद्धि, न चित्त, न अहंकार, बल्कि मनुष्य वह सर्वव्यापक चेतना या आत्मा है जो सत्-चित्त-आनंद स्वरूप में है और ऐसे कर्म जो मनुष्य की चेतना को उन्नत करने की ओर प्रवृत्त होता है, साथ ही ऐसे सभी कर्म जो इन्द्रिय

दासता से मनुष्य को दूर करे, जागरूकता में वृद्धि करे और स्वयं की चेतना को सत्-चित्त-आनंद स्वरूप में स्थित करे, मनुष्य के अहं को आत्मा (शुद्ध चेतना) में और आत्मा को परमात्मा (सर्वव्यापक चेतना) में रूपांतरित करे, वह कर्म ही “कर्तव्य कर्म” है। ऐसे नियत कर्म (कर्तव्य कर्म) को करने वाले वास्तव में संन्यासी और योगी होते हैं।

लेकिन जो व्यक्ति जो अग्निहोत्र यज्ञ संपन्न नहीं करते या शारीरिक कर्म नहीं करते वह निष्क्रिय माने जाने चाहिए जो निष्क्रियता की वजह से ज्ञान, अनुभव, चेतना को उन्नत करने में बाधा उत्पन्न करते हैं। कई अज्ञानी पुरुष निष्क्रियता को अकर्म की श्रेणी में रखते हैं जबकि “अकर्म” का मतलब कुछ न करना नहीं है, बल्कि ऐसी चेतना में रहना जहाँ “मैं कर्ता हूँ” का भाव खत्म हो जाए।

जब व्यक्ति खुद को केवल साक्षी (observer) के रूप में देखता है और कर्म अपने-आपे प्रकृति द्वारा होते दिखते हैं। इस स्थिति में व्यक्ति के “अहं” की मृत्यु हो जाती है और किसी प्रकार की इच्छा नहीं होती और सर्वव्यापक चेतना की योजना का साक्षी बन जाता है जो “सम भाव” और “स्थिरबुद्धि” जैसे गुणों से युक्त हो जाता है। ऐसा योगी और संन्यासी व्यक्ति नियत कर्म बिना कर्मफल की कामना के करता है।

श्लोक 2:-

यं सन्न्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसन्न्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन॥

अर्थ:- हे पांडुपुत्र (अर्जुन)! जिसे लोग संन्यास कहते हैं, उसी को तुम योग (योगारूढ़ अवस्था) जानो। क्योंकि मानसिक इच्छाओं/संकल्पों (भोग की इच्छा) का त्याग किए बिना कोई भी व्यक्ति योगी नहीं बन सकता।

श्लोक 3:-

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥

अर्थ:-योग में आरूढ़ (ध्यान साधना में आगे बढ़ने) होने की इच्छा वाले मननशील (मुनि) के लिए निष्काम कर्म करना ही साधन कहा जाता है; और जब वह योग में आरूढ़ (सिद्ध) हो जाए, तो उसी के लिए शम (शांत भाव/ध्यान) ही साधन कहा जाता है।

सार (श्लोक 2-3):-यहाँ नियत कर्म करते हुए अकर्म भाव में पहुँचने को सुंदर तरीके से बताया गया है। सर्वप्रथम जिसे लोग सन्यास समझते हैं उसे ही योग में स्थित समझना चाहिए। “सन्यास” का तात्पर्य बाहरी भौतिक सम्पत्ति का त्यागना मात्र नहीं है बल्कि यह अंदर के मन की इच्छाओं, काम, क्रोध, लोभ, संकल्प, आसक्तियों को त्यागना है जब व्यक्ति उपरोक्त इच्छाओं, काम, क्रोध, लोभ, संकल्प, आसक्तियों को त्याग देता है तो वह वास्तव में संन्यासी और योगी कहलाने लायक है।

ऐसे योगी के लिए निष्काम कर्म करना ही साधना बन जाता है जिसमें फल की इच्छा का त्याग कर कर्म को कर्तव्य भाव से कर सफलता एवं असफलता से विचलित हुए बिना कर्म करने पर बल देता है यही उसके लिए नियत कर्म। जब योगी निष्काम कर्म करते हुए अहं भाव का त्याग कर देता है तो उसकी चेतना सर्वव्यापक चेतना (शुद्ध चेतना) में रूपांतरित होने लगती है जब यह प्रक्रिया पूर्ण होती है तब वह “योग” को प्राप्त होता है।

जब वह योग में आरूढ़ (सिद्ध) हो जाए, तो उसी के लिए शम (शांत भाव/ध्यान) ही साधन कहा जाता है। इस स्तर पर पहुँचने पर व्यक्ति अतिचेतन मन (Super Conscious Mind) के स्तर पर पहुँच कर आत्म जागरूक होकर अपनी प्रकृति, विचार भावनाओं, आदतों पर पूर्ण नियंत्रण कर सकता है और विभिन्न विकल्पों में स्वतंत्र निर्णय ले सकता है। उसकी इच्छा ईश्वरी इच्छा या सर्वव्यापक चेतना की क्रियाओं के साथ एक रूप हो जाती है। सब कुछ सर्वव्यापक चेतना या ब्रह्मा की इच्छा में विलीन हो जाता है, व्यक्ति केवल “साक्षी” होता है। “भीतर उसकी चेतना कर्मों से निर्लिप्त हो जाती है। कर्मों से निर्लिप्त रहकर शांत भाव, स्थिर बुद्धि रखना ही उस साधक के लिए साधना बन जाती है।

श्लोक 4:-

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसङ्कल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥

अर्थ:-जिस काल (समय) में न तो इन्द्रियों के भोगों में और न कर्मों में ही आसक्त होता है, उस काल में सर्वसंकल्पों का त्यागी पुरुष योगारूढ़ कहा जाता है।

सार:- यह श्लोक मनुष्य की चेतना की उच्च अवस्था को स्पष्ट करता है। इसमें बताया गया है कि जब व्यक्ति इन्द्रियों के विषयों तथा कर्मों में आसक्त नहीं रहता और सभी संकल्पों का त्याग कर देता है, तब वह योगारूढ़ अर्थात् योग में स्थित माना जाता है।

चेतना का स्वभाव मूलतः शुद्ध, शांत और स्वतंत्र होता है, किन्तु जब मन इन्द्रियों के विषयों—जैसे रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द—में उलझ जाती है, तब मन की चंचलता शुद्ध चेतना के स्वरूप को ढक देता है। मनुष्य की इच्छाएँ और संकल्प मन को चंचल बना देते हैं, जिससे वह सुख-दुःख के चक्र में फँस जाता है। इस अवस्था में व्यक्ति बाहरी वस्तुओं में आनंद खोजता है, लेकिन उसे स्थायी शांति प्राप्त नहीं होती। जब व्यक्ति धीरे-धीरे इन्द्रिय विषयों से अपनी आसक्ति कम करता है और अपने कर्मों में भी अहंकार तथा फल की इच्छा को त्याग देता है, तब उसकी शुद्ध चेतना का स्वरूप परिलक्षित होने लगता है। वह समझने लगता है कि वास्तविक सुख बाहरी वस्तुओं में नहीं, बल्कि अपने भीतर है। यह जागृति ही साधना का प्रारंभ है।

जब व्यक्ति सभी संकल्पों का त्याग कर देता है, अर्थात् उसके मन में कोई व्यक्तिगत इच्छा या अपेक्षा शेष नहीं रहती, तब उसकी चेतना पूर्ण रूप से स्थिर और शांत हो जाती है। यही अवस्था योगारूढ़ की है, जहाँ व्यक्ति न तो किसी वस्तु से आकर्षित होता है और न ही किसी परिस्थिति से विचलित होता है। उसकी चेतना अपने शुद्ध स्वरूप में स्थापित हो जाती है।

श्लोक 5:-

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥

अर्थ:-अपने मन के द्वारा अपना उद्धार करें, स्वयं को नीचा न दिखाएं (पतन न करें)। क्योंकि मन ही आत्मा का मित्र है और मन ही आत्मा का शत्रु है।

श्लोक 6:-

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥

अर्थ:-जिसने मन और इन्द्रियों को जीत लिया है, उसके लिए मन सबसे अच्छा मित्र है। लेकिन जो ऐसा करने में असफल रहता है, उसके लिए मन सबसे बड़ा शत्रु बन जाता है।

सार(श्लोक 5-6):- यह श्लोक मन को शरीर और आत्मा के बीच कड़ी रूप में दर्शाता है जो आत्मा के उत्थान और मन के नियंत्रण के महत्व को बताता है। जहाँ मन का संतुलन साधक को शारीरिक ऊर्जा के साथ साथ उच्च मनोबल, निरंतरता को बनाये रखने में मदद करता है वहीं दूसरी ओर स्थिरमन बुद्धि को भी स्थिर करता है और व्यक्ति के भटकाव, विचलन को भी नियंत्रित करता है। ध्यान और चेतना उन्नत करने की प्रक्रिया में मन का स्थिर और संतुलित होना बहुत महत्वपूर्ण है। चेतना का रूपांतरण और ध्यान में निर्विकल्प समाधि तक पहुँचना एक लंबी और निरंतर करने वाली प्रक्रिया है इसलिए साधक के मन स्थिर और संतुलित, ऊर्जावान होना जरूरी है। मन तरंग के रूप में कार्य करता है तथा चेतना के इन मुख्य केन्द्रों में भी सूक्ष्म कंपन हो रहा है अगर मन और इन केन्द्रों के कंपन को संतुलित किया जाए तो मन प्रत्येक ऊर्जा केन्द्र में अलग-अलग चेतना के आयामों का अनुभव प्राप्त करेगा। लेकिन इसके लिए सबसे पहली शर्त मन को उच्च और नियंत्रित ऊर्जा से युक्त रखना।

चाहे वह कर्मयोग का मार्ग हो, ज्ञान योग या क्रिया योग या भक्तियोग का मार्ग हो या अन्य कोई मार्ग है। सभी मन को किसी एक वस्तु पर सक्रिय रूप से ध्यान केन्द्रित करने और मन को उस पर स्थिर करने का माध्यम है। जो चेतन मन (Conscious Mind) चंचल है वह शांत हो जाए तथा ध्यान द्वारा मन की गहराई में इतना उतर जाए कि दृष्टा एवं दृश्य में भेद

खत्म हो जाए तथा मन में जो समय वृत्ति, ऊर्जा वृत्ति तरंग के रूप में विद्यमान है उसे पार कर समय से आदि मन पहुँच जाए जिसे यौगिक भाषा में "निर्विकल्प समाधि" कहा जाता है।

मन, शरीर और चेतना के बीच में कड़ी के रूप में व्यवस्थित है तथा शरीर के क्रियाकलापों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है साथ ही सर्वव्यापक चेतना तक पहुँचने का माध्यम भी है। मन, बुद्धि, अहं, चित्त, इन्द्रियों द्वारा व्यक्ति प्रकृति के गुणों से प्रभावित होकर निरन्तर इच्छाओं और आसक्ति के साथ व्यक्ति संसार में फँसा रहता है। व्यक्ति मन बुद्धि, चित्त, अहं द्वारा निर्मित संसार को ही परम सत्य मानकर कर्म करता रहता है और शरीर मन की सीमाओं में बंधे रहने के कारण सर्वव्यापक चेतना या आत्मा की वास्तविकता से दूर रहता है इसलिये मन को ध्यान, अभ्यास और वैराग्य द्वारा प्रकृति के गुणों से परे ले जाने की जरूरत है एवं सभी इच्छाओं व आसक्तियों का त्याग कर, इन्द्रियों का प्रत्याहार (Withdraw) कर मन को शान्त एवं स्थिर करने की जरूरत है साथ ही मन, बुद्धि, चित्त, अहं की प्रवृत्ति का त्याग कर व्यक्ति अपने स्व (Self) या आत्मा में स्थापित हो सकता है और यही सर्वव्यापक चेतना का मूल स्वरूप है।

लेकिन इसके विपरीत मन के ऊर्जा स्तर में कमी साधक को साधना के रास्ते से भटकाव लाती है और साधक को स्वयं की चेतना को शुद्ध चेतना में रूपांतरण में बाधक होती है। मन का नियंत्रित होना साधक को इन्द्रियों भोगों की तरफ आकर्षित करता है और वास्तविक कर्म से दूर करता है। यह अंधा मन ही है जो इच्छाओं, आसक्तियों, काम, क्रोध, लोभ की ओर साधक को ले जाता है इसलिए यह मन का अनियंत्रित होना व्यक्ति के लिए शत्रु समान है इसलिए **मन ही**

आत्मा का मित्र है और मन ही आत्मा का शत्रु है।

हमारा सबसे बड़ा मित्र या शत्रु कोई बाहरी व्यक्ति नहीं, बल्कि हमारा अपना मन ही है। चेतना की उन्नति का आधार है मन पर नियंत्रण करना। जो व्यक्ति अपने मन को जीत लेता है, वही सच्चे अर्थ में योगी और सफल साधक होता है। इसके विपरीत, जब मनुष्य अपने मन पर नियंत्रण नहीं रख पाता, तब उसका मन इन्द्रियों के विषयों, इच्छाओं, क्रोध और मोह में फँस जाता है। ऐसी स्थिति में चेतना नीचे गिर जाती है और व्यक्ति गलत निर्णय लेने

लगता है। वह तनाव, चिंता और असंतोष से घिरा रहता है। इस अवस्था में वही मन, जो उसका मित्र बन सकता था, उसका शत्रु बन जाता है और उसे दुःख की ओर ले जाता है।

श्लोक 7:-

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।

शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः॥

अर्थ:-जिसने मन और इन्द्रियों को जीत लिया है और जो शांत है, वह सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख और मान-अपमान जैसी विपरीत परिस्थितियों में भी अडिग (परमात्मा में स्थिर) रहता है।

सार :-यह श्लोक मानव चेतना के उच्च स्तर को दर्शाता है। इसमें बताया गया है कि जब मनुष्य अपनी इन्द्रियों और मन पर नियंत्रण (जितात्मा) प्राप्त कर लेता है, तब उसकी चेतना स्थिर और शांत हो जाती है।

व्यक्तिगत चेतना जो मन और शरीर के स्तर से संबंधित होती है वह व्यक्ति को बाहरी परिस्थितियों से प्रभावित होती है। जैसे—थोड़ी सी ठंड या गर्मी, सुख या दुःख, सम्मान या अपमान—इनसे मन तुरंत बदल जाता है। इसका कारण है कि हमारी चेतना अभी अस्थिर और बाहरी वस्तुओं पर निर्भर है।

लेकिन जब व्यक्ति साधना, संयम और आत्म-नियंत्रण के माध्यम से अपने मन को स्थिर कर लेता है, तब उसकी चेतना धीरे-धीरे भीतर की ओर केंद्रित हो जाती है। इस अवस्था में वह बाहरी परिस्थितियों से प्रभावित नहीं होता। यह स्थिति दर्शाती है कि उसकी चेतना अब द्वंद्व (duality) से ऊपर उठ चुकी है। इसी को “समभाव” कहा जाता है।

जब चेतना इस स्तर पर पहुँचती है, तब व्यक्ति के भीतर परमात्मा (शुद्ध चेतना) का अनुभव होता है। “परमात्मा समाहितः” का अर्थ यही है कि उसकी चेतना अब पूर्ण रूप से स्थिर होकर शुद्ध रूप (Pure form) में स्थित हो जाती है।

नोट:-आगे के 2 श्लोक शुद्ध चेतना को प्राप्त (योगारूढ़/स्थितप्रज्ञ) व्यक्ति के लक्षण को इंगित करते हैं:-

श्लोक 8:-

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥

अर्थ:-जिसका मन (आत्मा) ज्ञान और विज्ञान (अनुभूति) से पूर्णतः तृप्त है। जो विकाररहित (निहाई की तरह स्थिर) है।

जिसने इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर ली है। जिसके लिए मिट्टी का ढेला, पत्थर और सोना एक समान है। ऐसा व्यक्ति 'युक्त' (योगारूढ़/स्थितप्रज्ञ) योगी कहलाता है।

श्लोक 9:-

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥

अर्थ:-जो व्यक्ति अपकारी (शत्रु) और हितैषी (मित्र), उदासीन (निष्पक्ष), मध्यस्थ (बीच-बचाव करने वाले), ईर्ष्यालु, संबंधी, पुण्यात्मा और पापी—इन सभी के प्रति समान भाव (समत्व) रखता है, वह अत्यंत श्रेष्ठ माना जाता है।

सार (श्लोक 8-9):- शुद्ध चेतना द्वंद (duality) और सापेक्षता (relativity) नियम से परे की अवस्था है जो की एक उच्च आयाम है। जहाँ त्रिआयामी व्यक्ति (3D-people) मन और शरीर के स्तर पर सुख-दुख, सदी-गर्मी, मान-अपमान, अच्छा-बुरा इत्यादि को महसूस करता है और शत्रु-मित्र, पुण्य आत्मा-पापी, दयालु-ईर्ष्यालु इत्यादि के बीच भेद भाव रखता है जबकि शुद्ध चेतना से युक्त व्यक्ति जिसने मन, इन्द्रियों पर नियंत्रण प्राप्त कर लिया है और शुद्ध चेतना में स्थिर हो गया है या कहे आत्मज्ञान प्राप्त कर लिया है और यह आत्मज्ञान विज्ञान (तार्किकता) की कसौटी के आधार पर है न कि भ्रम के आधार पर, ऐसा योगी किसी भी विकार से रहित पत्थर, मिट्टी, सोना को एक समान समझता है क्योंकि वैज्ञानिक आधार पर सभी का निर्माण ऊर्जा और कंपन की भिन्नता से हुआ है और क्वांटम स्तर पर सभी के लिए एक समान कण (क्वार्क) के विभिन्न संयोजन ने इन्हें बनाया है। इसके अतिरिक्त ऊर्जा (Wave) एक तरंग रूप है और पदार्थ एक कण (ठोस) रूप है, ऊर्जा ही पदार्थ ($E=mc^2$) में परिवर्तित हो रही है। यहाँ समझना होगा कि चेतना ही सभी क्रियाकलापों को देख रही है

और संचालित कर रही है। यही चेतना ही व्यक्तिगत या परमचेतन मन के माध्यम से पर्यवेक्षण का कार्य कर रही है।

चेतना द्वारा कंपन की दर में परिवर्तन करना ऊर्जा और पदार्थ को एक-दूसरे में परिवर्तित करते है जब कंपन धीमा होता है तो ऊर्जा घनीभूत होकर पदार्थ बनता है और जब कंपन तेज होता तो पदार्थ सूक्ष्म बनकर ऊर्जा में बदल जाती है लेकिन सर्वव्यापक चेतना के बिना यह संभव नहीं है। ब्रह्मांड, चेतना की माया शक्ति के कारण उत्पन्न हुआ है जिसे सार्वव्यापक चेतना नियंत्रित कर रही है। माया शक्ति का आशय सर्वव्यापक चेतना की शक्ति से है जो कंपन मान ऊर्जा रूप ब्रह्मांड को पदार्थ रूपी ब्रह्मांड (भौतिक ब्रह्मांड) में बदल रही है।

मन भी ऊर्जा रूपी तरंग के रूप में कार्य करता है लेकिन शुद्ध चेतना के स्तर पर मन ऊर्जा की तरंगों सहित स्थिर होकर सम भाव की स्थिति को प्राप्त करता है। इस स्थिति में मन द्वैतता (duality) और रिलेटिविटी (सापेक्षता) के नियमों के परे शुद्ध चेतना में स्थापित होता है जहाँ अपकारी (शत्रु) और हितैषी (मित्र), उदासीन (निष्पक्ष), मध्यस्थ (बीच-बचाव करने वाले), ईर्ष्यालु, संबंधी, पुण्यात्मा और पापी—इन सभी के प्रति समान भाव (समत्व) रखता है।

श्लोक:-10

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।

एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥

अर्थ:-एकांत स्थान में अकेला स्थित, मन और शरीर को नियंत्रित करने वाला, आशा और संग्रह से मुक्त योगी, निरंतर आत्मा को परमात्मा में लगावे (ध्यान करे)।

सार:-इस श्लोक में साधक को ध्यान और आत्म-साधना के लिए आवश्यक अनुशासन का मार्ग बताया गया है। साधक को एकांत और शांत स्थान में रहकर अपने मन तथा शरीर की चंचलताओं को नियंत्रित करना चाहिए। यहाँ आशा का अर्थ भविष्य से किसी फल की अपेक्षा रखना और संग्रह का अर्थ भौतिक वस्तुओं, इच्छाओं तथा मानसिक आसक्तियों को निरंतर एकत्र करने की प्रवृत्ति है। जब साधक इन दोनों से मुक्त होता है, तब उसका मन धीरे-धीरे बाहरी संसार से हटकर अपने वास्तविक स्वरूप की ओर मुड़ने लगता है।

इस साधना का उद्देश्य व्यक्तिगत चेतना का शुद्ध चेतना की ओर रूपांतरण है। ध्यान के प्रारंभिक चरण में साधक अपने मन में उठने वाले विचारों, शरीर की संवेदनाओं, भावनाओं, ऊर्जा तथा समय के साथ होने वाले परिवर्तनों को **साक्षी भाव** से देखना सीखता है। वह विचारों और अनुभवों में उलझने के स्थान पर उनका द्रष्टा बन जाता है।

निरंतर अभ्यास से यह साक्षी भाव गहरा होकर धारणा और फिर ध्यान की अवस्था में विकसित होता है। जब ध्यान पूर्ण रूप से स्थिर होने लगता है, तब साधक के भीतर द्रष्टा और दृश्य के बीच का भेद धीरे-धीरे समाप्त होने लगता है। उस अवस्था में वह स्वयं को केवल शरीर, मन और विचारों तक सीमित न मानकर व्यापक चेतना के रूप में अनुभव करने लगता है।

इसी अनुभूति को स्थिर और निरंतर बनाए रखना—अर्थात् व्यक्तिगत आत्मचेतना का सर्वव्यापक चेतना में स्थित रखना है। यही ध्यान की वह अवस्था है जहाँ साधक बाहरी संसार की इच्छाओं और संग्रह से मुक्त होकर अपने वास्तविक स्वरूप तथा सर्वव्यापक चेतना का अनुभव करता है।

श्लोक:-11

**शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥**

अर्थ:-ध्यान का अभ्यास करने के लिए साधक को एक पवित्र स्थान पर अपना स्थिर आसन स्थापित करना चाहिए, जो न बहुत ऊँचा हो और न बहुत नीचा हो। उस आसन पर क्रमशः कुश (पवित्र घास), मृगचर्म (हिरण की खाल) और एक वस्त्र बिछा होना चाहिए।

सार:-ध्यान घटित होने से पहले धारणा का अभ्यास जरूर है और दीर्घकालिक धारणा के लिए एक सहज आसन जरूरी है जिससे ध्यान के दौरान साधक दीर्घकाल तक ध्यान कर सके और नाडियो, मांस पेशियों में दबाव न पड़े। इसके अतिरिक्त साधक को ध्यान के दौरान एक ऐसे पवित्र और स्वच्छ स्थान का चयन करना चाहिए जिससे साधक की ऊर्जा स्तर, स्वास्थ्य, शरीर पर नकारात्मक प्रभाव न पड़े। जिस स्थान पर साधक बैठता है, उसका प्रभाव मन पर पड़ता है। ध्यान के लिए बाहरी शिष्य और आंतरिक शुद्धता जरूरी है। बाहरी

शुद्धता के अंतर्गत शांत वातावरण, स्वच्छता, कम शोर और आंतरिक शुद्धता के अंतर्गत मन में द्वेष, क्रोध, छल कम होना होना आवश्यक है।

साधक का मन वातावरण से ऊर्जा ग्रहण करता है। इसलिए शांत स्थान ध्यान को गहरा बनाता है।

जब शरीर बार-बार हिलता है, तब मन भी चंचल रहता है। **स्थिर आसन का उद्देश्य है—** शरीर को शांत करना, प्राणों को संतुलित करना, चेतना को भीतर ले जाना। साधक जितना स्थिर होता है, उतना ही मन भीतर उतरने लगता है।

साधक जब ध्यान के लिए किसी स्थान को चुनें तो वह स्थान न अधिक नीचा हो न अधिक ऊँचा हो क्योंकि आसन अधिक नीचा होने से नमी, ठंडक या असुविधा शरीर को प्रभावित कर सकती है और ज़मीन के नीचे रहने वाले जीव जंतु जैसे चूहे, कोंकरोच, चींटी, कीट इत्यादि जीव जंतुओं के आवागमन से शरीर और ध्यान में नकारात्मक प्रभाव पड़ सकता है। इसी प्रकार यदि आसन बहुत ऊँचा होगा, तो गिरने का भय बना रहेगा, मन में असुरक्षा रहेगी और ध्यान भीतर न जाकर शरीर की सुरक्षा में लगा रहेगा। ध्यान के लिए मन का निश्चित होना आवश्यक है।

भय चित्त को स्थिर नहीं होने देता।

इसके अतिरिक्त आसन पर क्रमशः कुश (पवित्र घास), मृगचर्म (हिरण की खाल) और एक वस्त्र बिछा होना चाहिए क्योंकि कुशा भूमि की नमी और ठंडक से शरीर को बचाती थी और पृथ्वी के सीधे संपर्क को कम करके शरीर को स्थिर रखती थी। प्राचीन ऋषि मुनि और साधक मृगचर्म का उपयोग ध्यान में स्थिरता के लिए करते थे क्योंकि यह ताप संतुलित रखता था, लंबे समय तक बैठने में सुविधा देता था और कीट आदि से सुरक्षा करता था। वस्त्र सबसे ऊपर बिछाया जाता था क्योंकि बैठने में कोमलता और स्वच्छता बनी रहे और शरीर को आराम मिले। इन तीनों का संयोजन ध्यान के लिए सुविधाजनक आसन बनाते हैं और धरातल की कठोरता, तापमान, विकिरण से शरीर को सुरक्षित रखते हैं।

श्लोक 12:-

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये।

अर्थ:-उस (पूर्व में बताए गए पवित्र और स्थिर) आसन पर बैठकर, मन को एकाग्र करके और चित्त तथा इन्द्रियों की क्रियाओं को वश में करके, अन्तःकरण की शुद्धि के लिए योग का अभ्यास (ध्यान) करे।

सार:-जब व्यक्ति उपरोक्त बताए गए आसन में ध्यान लगाने बैठता है तो मन में अनेक प्रकार के विचार उत्पन्न होते हैं इसलिए मन को एकाग्र करने की आवश्यकता होती है। मन को एकाग्र करने के लिए ध्यान घटित होने के पूर्व किसी क्रिया में ध्यान देने की आवश्यकता होती है।

इसके लिए साधक कई साधनों का प्रयोग करते हैं जिसमें साँसों के आवागमन पर, किसी वस्तु पर एकटक ध्यान केंद्रित कर, या किसी एक चित्र की मानसिक दृश्य पर ध्यान केंद्रित करने इत्यादि का अभ्यास किया जाता है। इसके अतिरिक्त इन्द्रियाँ की चंचलता या अनैच्छिक प्रयोग मन को भटका देते हैं इसलिए इन्द्रियों का प्रत्याहार भी आवश्यक हो जाता है।

जब व्यक्ति विभिन्न साधनों को प्रयोग करता है तो धीरे धीरे इन्द्रियों में ऊर्जा प्रवाह बाह्य रूप में रुक जाता है और इन्द्रियों को ऊर्जा प्राप्त न होने से इन्द्रियों में नियंत्रण आने से व्यक्ति स्वयं के आंतरिक चेतना के क्षेत्र में प्रवेश करता है। जब साधक ध्यान में बैठकर मन को एक बिंदु पर स्थिर करता है, तब चेतना बाहर की वस्तुओं से हटकर भीतर की ओर मुड़ने लगती है।

लेकिन यहाँ भी एक बात ध्यान देने की ज़रूरत है कि इस आंतरिक क्षेत्र में भी मन पूर्व स्मृति का प्रयोग कर अन्य स्वप्न स्वरूप दृश्य निर्मित करने लगता है या सुसुप्ति अवस्था में पहुँच जाता है इसलिए इस स्थिति में जागरूक होना आवश्यक होता है या चित्त और इन्द्रियों का नियंत्रण आवश्यक है।

जब व्यक्ति में आंतरिक चेतना के क्षेत्र में प्रवेश करता है तो उसके वैसे तत्व अनुभव होते हैं जिससे व्यक्ति की चेतना मन और शरीर से बंधी होती है वह कोई भी इच्छा, आसक्ति हो

सकती है और काम, क्रोध, भय, लोभ, अहंकार जैसे तत्वों के स्तर को जान पाता है कि किस स्तर पर इन अवगुणों ने शुद्ध चेतना को मलिन कर दिया है। इन मानसिक विकारों से चेतना को मुक्त करना अंतःकरण की शुद्धि करना कहा गया है। यह अभ्यास तब तक करना चाहिए जब तक मन में किसी प्रकार की इच्छा, आसक्ति, मानसिक विकार न हो और चेतना पूर्ण रूप से शुद्ध न हो जाए।

श्लोक 13:-

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।

संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥

अर्थ:-योगी को अपने शरीर, सिर और गले को सीधा एवं अचल (बिना हिले-डुले) धारण करना चाहिए। उसे अपनी दृष्टि को नाक के अग्रभाग (नासिका के आगे के हिस्से) पर स्थिर करनी चाहिए और इधर-उधर नहीं देखना चाहिए।

सार:-यह श्लोक ध्यान के समय आसन के लिए शारीरिक मुद्रा का विस्तार से वर्णन करता है। साधना करने वाले साधक को हमेशा "रीढ़ की हड्डी" या "मेरुदंड" को सीधा रखना चाहिए क्योंकि यहाँ से ऊर्जा का प्रवाह मूलाधार से ऊपरी चक्र की ओर होता है जिसके लिए ऊर्जा प्रवाह में व्यवधान उत्पन्न न हो, इसलिए शरीर, सिर, गले को सीधा रखने की सलाह दी जाती है।

"रीढ़ की हड्डी" या "मेरुदंड" को सीधा खड़ा होकर या बैठकर या लेट कर किया जा सकता है लेकिन सीधे खड़े होकर साधक को गिरने का भय बना रहता है और लेटकर करने से ध्यान में नींद आने से की संभावना बनी रहती है और सजगता में भी कमी होती है क्योंकि लेटकर सोने की प्रवृत्ति बचपन से व्यक्ति के स्वभाव में पैठ बना लेती है जैसे ही व्यक्ति लेटकर कर ध्यान करता है तो दिमाग को सोने के लिए सिमनल जाने लगता है। इसलिए ध्यान के लिए बैठकर ध्यान करना एक सर्वोत्तम विकल्प है।

बैठकर ध्यान करते समय शरीर को स्थिर और संतुलित रखना आवश्यक है अन्यथा व्यक्ति का ध्यान बार-बार हिलने डुलने वाले शरीर के भाग की तरफ जाने से एकाग्रता में कमी आती है और चेतना के आंतरिक क्षेत्र में प्रवेश नहीं हो पाता।

सहज रूप से बैठ जाने और शरीर को स्थिर करने के साथ साथ आँख को नासिका के आगे हिस्से में स्थिर रखने का प्रयास करना चाहिए, क्योंकि इससे ध्यान एकाग्र होता है और चेतना का विस्तार होता है। अगर आँख रूपी इन्द्रियों को आस पास के दृश्य देखने में प्रयुक्त करेंगे तो मन में भटकाव आ जाता है और दृश्य में ही ध्यान चला जाता है इसलिए अपनी दृष्टि को नाक के अग्रभाग (नासिका के आगे के हिस्से) पर स्थिर करनी चाहिए और इधर-उधर नहीं देखना चाहिए।

श्लोक 14:-

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।

मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥

अर्थ:-योगी को चाहिए कि वह पूरी तरह शांत मन वाला, भयमुक्त, ब्रह्मचर्य के व्रत में दृढ़, मन को वश में किए हुए और मुझमें चित्त लगाकर, स्थिर होकर बैठे तथा मुझे ही अपना सर्वोच्च लक्ष्य (परम आश्रय) बनाए।

श्लोक 15:-

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।

शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति

अर्थ:-निरंतर अपने मन को मुझमें (परमात्मा में) लगाकर और एकाग्र मन और स्थिर मानस वाला ध्यानयोगी, मुझमें स्थित उस परम शांति को प्राप्त कर लेता है, जिसका अंत निर्वाण या मोक्ष में होता है।

सार (श्लोक 14-15):- पूर्व में बताया था प्रत्येक विचार, भावनाएँ, कार्य किसी न किसी ऊर्जा स्तर या कंपन आवृत्ति (Vibrational Frequency) के स्तर पर घटित होते हैं। यह ऊर्जा स्तर व्यक्ति के क्रियाकलाप, मानसिक विचार, प्राप्त सूचनाओं के आधार पर निरंतर परिवर्तनशील रहता है जो कि व्यक्ति के भावनाओं, विचारों जागरूकता एवं कर्मों का निर्धारण करता है। शांति, प्रेम, भयमुक्त, प्रबोधन जैसे गुण व्यक्ति के उच्च कम्पन आवृत्ति (higher vibrational frequency) एवं उच्च ऊर्जा स्तर को इंगित करता है। जब व्यक्ति की ऊर्जा निम्न होती है तो उसे भय, काम, क्रोध, इच्छा, लोभ जैसे अवगुण भाव रूप में

प्रकट होते हैं लेकिन एक योगी को चाहिए वह अपनी ऊर्जा और चेतना को मूलाधार चक्र से ऊपरी चक्र की तरफ अग्रसर करे। इस तरह योगी उच्च कंपन आवृत्ति या उच्च ऊर्जा को बनाकर रखते हुए मन को शांत रखता है।

उच्च ऊर्जा व्यक्ति को भयमुक्त बनाता है। भय तब उत्पन्न होता है जब मनुष्य स्वयं को केवल शरीर मानता है और संसार की वस्तुओं से अत्यधिक आसक्ति रखता है। जब व्यक्ति की ऊर्जा और चेतना सबसे निचले केंद्र मूलाधार चक्र से सह संबंध रखती है तब भय का गुण सांसारिक इच्छा, आसक्ति के कारण उत्पन्न होती है लेकिन जब चेतना उन्नत होती है, तब व्यक्ति समझने लगता है कि आत्मा (स्वयं की शुद्ध चेतना) अमर है और भय स्वयं के निम्न ऊर्जा स्तर का और इच्छा-आसक्ति परिणाम है। इस आत्मबोध से भय समाप्त होने लगता है इसलिए आध्यात्मिक चेतना मनुष्य को निर्भय बनाती है।

जब योगी चेतना को उन्नत कर लेता तब इस स्थिति को बनाकर रखने के लिए योगी को ब्रह्मचर्य का पालन कठोरता से करना चाहिए क्योंकि मनुष्य की मानसिक, शारीरिक और आध्यात्मिक ऊर्जा अत्यंत मूल्यवान होती है। जब मनुष्य इन्द्रियभोग, विषय-वासनाओं और असंयम में अधिक डूब जाता है, तब उसकी चेतना बिखरने लगती है। मन चंचल हो जाता है, स्मरण शक्ति कमजोर होती है और ध्यान स्थिर नहीं रह पाता। इसके विपरीत ब्रह्मचर्य मनुष्य की ऊर्जा को सुरक्षित रखता है और उसे उच्च दिशा प्रदान करता है। यही ऊर्जा आगे चलकर बुद्धि, तेज, आत्मबल और आध्यात्मिक जागृति में परिवर्तित होती है। ब्रह्मचर्य केवल शरीर का संयम नहीं, बल्कि विचारों, भावनाओं और व्यवहार की पवित्रता भी है।

यदि व्यक्ति बाहरी रूप से संयमी हो लेकिन उसके विचार अशुद्ध हों, तो वास्तविक ब्रह्मचर्य संभव नहीं है। सच्चा ब्रह्मचर्य मन, वाणी और कर्म — तीनों की शुद्धि से उत्पन्न होता है। इससे व्यक्ति के भीतर आत्मविश्वास, धैर्य और मानसिक स्थिरता बढ़ती है।

मनुष्य का मन अत्यंत चंचल होता है और निरंतर विषयों की ओर भागता रहता है। उच्च ऊर्जा स्तर पर अगर मन का भटकाव होता है तो यह साधक को तीव्रता से ध्यान मार्ग से भटका सकता है इसलिए ध्यान की प्रक्रिया दौरान मन का नियंत्रण जरूरी होता है। जब साधक ध्यान, अभ्यास और वैराग्य द्वारा मन को नियंत्रित करता है, तब उसकी चेतना भीतर की ओर मुड़ने लगती है। धीरे-धीरे उसका चित्त परमात्मा (सर्वव्यापक चेतना) में स्थिर हो

जाता है। यही योग की सर्वोच्च अवस्था है, जहाँ व्यक्ति स्वयं को परम चेतना का अंश अनुभव करता है।

साधक को अपनी शुद्ध चेतना में निरंतर अपने आत्मस्वरूप को योग में लगाना चाहिए। यहाँ योग का अर्थ केवल आसन या प्राणायाम नहीं, बल्कि अपनी चेतना को बाहरी विषयों से हटाकर भीतर की ओर ले जाना है। सामान्य मनुष्य का मन संसार के आकर्षणों, इच्छाओं, भय और मोह में भटकता रहता है। इससे उसकी चेतना निम्न अवस्था में बनी रहती है। लेकिन जब साधक नियमित अभ्यास, ध्यान और आत्मसंयम द्वारा अपने मन को नियंत्रित करता है, तब उसकी चेतना धीरे-धीरे उन्नत होकर शुद्ध होने लगती है।

इस स्थिति में व्यक्ति परम शांति को प्राप्त होता है। यदि मन नियंत्रित न हो, तो व्यक्ति कभी स्थायी शांति प्राप्त नहीं कर सकता। योग का उद्देश्य मन को दबाना नहीं, बल्कि उसे शुद्ध और स्थिर बनाना है। जब मन शांत होता है, तब चेतना का प्रकाश स्पष्ट होने लगता है और व्यक्ति अपने वास्तविक आत्मस्वरूप का अनुभव करने लगता है। ऐसा योगी “शान्तिं निर्वाणपरमाम्” अर्थात् परम निर्वाणमयी शांति को प्राप्त करता है। निर्वाण का अर्थ केवल दुःखों का अंत नहीं, बल्कि सीमित अहंकार और अज्ञान से मुक्ति है। जब मनुष्य की चेतना शरीर, मन और संसार की सीमाओं से ऊपर उठती है, तब वह अनंत शांति और आनंद का अनुभव करती है।

श्लोक 16-17

नात्यश्रतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्रतः ।

न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।

युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥

अर्थ:-अर्जुन! यह योग न तो बहुत खाने वाले का और न बिल्कुल न खाने (उपवास रखने) वाले का सिद्ध होता है। इसी प्रकार, यह योग न तो बहुत अधिक सोने वाले का और न ही निरंतर जागने वाले का सफल होता है। खान-पान (आहार) और आमोद-प्रमोद/मनोरंजन (विहार) में संयमित या नियमित रहने वाले व्यक्ति जो अपने कर्तव्यों (कर्मों) और चेष्टाओं में संतुलित रहने वाले और सोने (स्वप्न) और जागने (अवबोध) की आदतें नियमित रखने

वाले का योग (ध्यान/आत्मा का परमात्मा से मिलन) हो जाता है। जो समस्त दुखों का नाश करने वाला है।

सार (श्लोक 16-17):- इन दो श्लोक में “संयमित जीवन” ही योग और आंतरिक शांति का आधार है। यह श्लोक साधक को किस प्रकार ध्यान और साधना के दौरान मूलभूत बातों का ध्यान रखना चाहिए उन बातों पर केंद्रित है। योग में स्थिर रहने के लिए व्यक्ति को खान पान संबंधी आदतों को नियंत्रित करना चाहिए क्योंकि अधिक भोजन करने से व्यक्ति की ऊर्जा भोजन पचाने में अधिक खर्च होगी जिससे आलस बढ़ जाता है और अगर भोजन अच्छे से न पच पाए तो भिन्न भिन्न रोग भी उत्पन्न हो सकते हैं जिससे ध्यान में भटकाव/विघ्न आ जाता है।

इसी प्रकार अत्यधिक सोने से भी तमोगुण बढ़ता है और आलस्य भी बढ़ने लगता है और ध्यान, साधना के लिए कम समय मिल पाता है। कम सोने से भी व्यक्ति शारीरिक और मानसिक थकावट को दूर नहीं कर पाता जिससे थकावट बनी रहने से ताजगी नहीं आती। इसलिए योगिक विधियों में शरीर की प्रकृति, स्वास्थ्य, ऊर्जा स्तर के आधार पर व्यक्ति को संतुलित आहार, संतुलित शयन करने पर बल दिया जाता है।

चेतना के संदर्भ में अत्यधिक भोजन करने पर चेतना भारी, सुस्त और जड़ता की ओर जाती है। ध्यान में एकाग्रता कठिन हो जाती है। अत्यधिक उपवास या शरीर को बहुत कष्ट देने पर चेतना अशांत, चंचल और दुर्बल हो सकती है।

बहुत अधिक सोना चेतना को तमस (जड़ता) की ओर ले जाता है। बहुत कम सोना चेतना को अस्थिर और विक्षिप्त बना सकता है। इसलिए शरीर और मन को स्वस्थ रखने के लिए संतुलित भोजन करें, पर्याप्त और नियमित नींद लें, कर्म और विश्राम में उचित संतुलन रखें, जीवन में मध्यम मार्ग (Moderation) अपनाएँ।

व्यक्ति को साधना करने के दौरान यथायोग्य कर्म करना चाहिए क्योंकि कर्म केवल बाहरी क्रिया नहीं है। प्रत्येक कर्म के पीछे चेतना की एक अवस्था होती है।

बेचैन चेतना से किया गया कर्म तनाव उत्पन्न करता है वही सजग चेतना से किया गया कर्म शांति उत्पन्न करता है। इसलिए यहाँ संकेत है कि कर्म करते समय चेतना बिखरी हुई न हो, बल्कि उपस्थित (present) रहे।

श्लोक 18:-

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥

अर्थ:-जिस काल में (जब) अतिशय वश में किया हुआ चित्त (मन) परमात्मा में ही भलीभांति स्थित हो जाता है स्पृहा (इच्छा) रहितसम्पूर्ण भोगों (कामनाओं) से उस काल में (तब) योगयुक्त है, ऐसा कहा जाता है।

श्लोक 19:-

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः॥

अर्थ:-जिस प्रकार वायु रहित (हवा न चलने वाले) स्थान में रखा हुआ दीपक नहीं हिलता-डुलता (झिलमिलाता नहीं है), उसी प्रकार अपने मन को वश में करके परमात्मा के ध्यान में लगे हुए योगी का संयमित चित्त सदैव स्थिर रहता है।

सार(श्लोक 18-19) :-चित्त जो मन, विचार, भावनाएँ, यादें और संज्ञान (cognition) सहित मानसिक गतिविधियों के पूरे स्पेक्ट्रम को दर्शाता है, यह हमारे आंतरिक अनुभव का वो गहरा हिस्सा है जहाँ सब कुछ संग्रहीत होता है उसको शुद्ध चेतना से पूर्ण कर ध्यान में बैठा साधक योग को प्राप्त करता है। मनुष्य के जीवन में सबसे बड़ी चुनौती बाहरी संसार नहीं, बल्कि उसका अपनी मानसिक गतिविधियाँ हैं। मन निरंतर किसी न किसी वस्तु, व्यक्ति, सुख, उपलब्धि या भविष्य की कल्पना की ओर दौड़ता रहता है। हमारी इच्छाएँ ही मन को बाहरी संसार से बाँधती हैं। यह श्लोक इंगित करता है कि जब मनुष्य अपने मन को संयमित करके उसे अपने ही आत्मस्वरूप में स्थिर कर लेता है और संसार की कामनाओं से भीतर से मुक्त हो जाता है, तभी वह वास्तव में योगी या युक्त कहलाता है।

यहाँ “विनियतं चित्तम्” का अर्थ है—नियंत्रित और संयमित चित्त। सिर्फ इन्द्रियों के प्रत्याहार से ही मन स्थिर होकर शुद्ध चेतना को प्राप्त नहीं होगा बल्कि इसके लिए जरूरी है जो स्मृति के रूप में जमा इच्छाएँ, आसक्तियाँ, संस्कार हैं उनका भी निरोध करना जरूरी है जिसे सामान्य अर्थ में “चित्त वृत्ति निरोध” कहा जाता है। इसी प्रकार चित्त को नियंत्रित करने का अर्थ यह नहीं है कि मन, भावना, यादों, विचारों को जबरदस्ती रोक दिया जाए। बल्कि

इसका अर्थ है कि मनुष्य अपने मन, भाव, विचार, यादों पर नियंत्रण प्राप्त कर सके। सामान्य अवस्था में हमारा मन परिस्थितियों, इच्छाओं और इन्द्रिय-विषयों के अनुसार प्रतिक्रिया करता है। किसी ने प्रशंसा की तो प्रसन्नता, आलोचना की तो दुःख; कुछ प्राप्त हुआ तो सुख और कुछ खो गया तो दुःख। इस प्रकार चित्त लगातार बाहरी घटनाओं से संचालित होता रहता है।

शयोग की अवस्था में यही चित्त “आत्मनि एव अवतिष्ठते”—अर्थात् आत्मा में ही स्थित हो जाता है। यहाँ आत्मा का अर्थ हमारे शरीर, विचार, भावनाओं या सामाजिक पहचान से परे उस चैतन्य सत्ता से है, जो इन सभी अनुभवों की साक्षी है। जब साधक धीरे-धीरे अपने, भावनाओं, इन्द्रियों की प्रवृत्ति, विचारों और इच्छाओं को देखने लगता है, तब उसे अनुभव होता है कि मैं अपने न ही मैं कोई भावना हूँ, मैं न ही विचार हूँ, मैं अपनी इच्छाएँ नहीं हूँ; न ही मन हूँ मैं तो इन सबका साक्षी हूँ।

इसके बाद श्लोक का दूसरा महत्वपूर्ण शब्द आता है—“निःस्पृहः सर्वकामेभ्यः”। इसका अर्थ है कि मनुष्य सभी कामनाओं से स्पृहारहित हो जाए। इसका अर्थ इच्छाओं का जबरन दमन करना नहीं है। इच्छा का दमन करने पर वह भीतर और अधिक शक्ति के साथ लौट सकती है। वास्तविक वैराग्य तब उत्पन्न होता है जब मनुष्य को यह समझ में आने लगता है कि बाहरी वस्तुओं से मिलने वाला सुख स्थायी नहीं है। तब उसकी निर्भरता बाहरी उपलब्धियों पर कम होती जाती है और भीतर की शांति अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है।

इसे एक सरल उदाहरण से समझ सकते हैं। जब तक दीपक की लौ हवा के झोंकों से प्रभावित होती रहती है, वह स्थिर प्रकाश नहीं दे सकती। लेकिन जब हवा शांत हो जाती है, तो वही लौ स्थिर होकर प्रकाश देती है। इसी प्रकार इच्छाओं, भय, अपेक्षाओं और विचारों की हवाओं से विचलित मन अशांत रहता है। जब चित्त आत्मचेतना में स्थिर होता है, तब भीतर एक ऐसी शांति प्रकट होती है जो बाहरी परिस्थितियों पर निर्भर नहीं रहती।

इसलिए योग केवल आसन, प्राणायाम या ध्यान की कोई बाहरी क्रिया नहीं है। योग वास्तव में चित्त की दिशा का परिवर्तन है—बाहर से भीतर की ओर, वस्तुओं से चेतना की ओर, इच्छा से साक्षीभाव की ओर और अस्थिरता से आत्मस्थिति की ओर।

इस श्लोक बताता है कि मनुष्य की वास्तविक स्वतंत्रता इच्छाओं की पूर्ति में नहीं, बल्कि इच्छाओं की मानसिक गुलामी से मुक्त होने में है। जब चित्त आत्मा में स्थित हो जाता है,

तब संसार मौजूद रहते हुए भी मनुष्य उसके द्वारा संचालित नहीं होता। वह कर्म करता है, संबंध निभाता है और जीवन जीता है, लेकिन उसके भीतर की शांति बाहरी परिस्थितियों की मोहताज नहीं रहती।

यही अवस्था योग है—जहाँ मन स्वयं में लौट आता है, इच्छाएँ अपनी पकड़ खो देती हैं और मनुष्य अपने भीतर स्थित चेतना का अनुभव करने लगता है। इस अर्थ में यह श्लोक केवल ध्यान की तकनीक नहीं, बल्कि मनुष्य की आंतरिक यात्रा का वर्णन है—अशांत मन से आत्मस्थित चेतना तक की यात्रा।

नोट:-आगे के तीन श्लोक ध्यान द्वारा “योग” या “सर्वव्यापक शुद्ध चेतना (परमात्मा)” को प्राप्त व्यक्ति के लक्षण बताते हैं।

श्लोक 20:-

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।

यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥

अर्थ:-जिस अवस्था में योग के अभ्यास द्वारा “चित्त वृत्ति निरोध” को प्राप्त हो जाता है एवं संयमित हो जाता है और ध्यान से शुद्ध आत्मा द्वारा परमात्मा को साक्षात् करता हुआ अपने मूल स्वरूप में संतुष्ट (प्रसन्न) रहता है।

सार :-चित्त जो मन, इच्छाएँ, विचार, भावनाएँ, यादें, संस्कार, कल्पनाएँ, आसक्ति सहित मानसिक गतिविधियों के पूरे स्पेक्ट्रम को दर्शाता है, यह हमारे आंतरिक अनुभव का वो गहरा हिस्सा है जहाँ सब कुछ संग्रहीत होता है। मन रूपी सरोवर में उठने वाली सांसारिक इच्छाएँ, विचार, स्मृति के रूप में ज़मा इच्छाएँ, आसक्तियाँ, संस्कार और कल्पनाओं के रूप में जो चित्तवृत्ति है उनका भी निरोध करना जरूरी है जिसे सामान्य अर्थ में “चित्त वृत्ति निरोध” कहा जाता है। जब चित्तवृत्तियाँ शांत हो जाती हैं तब मन-बुद्धि पूरी तरह स्थिर हो जाता है और मनुष्य अपने वास्तविक स्वरूप (शुद्ध चेतना) को जान पाता है।

ये श्लोक केवल चित्त या मन को नियंत्रित करने की शिक्षा नहीं देता, बल्कि मानव चेतना की उस अवस्था की ओर संकेत करता है जहाँ देखने वाला, देखा जाने वाला और देखने

की प्रक्रिया—तीनों की सीमाएँ धीरे-धीरे विलीन होने लगती हैं। यही आत्मबोध की दिशा है।

यत्रोपरमते चित्तम्” अर्थात् वह अवस्था जहाँ चित्त की निरंतर गति शांत होने लगती है। सामान्य मन बाहर की वस्तुओं में अपना सुख खोजता है। धन, प्रतिष्ठा, संबंध, उपलब्धियाँ और इच्छाएँ उसे लगातार एक विषय से दूसरे विषय की ओर ले जाती हैं। मन को लगता है कि अगली उपलब्धि उसे पूर्ण कर देगी, लेकिन एक इच्छा पूरी होते ही दूसरी इच्छा उत्पन्न हो जाती है। जब चित्त बाहरी विषयों से धीरे-धीरे हटकर स्वयं के साक्षी स्वरूप में स्थिर होता है, तब मन की बेचैनी कम होने लगती है। यही चित्त का निरोध है।

“आत्मनात्मानं पश्यन्” स्वयं में स्वयं का दर्शन। यह वाक्य चेतना की उच्चतम अवस्था की ओर इंगित करता है। यहाँ देखने वाला बाहर किसी वस्तु को नहीं देख रहा। यहाँ चेतना स्वयं को ही पहचानने लगती है। द्रष्टा और दृश्य एक हो जाते हैं। आँख वस्तुओं को देखती है, मन उनका अर्थ समझता है और बुद्धि निर्णय करती है। लेकिन इन सभी अनुभवों की उपस्थिति का आधार सर्वव्यापक शुद्ध चेतना है। इसलिए आत्मबोध किसी बाहरी वस्तु की प्राप्ति नहीं है। यह अपने वास्तविक स्वरूप की पहचान है। चेतना को हम किसी वस्तु की तरह पकड़ नहीं सकते। हम उसे आँखों से नहीं देख सकते, हाथों से स्पर्श नहीं कर सकते और किसी प्रयोगशाला में किसी सीमित वस्तु की तरह अलग करके रख नहीं सकते। क्योंकि चेतना स्वयं वह आधार है जिसके कारण देखने, सुनने, सोचने और अनुभव करने की क्षमता संभव होती है। जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश में सभी वस्तुएँ दिखाई देती हैं, उसी प्रकार चेतना के प्रकाश में विचार, भावनाएँ, स्मृतियाँ और संसार का अनुभव संभव होता है। परंतु जब साधक भीतर की ओर जाता है, तब वह धीरे-धीरे यह समझने लगता है कि चेतना किसी अनुभव की वस्तु नहीं, बल्कि सभी अनुभवों की साक्षी और आधार है।

जब व्यक्ति चेतना को शुद्ध कर लेता है तो वह स्वयं में संतुष्ट होने लगता है। जब व्यक्ति अपने अस्तित्व को केवल शरीर, मन, पद, संबंध या उपलब्धियों तक सीमित नहीं मानता और अपने भीतर उपस्थित साक्षी चेतना को पहचानने लगता है, तब उसके भीतर एक ऐसी शांति उत्पन्न होती है जिसे बाहरी परिस्थितियाँ आसानी से विचलित नहीं कर सकतीं। योग का वास्तविक अर्थ केवल शारीरिक आसनों तक सीमित नहीं है। योग चेतना की यात्रा है— विक्षिप्त मन से एकाग्र मन की ओर, एकाग्र मन से शांत मन की ओर और शांत मन से साक्षी

चेतना की ओर। जब मन संसार में स्वयं को खोजता है, तो उसे निरंतर कुछ प्राप्त करना पड़ता है। जब मन स्वयं में लौटता है, तो उसे कुछ प्राप्त करने के बजाय कुछ पहचानना पड़ता है।

वह पहचान है—

“मैं केवल शरीर नहीं हूँ।

मैं केवल मन नहीं हूँ।

मैं केवल विचार नहीं हूँ।

मैं वह चेतना हूँ, जिसके प्रकाश में शरीर, मन और संसार का अनुभव हो रहा है।”

श्लोक 21:-

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।

वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥

अर्थ:—योगी जिस अवस्था में उस परम आनंद को अनुभव करता है जो इन्द्रियों से परे है, जिसे सूक्ष्म बुद्धि द्वारा जाना जा सकता है, और जिसे प्राप्त करके वह अपने वास्तविक स्वरूप से विचलित नहीं होता, उस अवस्था को जान लेना ही आत्मिक स्थिरता है।

श्लोक 22:-

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।

यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।

अर्थ:—जिस योग को प्राप्त होकर साधक उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता और जिस आत्मानंद की स्थिति में स्थित होकर वह बड़े से बड़े भारी दुःख से भी विचलित नहीं होता (या अडिग रहता है)।

सार(श्लोक 21-22):- “अतीन्द्रियम्” — इन्द्रियों से परे। अर्थात् ऐसा आनंद जिसका स्रोत कोई बाहरी वस्तु नहीं है। जब चेतना बाहरी विषयों पर निर्भर रहने के बजाय स्वयं में स्थित होने लगती है, तब एक ऐसी शांति प्रकट होती है जो किसी वस्तु के मिलने या न मिलने पर

निर्भर नहीं रहती। यह आनंद इन्द्रियों से दिखाई नहीं देता। इसे किसी वस्तु की तरह देखा या छुआ नहीं जा सकता।

इसलिए 21वे श्लोक में —“बुद्धिग्राह्यम्” शब्द का प्रयोग किया गया है। यहाँ बुद्धि का अर्थ केवल तर्क करने वाली बुद्धि नहीं है, बल्कि शुद्ध और सूक्ष्म विवेक है। जब मन शांत होता है, तब बुद्धि यह पहचानने लगती है कि—

मैं अपने विचारों को जानता हूँ, इसलिए मैं केवल विचार नहीं हूँ। मैं अपनी भावनाओं को देखता हूँ, इसलिए मैं केवल भावनाएँ नहीं हूँ। मैं शरीर के परिवर्तन को अनुभव करता हूँ, इसलिए मेरा वास्तविक स्वरूप केवल शरीर तक सीमित नहीं है। यह पहचान चेतना के साक्षी स्वरूप की ओर ले जाती है।

उस अवस्था में स्थित होकर साधक “तत्त्वतः” अपने वास्तविक स्वरूप से विचलित नहीं होता। संसार में परिस्थितियाँ बदलती रहती हैं—सफलता-असफलता, लाभ-हानि, प्रशंसा-निंदा, सुख-दुःख। लेकिन चेतना का साक्षी स्वरूप इन परिवर्तनों को देखता रहता है। इसका अर्थ यह नहीं कि योगी को दुःख महसूस ही नहीं होता। बल्कि उसका संबंध दुःख से बदल जाता है। जब मनुष्य बाहर की वस्तुओं में स्थायी सुख खोजने के बजाय अपने भीतर की चेतना को जानना शुरू करता है, तब उसके जीवन में एक बड़ा परिवर्तन आता है। वह समझता है कि वास्तविक शांति बाहर की परिस्थितियों को बदलने से नहीं, बल्कि अपने भीतर की अवस्था को समझने से आती है।

मनुष्य के भीतर आनंद का एक ऐसा स्रोत मौजूद है जो बाहरी वस्तुओं से स्वतंत्र है। योग, ध्यान और आत्मचिंतन के द्वारा जब मन शांत होता है, तब चेतना अपने वास्तविक स्वरूप को पहचानने लगती है। पहले मनुष्य स्वयं को अपने शरीर, विचारों, भावनाओं और परिस्थितियों से जोड़कर देखता है। यदि शरीर को कष्ट होता है तो वह सोचता है—“मैं दुखी हूँ।” यदि कोई उसकी प्रशंसा करता है तो वह प्रसन्न होता है और यदि कोई अपमान करता है तो उसका मन दुखी हो जाता है। लेकिन चेतना के जागरण के साथ व्यक्ति धीरे-धीरे अपने भीतर एक साक्षी भाव को पहचानने लगता है। वह समझता है कि विचार बदल रहे हैं, भावनाएँ बदल रही हैं और परिस्थितियाँ बदल रही हैं, लेकिन इन सबको देखने वाली चेतना इनके परिवर्तन की साक्षी है।

“यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः” अर्थात् जब यह आंतरिक उपलब्धि प्राप्त हो जाती है, तब मनुष्य को इससे बड़ी कोई दूसरी उपलब्धि दिखाई नहीं देती। यहाँ “लाभ” का अर्थ संसार से दूर भागना नहीं है। इसका अर्थ है कि संसार की वस्तुएँ अब मनुष्य की आंतरिक पूर्णता का एकमात्र आधार नहीं रहतीं। वह सफलता प्राप्त करता है तो उसका आनंद लेता है, लेकिन उसकी पहचान केवल सफलता से नहीं होती। उसे असफलता मिलती है तो वह उससे सीखता है, लेकिन असफलता को अपने अस्तित्व की अंतिम सच्चाई नहीं मानता।

यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते अर्थात् जिस चेतना की अवस्था में स्थित होकर मनुष्य बड़े से बड़े दुःख से भी पूरी तरह विचलित नहीं होता। इसका अर्थ यह नहीं है कि चेतना में स्थित व्यक्ति को दुःख महसूस नहीं होता। शरीर को पीड़ा हो सकती है, मन में दुःख आ सकता है और जीवन में कठिन परिस्थितियाँ भी आ सकती हैं। अंतर केवल इतना है कि अब व्यक्ति दुःख को अपनी पूरी पहचान नहीं बना लेता। अपने अहं को किसी भी घटना, क्रिया से अलग कर लेता है।

नोट:-श्लोक 23 वा व्यक्तियों को प्रेरणा देने के लिए “योग” को क्यों प्राप्त करना चाहिए, क्यों धैर्य पूर्वक “योग” के लिए कर्म करना चाहिए इसका वर्णन करता है।

श्लोक 23:-

तं विद्यादुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥

अर्थ:-जिस अवस्था में दुःखों (संसार की पीड़ाओं) के साथ सर्वथा संयोग का वियोग (अर्थात् अलगाव या मुक्ति) हो जाता है, उस, दुःख-दर्द से रहित अवस्था को ही 'योग' के नाम से जानना चाहिए। इस योग का अभ्यास बिना किसी प्रकार की खिन्नता, उदासी या मन की हार के, पूर्ण दृढ़ संकल्प और धैर्य के साथ करना चाहिए।

सार:- जब व्यक्ति अपनी चेतना को शुद्ध एवं सर्वव्यापक कर लेता है तब समस्त क्रिया वह स्वयं में घटित होते पाता है और इस शुद्ध चेतना को सभी में व्याप्त देखता है जिस कारण न ही कोई इच्छा रहती है और न ही किसी से द्वेष रहता है। इस अवस्था में जो घटित हो रहा

है परमात्मा रूपी सर्वव्यापक शुद्ध चेतना की योजना मान कर व्यक्ति स्वयं में संतोष प्राप्त कर लेता है। जिस कारण इस योग रूप में वह दुःख से मुक्त हो जाता है।

यहाँ दुःख केवल बाहरी परिस्थितियों का नाम नहीं है। दुःख का वास्तविक संबंध हमारी चेतना और मन की पहचान से है। जब चेतना स्वयं को शरीर, विचार, इच्छाओं, स्मृतियों, सफलता-असफलता और परिस्थितियों के साथ पूरी तरह जोड़ लेती है, तब इन सबमें होने वाला परिवर्तन हमें भीतर से प्रभावित करता है। योग का अर्थ परिस्थितियों से भागना नहीं, बल्कि चेतना और परिस्थितियों के बीच की अनावश्यक आसक्ति को समाप्त करना है।

चेतना की यात्रा तुरंत पूरी नहीं होती। मन बार-बार पुराने विचारों, इच्छाओं, भय और आसक्तियों की ओर जाएगा। साधक को इससे निराश नहीं होना चाहिए। प्रत्येक बार जब वह अपने मन को पहचानकर पुनः साक्षी चेतना में स्थापित करता है, तब उसकी चेतना थोड़ी और स्वतंत्र होती जाती है।

इस प्रकार योग चेतना का दमन नहीं, बल्कि चेतना का अपने वास्तविक स्वरूप की ओर लौटना है। योग वह अवस्था है जिसमें चेतना संसार से नहीं, बल्कि संसार के प्रति अपनी आसक्ति और पहचान से मुक्त होती है। जब चेतना साक्षी बन जाती है, तब दुःख अनुभव तो हो सकता है, परंतु वह चेतना को अपने भीतर से विचलित नहीं कर पाता।”

नोट:- आगे के दो श्लोक पुनः “योग” को प्राप्त करने लिए आवश्यक तत्व को बताते हैं।

श्लोक 24:-

सङ्कल्पप्रभवांकमास्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।

मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः॥

अर्थ:-मन में संकल्प (तथ्य या इच्छा) से पैदा होने वाली सभी कामनाओं या इच्छाओं को छोड़ दें। संसार संबंधित सभी इच्छाओं का पूर्ण रूप से त्याग कर हमें मन द्वारा इन्द्रियों पर सभी ओर से अंकुश लगाना चाहिए।

श्लोक 25:-

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥

अर्थ:-साधक को धैर्ययुक्त बुद्धि द्वारा धीरे-धीरे अभ्यास करते हुए मन को परमात्मा या आत्मा में लीन करना चाहिए और अन्य किसी भी सांसारिक विषय का चिंतन नहीं करना चाहिए।

सार(श्लोक 24-25):- मन मुख्यतः चेतन मन, अवचेतन मन, अचेतन मन, अतिचेतन मन के स्तर पर चेतनाओं को विस्तृत रूप से समझने की क्षमता रखता है लेकिन व्यक्ति मन के संकल्प-विकल्प से उत्पन्न होने वाली इच्छाओं, योजनाओं में उलझा रहता है जिसे वह इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त अनुभव के आधार पर प्रयोग करता है लेकिन जैसे जैसे व्यक्ति इन्द्रियों के प्रत्याहार द्वारा ध्यान द्वारा मन की गहराईयों में उतरता है तो चेतना के नये आयाम मन के लिए खुलते हैं।

इस अनुक्रम में जब मन अहं का त्याग कर, चित्त वृत्ति निरोध (जमा हुई इच्छाएँ, भावनाएँ, सूचनाएँ का मानसिक स्तर पर रोकना) विकृत बुद्धि का त्याग एवं जागरूकता बढ़ा कर मन को उच्च स्व (आत्मा) के स्तर पर लाने में सक्षम होता है तथा मन स्वयं शुद्ध चेतना में रूपांतरित हो जाता है। मन का कोई अस्तित्व नहीं रहता। अब दृष्टा (आत्मा) एवं दृश्य (सर्वव्यापक चेतना) एक हो जाती है या कहे इन दोनों के बीच किसी भी प्रकार का अंतर नहीं होता।

मन, बुद्धि, अहं, चित्त, इन्द्रियों द्वारा व्यक्ति प्रकृति के गुणों से प्रभावित होकर निरन्तर इच्छाओं और आसक्ति के साथ व्यक्ति संसार में फँसा रहता है। व्यक्ति मन, बुद्धि, चित्त, अहं द्वारा निर्मित संसार को ही परम सत्य मानकर कर्म करता रहता है और शरीर मन की सीमाओं में बंधे रहने के कारण शुद्ध चेतना या आत्मा की वास्तविकता से दूर रहता है इसलिये मन को ध्यान, अभ्यास और वैराग्य द्वारा प्रकृति के गुणों से परे ले जाने की जरूरत है एवं सभी इच्छाओं व आसक्तियों का त्याग कर, इन्द्रियों का प्रत्याहार (Withdraw) कर मन को शान्त एवं स्थिर करने की जरूरत है साथ ही मन, बुद्धि, चित्त, अहं की प्रवृत्ति का त्याग कर व्यक्ति अपने स्व (Self) या आत्मा में स्थापित हो सकता है और यही सर्वव्यापक चेतना का मूल स्वरूप है।

शुद्ध चेतना (आत्मा) में मन को स्थापित करने के लिए मन को समय से परे अर्थात् चतुर्थ आयाम से परे स्थापित करना होगा या कहे समाधि के स्तर (समय से आदि) ले जाना होगा कि मन में त्रि-आयामी जगत के चित्रण की तरंग और उनमें समय की वृत्ति को शांत करना जरूरी है और मन को उस ऊर्जा कंपन या आवृत्ति कंपन (Vibrational Frequency) के साथ संरेखित करना जिससे मन सर्वव्यापक चेतना में स्थापित होने में सक्षम हो सके या मन का चेतना में विलीन होने के लिए तैयार हो सके।

मन को जबरदस्ती विचारशून्य करना संभव नहीं। साधना में पहले विचारों को देखा जाता है, फिर उनसे दूरी बनती है और धीरे-धीरे मन की पकड़ ढीली होने लगती है।

“बुद्ध्या धृतिगृहीतया” —दृढ़ विवेक और धैर्य के द्वारा जब साधक समझने लगता है कि “मैं अपने विचार नहीं हूँ; विचारों को देखने वाली चेतना हूँ, ” तब वह विचारों से अपनी पहचान अलग करना शुरू करता है। मन को आत्मा (शुद्ध चेतना) में स्थापित करना यहाँ मन-बुद्धि बाहर की वस्तुओं में अपना आधार खोजने के बजाय अपने ही अस्तित्व में विश्राम करने लगते हैं। देखने वाला स्वयं अपने भीतर लौट आता है। जब चेतना विचारों और विषयों के साथ अपनी पहचान बनाती है, तब वह सीमित अनुभव करती है। लेकिन जब वह धीरे-धीरे मन से पीछे हटकर साक्षी भाव में स्थित होती है, तब चेतना अपने व्यापक स्वरूप को पहचानने लगती है।

श्लोक 26:-

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।

ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥

अर्थ:-यह चंचल और अस्थिर मन अपनी स्वाभाविक आदत के कारण जिस-जिस शब्द, रूप आदि विषय की तरफ भटके, तब-तब इसे वहाँ से हटाकर और पूरी तरह नियंत्रित करके बार-बार अपनी आत्मा (परमात्मा) के स्वरूप में ही लगाना चाहिए।

सार:-मन चेतना का एक उपकरण है। चेतना वह आधार है जिसके कारण हमें विचारों, भावनाओं, इच्छाओं और अनुभवों का बोध होता है।

मन का स्वभाव है चलते रहना। कभी वह भविष्य की चिंता करता है, कभी अतीत को याद करता है, कभी किसी इच्छा के पीछे दौड़ता है और कभी किसी भय में उलझ जाता है।

इसलिए मन को रोकना उसका स्वभाव बदलने जैसा है। गीता कहती है कि मन को जबरदस्ती रोकना आवश्यक नहीं है; बल्कि जहाँ वह चला गया है, वहाँ से उसे पहचानकर वापस चेतना के केंद्र में लाना है।

जब व्यक्ति विचारों में पूरी तरह डूबा रहता है, तब उसकी पहचान मन से हो जाती है—“मैं चिंतित हूँ”, “मैं दुखी हूँ”, “मैं असफल हूँ।” लेकिन जब चेतना साक्षी बनती है, तब अनुभव बदल जाता है—“मेरे भीतर चिंता का विचार उठ रहा है, लेकिन मैं उस विचार को देखने वाला हूँ।” मन का भटकना चेतना की समस्या नहीं, बल्कि चेतना का मन के साथ अत्यधिक तादात्म्य है। जब चेतना स्वयं को मन के विचारों से अलग पहचानने लगती है, तब मन धीरे-धीरे शांत होने लगता है।

इसलिए श्रीकृष्ण कहते हैं—“ततस्ततो नियम्य” —मन को बार-बार वापस लाओ। इसका अर्थ है कि ध्यान में मन सौ बार भटके तो सौ बार उसे वापस लाओ। मन का भटकना असफलता नहीं है; हर बार उसे साक्षी भाव में वापस लाना ही साधना है।

अंततः “आत्मन्येव वशं नयेत्”—मन को आत्मा में स्थित करना है। अर्थात् मन बाहरी वस्तुओं, इच्छाओं और विचारों में अपनी पूर्णता खोजने के बजाय उस चेतना में टिकना सीखता है जो इन सभी अनुभवों की साक्षी है।

श्लोक 27:-

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।

उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥

अर्थ:-जिस योगी का मन पूरी तरह शांत हो जाता है, जिसके सारे विकार और रजोगुण शांत हो जातता हैं, जो पापरहित है और ब्रह्म के साथ एक हो गया है, वह उत्तम और दिव्य सुख को प्राप्त करता है।

श्लोक 28:-

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥

अर्थ:-जो योगी निरंतर मन को परमात्मा में लगाता है, वह पापों से रहित होकर आसानी से ब्रह्म के साथ एकरूपता का अनुभव करता है और असीम व सर्वोच्च आनंद को प्राप्त करता है।

सार(श्लोक 27-28):- जब मन में लगातार विचार, इच्छाएँ, भय और स्मृतियाँ चलती रहती हैं, तो हमारी ध्यान-ऊर्जा बार-बार एक विषय से दूसरे विषय पर जाती है। बार-बार बाहरी विषयों पर जाने से व्यक्ति की ऊर्जा बिखरती हुई महसूस होती है। बार-बार मन को चेतना के केंद्र में लौटने से ध्यान अधिक स्थिर होता जाता है। जब व्यक्ति ऊर्जा को संरेखित कर मूलाधार चक्र से उच्च ऊर्जा केंद्र (अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा, सहस्रार चक्र) के साथ संरेखित करता है तब ऊर्जा के विचलन न होने से मन शांत होने लगता है। उच्च ऊर्जा केन्द्रों के साथ मन के संरेखन (alignment) मन के आध्यात्मिक चेतना, परमचेतना के साथ जुड़ाव का प्रतीक है यह केन्द्र मन को ब्रह्मांडीय चेतना के साथ संरेखित करने में सहायक है। इससे व्यक्ति की ऊर्जा और मन निम्न ऊर्जा केन्द्र (पाप या तमस गुण) और मध्यम ऊर्जा केंद्र (रजोगुण) से ऊपर उठने से व्यक्ति प्रेम, आनन्द, शान्ति का अनुभव करता है और व्यक्ति के मन को समय - स्थान से परे चेतना के पाँचवें आयाम में स्थापित करने में सहायक है। यह मन को सत् चित् आनन्द की अनुभूति कराता है जो अनन्त अस्तित्व (सत्), अनन्त चेतना (चित्) एवं आनन्दमय है एवं जो सुख-दुख की उत्तेजना से परे है। यह चेतना का केन्द्र मन को सर्वव्यापक चेतना से जोड़ता है जो मन को त्रि-आयामी जगत, चतुर्थ आयाम समय के परे ले जाता है। अब व्यक्तिगत मन परम चेतन मन के रूप में रूपान्तरित होने लगता है। मन का यह रूपान्तरण सभी व्यक्तियों के लिए अलग-अलग हो सकता है तथा मन को इस स्तर पर पहुँचने के अनुभव भी अलग-अलग हो सकते हैं। इस केन्द्र में मन स्वयं दृष्टा एवं दृश्य बनने लगता है अर्थात् दृष्टा एवं दृश्य में भेद समाप्त हो जाता है।

जब मन विचारों, इच्छाओं, भय, स्मृतियों और अहंकार की पकड़ से धीरे-धीरे मुक्त होता है, तब चेतना अपने मूल स्वरूप में अधिक स्पष्ट दिखाई देती है। जिसे हम शुद्ध चेतना

(आत्मा) कहते हैं। श्लोक 28 मनुष्य की आंतरिक यात्रा को शुद्ध चेतना से सर्वव्यापक चेतना की अनुभूति तक समझाने वाला है। जो योगी निरंतर अपने मन और चेतना को आत्मा (शुद्ध चेतना) में स्थिर करता है तथा अपने भीतर के विकारों से मुक्त होता जाता है, वह सहज रूप से ब्रह्म (सर्वव्याप्त चेतना) का अनुभव करता है और परम सुख (आनंद) को प्राप्त करता है।

मनुष्य सामान्यतः अपनी चेतना को शरीर, विचारों, भावनाओं और इच्छाओं तक सीमित मानता है। इसी कारण वह सुख और दुख को बाहरी परिस्थितियों से जोड़ता है। लेकिन जब वह ध्यान और योग के माध्यम से अपने मन को शांत करता है, तब धीरे-धीरे उसे अनुभव होने लगता है कि विचार चेतना में आते-जाते हैं, भावनाएँ चेतना में उठती हैं, लेकिन चेतना स्वयं इन सबकी साक्षी है। यही अवस्था शुद्ध चेतना की ओर बढ़ने की अवस्था है।

शुद्ध चेतना का अर्थ है ऐसी चेतना जो विचारों, इच्छाओं, भय, अहंकार और मानसिक विकारों से अपनी पहचान को अलग कर लेती है। जैसे आकाश में बादल आते-जाते हैं, लेकिन आकाश स्वयं उनसे प्रभावित नहीं होता, वैसे ही चेतना में विचार और भावनाएँ आती-जाती रहती हैं। साधक जब स्वयं को विचारों के बजाय उनके साक्षी के रूप में अनुभव करने लगता है, तब उसकी चेतना अधिक निर्मल और शांत होती जाती है।

यहीं से शुद्ध चेतना और सर्वव्यापक चेतना का संबंध समझ में आता है। व्यक्ति को प्रारंभ में लगता है कि चेतना केवल उसके शरीर के भीतर है, लेकिन गहन ध्यान में वह अनुभव करता है कि शरीर और मन चेतना में ही प्रकट हो रहे हैं। अद्वैत वेदांत की दृष्टि से व्यक्तिगत चेतना और सर्वव्यापक चेतना दो अलग-अलग चेतनाएँ नहीं हैं। जैसे एक घड़े के भीतर का आकाश और घड़े के बाहर का आकाश वास्तव में अलग नहीं होते, वैसे ही व्यक्तिगत चेतना और ब्रह्मचेतना का मूल स्वरूप एक ही माना जाता है।

“ब्रह्मसंस्पर्श” किसी भौतिक वस्तु को छूना नहीं है। यह उस अवस्था की ओर संकेत करता है जिसमें मन की चंचलता शांत होकर साधक को अपने अस्तित्व की व्यापकता का अनुभव होने लगता है। तब उसका “मैं” केवल शरीर और मन तक सीमित नहीं रहता। उसे अपने भीतर ऐसी चेतना का अनुभव होता है जो व्यापक, शांत और अखंड है।

ऊर्जा और कंपन के स्तर पर भी इसे समझ सकते हैं कि जब मन निरंतर विचारों और भावनाओं की तरंगों में उलझा रहता है, तब हमारी मानसिक ऊर्जा बिखरी हुई अनुभव होती

है। ध्यान के द्वारा जब इन तरंगों के प्रति हमारी आसक्ति कम होती है, तब मन में स्थिरता आती है। यह स्थिरता चेतना को पैदा नहीं करती, बल्कि चेतना के शुद्ध स्वरूप को अधिक स्पष्ट होने देती है।

इस अवस्था में सुख किसी बाहरी वस्तु से प्राप्त नहीं होता। बाहरी सुख किसी इच्छा की पूर्ति पर निर्भर करता है, जबकि ब्रह्म-संस्पर्श का सुख भीतर की पूर्णता से उत्पन्न होता है। इसलिए श्रीकृष्ण इसे “अत्यन्तं सुखम्” कहते हैं—ऐसा आंतरिक सुख जो बाहरी परिस्थितियों से उसी प्रकार प्रभावित नहीं होता जैसे सामान्य इन्द्रिय-सुख।

अतः इस श्लोक का संक्षेपण यह है कि योग मन को दबाने की प्रक्रिया नहीं, बल्कि चेतना को उसके मूल स्वरूप में पहचानने की यात्रा है। जब मन के विकार शांत होते हैं, चेतना शुद्ध अनुभव होती है; और जब शुद्ध चेतना अपनी सीमित पहचान से आगे बढ़ती है, तब साधक को उसी चेतना की सर्वव्यापकता का अनुभव होने लगता है।

श्लोक 29:-

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।

ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

अर्थ:-योग से युक्त और सबमें समभाव से देखने वाला योगी यह देखता है कि आत्मा (परमात्मा) सभी प्राणियों में स्थित है और सभी प्राणी उस परमात्मा के अंदर स्थित हैं। वह हर जगह एक ही ईश्वरीय सत्ता के दर्शन करता है।

सार:-सामान्य अवस्था में मनुष्य स्वयं को शरीर और मन तक सीमित मानता है। वह सोचता है—“मैं अलग हूँ और संसार अलग है।” यही भेद-बुद्धि अहंकार, आसक्ति, भय और संघर्ष को जन्म देती है। लेकिन जब साधक योग के द्वारा अपने मन को स्थिर करता है और अपनी शुद्ध चेतना (आत्मा) को पहचानता है, तब उसकी दृष्टि में परिवर्तन आने लगता है।

व्यक्तिगत चेतना किसी व्यक्ति के स्वयं या मैं का अनुभव है, यह चेतना सीमित होती है तथा भौतिक जगत के अनुभव, संस्कार, भावनाओं से जुड़ी होती है। यह चेतना शरीर, मन से जुड़ी है तथा सुख-दुःख, सही-गलत इत्यादि द्वैतता के अनुभव पर आधारित है। व्यक्ति की जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्था व्यक्तिगत चेतना के अंतर्गत आते हैं लेकिन जैसे ही साधक योग में स्थापित होता है तब 'मैं' और 'मेरा' का दृष्टिकोण विलुप्त होता है तथा सभी में एकता

का दृष्टिकोण विकसित होता है और स्थाई शांति और आनंद का अनुभव होता है तो व्यक्तिगत चेतना सर्वव्यापक शुद्ध चेतना (परमात्मा) में रूपांतरित हो जाती है।

इस स्थिति में योगयुक्त व्यक्ति अनुभव करता है कि आत्मा सभी प्राणियों में स्थित है। अर्थात् मनुष्य, पशु, पक्षी और प्रकृति के विभिन्न रूपों में जो जीवन और चेतना प्रकट हो रही है, उसका मूल आधार एक ही है। शरीर अलग हैं, मन अलग हैं, व्यक्तित्व अलग हैं, लेकिन चेतना का मूल स्रोत एक माना जाता है।

इसी प्रकार “**सर्वभूतानि चात्मनि**”, अर्थात् सभी प्राणी आत्मा में स्थित हैं। इसका अर्थ यह है कि चेतना केवल प्रत्येक जीव के भीतर सीमित नहीं है, बल्कि संपूर्ण अस्तित्व उसी व्यापक चेतना में प्रकट होता है। जैसे अनेक तरंगें एक ही समुद्र में उठती हैं, वैसे ही असंख्य जीव और जगत के सभी रूप उस एक व्यापक चेतना में प्रकट होते हैं।

जब साधक अपने भीतर विचारों और भावनाओं से परे साक्षी चेतना को पहचानता है, तो वह शुद्ध चेतना का अनुभव करता है। आगे जब वही दृष्टि सभी प्राणियों की ओर जाती है, तो उसे अनुभव होता है कि जिस चेतना का साक्षी वह अपने भीतर है, वही चेतना अन्य सभी में भी किसी न किसी रूप में प्रकट है। इस प्रकार आत्मचेतना से सर्वचेतना की अनुभूति की यात्रा होती है।

यहाँ “**समदर्शन**” का अर्थ यह नहीं है कि सभी मनुष्य व्यवहार, गुण या क्षमता में समान हैं। इसका अर्थ है कि योगी बाहरी भिन्नताओं के पीछे स्थित एक ही चेतना-तत्त्व को देखता है। वह व्यक्ति के शरीर, जाति, स्थिति या व्यवहार से परे उसके भीतर स्थित अस्तित्व के मूल को देखता है।

श्लोक 30:-

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।

तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

अर्थ:-जो पुरुष मुझे (सब भूतों में) सब जगह देखता है, और सब चराचर को मुझमें देखता है, उसके लिए मैं कभी अदृश्य नहीं होता (ओझल नहीं होता), और वह मेरे लिए कभी अदृश्य नहीं होता।

सार :- यहाँ योग से युक्त पुरुष के बारे में वर्णन है जो एक ही चेतना को सभी जगह देखता है। सर्वव्यापक चेतना व्यक्ति के प्रत्येक कोशिका में उपस्थित है एवं यही चेतना समस्त ब्रह्मांड के कण में भी उपस्थित है। यह चेतना व्यक्ति के अंदर एवं बाहर समस्त ब्रह्मांड में सुनियोजित तरीके से व्याप्त है साथ ही यह समय स्थान के परे भी है जहाँ न कोई ब्रह्मांड है न ही समय है वहाँ भी यह चेतना उपस्थित है। जब तक व्यक्ति स्वयं के अहं, मन, बुद्धि, चित्त के परे नहीं पहुँचेगा और समय-स्थान की सीमाओं में बंधा रहेगा तब तक वह स्वयं की चेतना को अहंबद्ध होकर कितना भी विस्तारित कर ले चेतना के वास्तविक आयाम को नहीं समझ एवं जान पाएगा। जैसे घड़ा मिट्टी से तब तक अलग है जब तक वह घड़ा है। जब मनुष्य अपने अहं (Ego) से ऊपर उठकर इस सर्वव्यापक चेतना से एकाकार होता है तब व्यक्ति को अनुभव होता है कि 'मैं नहीं, सब मैं ही हूँ' यानि व्यक्तिगत चेतना और सर्वव्यापक चेतना एक ही है।

सामान्य मनुष्य संसार को अलग-अलग वस्तुओं और जीवों के रूप में देखता है—मैं अलग हूँ, दूसरा व्यक्ति अलग है, प्रकृति अलग है और ईश्वर कहीं दूर है। यह भेद का अनुभव मन और उसकी सीमित दृष्टि से उत्पन्न होता है।

लेकिन जब चेतना भीतर की ओर जागृत होती है, तब साधक को अनुभव होने लगता है कि इन सभी अलग-अलग रूपों के पीछे एक ही मूल चेतना कार्य कर रही है। जैसे एक ही विद्युत-शक्ति अलग-अलग उपकरणों में अलग-अलग रूप में दिखाई देती है, वैसे ही एक ही चेतना मनुष्य, पशु, पेड़, प्रकृति और समस्त ब्रह्मांड में विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त होती है।

“**यो मां पश्यति सर्वत्र**” का अर्थ है—जिसे हर दृश्य के पीछे वही एक चेतना दिखाई देने लगे। वह केवल मंदिर में ईश्वर को नहीं देखता, बल्कि हर जीव में, हर संबंध में, प्रकृति में और अपने भीतर उसी परम सत्ता की उपस्थिति अनुभव करता है। यहाँ साधक केवल यह नहीं देखता कि परमात्मा सबमें है, बल्कि वह अनुभव करता है कि समस्त अस्तित्व उसी चेतना के भीतर घटित हो रहा है। जैसे समुद्र में असंख्य लहरें उठती हैं, लेकिन कोई भी लहर समुद्र से अलग नहीं होती; उसी प्रकार सभी जीव और समस्त ब्रह्मांड एक ही सर्वव्यापक चेतना की अभिव्यक्तियाँ हैं।

व्यक्ति भी चेतना का हिस्सा है। चेतना द्वारा निर्मित, चेतना ही सहायता से जीवंत/जागरूक है और व्यक्ति के बाहर दृश्यमान जगत भी चेतना का हिस्सा है, अंतर सिर्फ इतना है कि

व्यक्ति अहंबद्ध होने से चेतना को सीमित या व्यक्तिगत किए हुए हैं और त्रि-आयामी जगत के कुछ अंश को ही प्रकाश तरंग, ध्वनि तरंग एवं कंपन के माध्यम से महसूस कर पाता है और व्यक्ति के बाहर उपस्थित चेतना सर्वव्यापक चेतना है जो अनंत, सर्वशक्तिमान, सर्वत्र, प्रज्ञावान है। उदाहरण स्वरूप एक घड़ा तब तक मिट्टी से अपने को अलग समझेगा जब तक वह अहं (Ego) के कारण स्वयं को घड़ा समझेगा जब उसका यह अहं टूट जाएगा वह स्वयं मिट्टी हो जाएगा जो सर्वज्ञ उपस्थित हो जाएगा या कहे मन को कोई ढंग नहीं रह जाता न बुद्धि, न अहं, न चित्त तब जो उपस्थित रहता है वह सर्वव्यापक चेतना ही है जो निराकार, अगोचर एवं अनन्त है।

श्लोक 31:-

**सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥**

अर्थ:-जो योगी संपूर्ण भूतों (प्राणियों) में स्थित मुझ परमात्मा को एकरूपता से भजता है, वह सब प्रकार से बरतता हुआ (संसार में अपने कार्य और व्यवहार करता हुआ) भी मुझमें ही निवास करता है।

सार:-योगयुक्त योगी सभी भूतों में एक ही चेतना को जानकर चेतना की बुद्धिमत्ता, क्रियाओं का आनंद लेता है। जो व्यक्ति प्रत्येक प्राणी में उसी परम चेतना की उपस्थिति को देखता है। उसके लिए मनुष्य और मनुष्य, मनुष्य और पशु, तथा मनुष्य और प्रकृति के बीच केवल बाहरी रूपों का अंतर रह जाता है; भीतर की चेतना एक ही दिखाई देती है।

एकत्वमास्थितः” यही इस श्लोक का सबसे महत्वपूर्ण शब्द है। यहाँ एकत्व का अर्थ यह नहीं कि सभी शरीर या व्यक्तित्व एक जैसे हो जाते हैं। बल्कि इसका अर्थ है कि सभी अलग-अलग रूपों के पीछे चेतना का मूल स्रोत एक है। योगी संसार छोड़कर ही परमात्मा में स्थित हो, ऐसा आवश्यक नहीं है। वह परिवार में रह सकता है, अपना कार्य कर सकता है, समाज में रह सकता है और अपने दैनिक कर्म कर सकता है। फिर भी उसकी अंदर की चेतना एकत्व में स्थिर रहती है।

“स योगी मयि वर्तते” अर्थात् वह योगी वास्तव में मुझमें ही स्थित रहता है। इसका अर्थ है कि योग केवल ध्यान की अवस्था नहीं, बल्कि चेतना की दृष्टि है। जब व्यक्ति संसार के

प्रत्येक अनुभव में उसी एक चेतना को पहचानने लगता है, तब उसके लिए कर्म और ध्यान, संसार और आध्यात्मिकता, स्वयं और परमात्मा—इनमें मूलभूत विरोध नहीं रह जाता।

सर्वव्यापक चेतना को जानना यह समझना है कि मैं चेतना का एक अलग टुकड़ा नहीं हूँ; मैं उसी एक चेतना की अभिव्यक्ति हूँ जो समस्त प्राणियों में विद्यमान है। जब यह बोध जीवन की दृष्टि बन जाता है, तब मनुष्य संसार में रहते हुए भी चेतना के स्तर पर परमात्मा में स्थित रहता है

श्लोक 32:-

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः।

अर्थ:-जो योगी सभी जीवों को अपने ही समान देखता है तथा सबके सुख-दुःख को समान मानता है, वही सर्वोच्च और श्रेष्ठ योगी माना गया है।

सार:-यह श्लोक चेतना के विकास की उस उच्च अवस्था को दर्शाता है, जहाँ साधक समभाव, करुणा और एकत्व की अनुभूति करता है। योगयुक्त होने पर साधक सभी जीवों को अपने समान देखता है और यह अनुभव करता है कि भिन्न-भिन्न शरीरों, विचारों, जातियों, पदों और व्यवहारों के पीछे एक ही मूल जीवन-चेतना विद्यमान है।

श्रेष्ठ योगी किसी व्यक्ति को केवल उसके बाहरी स्वरूप या व्यवहार के आधार पर नहीं देखता, बल्कि उसके भीतर स्थित उसी चेतना को पहचानता है जो स्वयं उसके भीतर भी विद्यमान है। इसलिए दूसरे का सुख और दुःख उसके लिए केवल किसी अन्य व्यक्ति का अनुभव नहीं रह जाता, बल्कि वह उसे अपनी ही चेतना के विस्तार के रूप में अनुभव करने लगता है।

सुख और दुःख का अनुभव मन के माध्यम से होता है, और मन चेतना में उत्पन्न होने वाले विचारों, भावनाओं तथा अनुभवों का माध्यम है। जब साधक सीमित मन और अहंकार की पहचान से ऊपर उठकर शुद्ध और सर्वव्यापक चेतना की अनुभूति में स्थिर होता है, तब उसके भीतर सभी जीवों के प्रति स्वाभाविक संवेदनशीलता और करुणा उत्पन्न होती है।

जब चेतना “मैं” की सीमित पहचान से उठकर “हम” और फिर “एकत्व” की अनुभूति में प्रवेश करती है, तब दूसरे का सुख अपना सुख और दूसरे का दुःख अपना दुःख प्रतीत होने लगता है। यही अवस्था समदृष्टि और सार्वभौमिक करुणा की अवस्था है।

जो योगी सभी प्राणियों में स्वयं को और स्वयं में सभी प्राणियों को देखता है तथा सबके सुख-दुःख के प्रति समान संवेदनशीलता रखता है, वही वास्तव में योगयुक्त और श्रेष्ठ योगी कहलाता है।

अर्जुन उवाच

श्लोक 33:-

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम्॥

अर्थ:-

हे मधुसूदन! आपने जो समभाव (सबको समान देखने) रूपी योग का वर्णन किया है, मन की चंचलता के कारण मैं उसकी स्थिर स्थिति को व्यावहारिक रूप से टिके रहने योग्य नहीं देख पा रहा हूँ।

श्लोक 34:-

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्

अर्थ:-कृष्ण! यह मन निश्चय ही बहुत चंचल है। प्रमथनशील (उत्तेजित/अशांत), बलवान और हठी (दृढ़) है। इसलिए इसको वश में करना वायु (हवा) को रोकने की तरह अत्यंत कठिन मानता हूँ।

सार(श्लोक 33-34):- अर्जुन यहाँ कृष्ण से स्वाभाविक प्रश्न कर रहे हैं कि मन की प्रकृति चंचल है, हर पल वह किसी न किसी विषय पर योजना, संकल्प -विकल्प, इच्छाएँ उत्पन्न करता रहता है जिससे कभी भी मन शांत और स्थिर नहीं रहता। साधना करने वाले अर्जुन रूपी साधक के लिए ध्यान की गहराइयों में उतरने में एवं शुद्ध चेतना क्षेत्र में स्थिर रहने में

मन की चंचलता सबसे बड़ी बाधक है। मन के अवयव के रूप में बुद्धि, अहं, चित्त भी अपने कार्य करते हैं जिससे बुद्धि हमेशा समस्या समाधान, वातावरण के साथ समायोजन और नया ज्ञान सीखने, परिणाम के बारे में मन को व्यस्त रखती है। बुद्धि मन को दिशा देती है।

मन कहता है—

“मुझे यह चाहिए।”

बुद्धि पूछती है—

“क्या यह उचित है?”

इसलिए योग के लिए बुद्धि -मन स्थिर नहीं हो पाता और अहं हर जीव को स्वयं से अलग करता है, अहंकार वह तंत्र है जो अनुभवों को ‘मैं’ और ‘मेरा’ से जोड़ता है। मन में विचार आया—“उसने मेरा अपमान किया।” यहाँ केवल विचार नहीं रहा; अहंकार ने उसे ‘मेरा’ बना दिया। फिर भावना पैदा हुई, प्रतिक्रिया हुई और मन और अधिक चंचल हो गया।

चित्त में पुराने अनुभव, स्मृतियाँ, संस्कार और मानसिक छापें रहती हैं। इसी कारण वर्तमान में कोई छोटी-सी घटना भी पुराने अनुभव को सक्रिय कर सकती है। चित्त बार-बार स्मृति, भाव के साथ जुड़ने के कारण मन को स्थिर नहीं करने देता। मन की चंचलता केवल वर्तमान विचारों से नहीं आती; उसके पीछे चित्त के संस्कार भी काम करते हैं।

मन का स्वभाव है चंचलता। यह लगातार एक विषय से दूसरे विषय पर जाता है। अर्जुन जिस चंचलता की शिकायत कर रहे हैं, वह मुख्यतः मन की चंचलता है। मन की चंचलता के कारण समभाव रूपी योग की स्थिर स्थिति को व्यावहारिक रूप से टिके रहने योग्य नहीं देख पा रहा हूँ। जब साधक ध्यान करने बैठता है तब मन की चंचलता उसे ध्यान की गहराइयों में उतरने में सबसे बड़ा बाधक है। मन की अस्थिरता साधक को लंबे समय ध्यान करने में कई विघ्न पैदा करता है।

साधक के लिए ध्यान की साधना में सबसे बड़ी चुनौती बाहरी संसार नहीं, बल्कि मन की चंचलता है। मन लगातार विचारों, स्मृतियों, इच्छाओं, कल्पनाओं और भविष्य की योजनाओं के बीच घूमता रहता है। शरीर ध्यान में बैठा हो सकता है, लेकिन मन कभी भूतकाल में तो कभी भविष्य में विचरण करता रहता है। जब साधक ध्यान में बैठता है और

कोई विचार आता है, तो सामान्यतः वह उस विचार के साथ बहने लगता है। एक विचार से दूसरा विचार उत्पन्न होता है और कुछ ही क्षणों में साधक ध्यान से दूर चला जाता है। लेकिन यदि वह सजग होकर केवल यह देखे कि “मन में विचार उत्पन्न हो रहा है”, तो उसके और विचार के बीच थोड़ी दूरी बनने लगती है। यही दूरी ध्यान की शुरुआत है।

मन को वायु के समान कहना बहुत गहरा संकेत है। वायु को मुट्ठी में बंद नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार मन को केवल बलपूर्वक दबाया नहीं जा सकता। यदि साधक मन को रोकने का प्रयास संघर्ष के साथ करता है, तो मन और अधिक सक्रिय हो सकता है। इसलिए ध्यान का उद्देश्य मन को दबाना नहीं, बल्कि मन की गति को समझना और धीरे-धीरे उसे चेतना की ओर लौटाना है।

श्लोक 35:-

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥

अर्थ:-श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा कि हे महाबाहु अर्जुन! इसमें कोई संदेह नहीं है कि मन अत्यंत चंचल है और इसे वश में करना बहुत कठिन है। परंतु हे कुंतीपुत्र अर्जुन! इसे निरंतर अभ्यास (बार-बार प्रयास) और वैराग्य (मोह का त्याग) द्वारा वश में किया जा सकता है।

सार:- मन, बुद्धि, अहं, चित्त, इंद्रियों द्वारा व्यक्ति प्रकृति के गुणों से प्रभावित होकर निरन्तर इच्छाओं और आसक्ति के साथ व्यक्ति संसार में फँसा रहता है। व्यक्ति मन बुद्धि, चित्त, अहं द्वारा निर्मित संसार को ही परम सत्य मानकर कर्म करता रहता है और शरीर मन की सीमाओं में बंधे रहने के कारण सर्वव्यापक चेतना या आत्मा की वास्तविकता से दूर रहता है।

जैसा पूर्व श्लोक में बताया गया कि मन की प्रकृति चंचल है, हर पल वह किसी न किसी विषय पर योजना, संकल्प-विकल्प, इच्छाएँ उत्पन्न करता रहता है जिससे कभी भी मन शांत और स्थिर नहीं रहता।

इसलिए सबसे महत्वपूर्ण मुद्दा मन को कैसे स्थिर और शांत किया जाए। इसके लिए कौन से साधन का अभ्यास किया जाए और कैसे व्यक्ति वैराग्य को प्राप्त हो जिससे उसका सांसारिक चिंताओं, इच्छाओं से मोह भंग हो।

मन को ध्यान, अभ्यास और वैराग्य द्वारा प्रकृति के गुणों से परे ले जाने की जरूरत है एवं सभी इच्छाओं व आसक्तियों का त्याग कर, इंद्रियों का प्रत्याहार (Withdraw) कर मन को शान्त एवं स्थिर करने की जरूरत है साथ ही मन, बुद्धि, चित्त, अहं की प्रवृत्ति का त्याग कर व्यक्ति अपने स्व (Self) या आत्मा में स्थापित हो सकता है।

योगिक प्रणाली में कई विधियाँ हैं। इनमें से किसी भी विधियों का निरंतर साधक को अभ्यास करते रहना चाहिए जब तक मन शांत न हो जाए। उपरोक्त सभी तकनीकों का एक ही मर्म है कि किस प्रकार मन को शांत कर मन में उठने वाली अनियंत्रित ऊर्जा तरंगों एवं समय तरंगों को शांत कर मन को सर्वव्यापक शुद्ध चेतना की ओर मोड़ना। जिससे जो मन (Mind) चंचल है वह शांत हो जाए तथा ध्यान द्वारा मन की गहराई में इतना उतर जाए कि दृष्टा एवं दृश्य में भेद खत्म हो जाए तथा मन में जो समय वृत्ति, ऊर्जा वृत्ति तरंग के रूप में विद्यमान है उसे पार कर समय से आदि मन पहुँच जाए जिसे यौगिक भाषा में "समाधि" कहा जाता है।

ध्यान के बार-बार अभ्यास से जब मन अपने विचारों और इच्छाओं से हटकर चेतना में स्थित होना सीखता है, तब उसे भीतर का शांत अनुभव मिलने लगता है। बाहरी सुखों का आकर्षण धीरे-धीरे कम होने लगता है। जब मन की वृत्ति शांत एवं स्थिर हो जाती है तो किसी भी वस्तु या घटना के प्रति किसी भी इच्छा और आसक्ति नहीं रहती जिससे व्यक्ति की चेतना में वैराग्य का जन्म होता है।

वैराग्य का अर्थ संसार को छोड़ देना नहीं है, बल्कि संसार की वस्तुओं, सुखों और परिस्थितियों के प्रति भीतर से अनासक्त भाव होना है। जब स्थिर मन और स्थिर बुद्धि यह पहचानती है कि नित्य क्या है और अनित्य क्या है, तब अनित्य वस्तुओं के प्रति आसक्ति कम होने लगती है। यही विवेकजन्य वैराग्य है। इसलिए ध्यान के बार-बार अभ्यास और वैराग्य से मन शांत हो जाता है जिसका इस श्लोक में कृष्ण रूपी गुरु साधक रूपी अर्जुन को मन शांत करने का मूल मंत्र दे रहे हैं।

श्लोक 36:-

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥

अर्थ:-जिसका मन वश में नहीं है, ऐसे अनियंत्रित अंतःकरण वाले पुरुष के लिए योग (ईश्वर से मिलन) प्राप्त करना कठिन है ऐसा मेरा मत है परंतु वश में किए हुए मन वाले, आत्मसंयमी और प्रयत्न करने वाले उपयुक्त साधनों (अभ्यास और वैराग्य) द्वारा प्राप्त करना संभव है।

सार :-जब मन असंयमित होता है, तो हमारी मानसिक ऊर्जा अनेक दिशाओं में बिखरती रहती है—इच्छाओं, भय, क्रोध, स्मृतियों और भविष्य की कल्पनाओं में। परिणामस्वरूप चेतना की एकाग्रता कम हो जाती है। वैज्ञानिक दृष्टि से हमारा मस्तिष्क लगातार विचार, भावना और संवेदी सूचना को संसाधित करता है। जब ध्यान बार-बार एक विषय से दूसरे विषय पर जाता है, तो हमारी एकाग्रता बिखर जाती है।

उदाहरण के लिए, ध्यान करने बैठते ही मोबाइल, काम, भविष्य, पुरानी घटनाएँ और इच्छाएँ याद आने लगें—तो शरीर शांत बैठा हो सकता है, लेकिन मस्तिष्क की गतिविधि शांत नहीं होती। इससे मानसिक ऊर्जा में भटकाव से, ध्यान में बार-बार विचलन होने से एकाग्रता में कमी होती है जिससे ध्यान में चेतना की गहराइयों में साधक प्रवेश नहीं कर पाता और भ्रम-सत्य के बीच भेद करने में सक्षम नहीं हो पाता।

आधुनिक न्यूरोसाइंस में ध्यान को एक ऐसी क्षमता माना जाता है जिसे अभ्यास से प्रशिक्षित किया जा सकता है। ध्यान में जब व्यक्ति बार-बार अपने मन को सांस, मंत्र या किसी एक बिंदु पर वापस लाता है, तो वह वास्तव में एकाग्रता का अभ्यास कर रहा होता है। यही प्रक्रिया बार-बार दोहराने से ध्यान को नियंत्रित करने की क्षमता विकसित होती है। साधना का उद्देश्य मन की चंचलता को इतना कम करना है कि साधक अपनी चेतन अवस्था को अधिक स्पष्ट रूप से अनुभव कर सके।

साधना मन को दबाने की प्रक्रिया नहीं, बल्कि ध्यान, भावनाओं और मानसिक संसाधनों के नियमन की प्रक्रिया है; जैसे-जैसे मानसिक बिखराव कम होता है, जागरूकता (चेतना) अधिक स्थिर और स्पष्ट अनुभव होती है।”

इसलिए मन को वश में करना पूर्ण जागरूकता और व्यक्तिगत चेतना का शुद्ध चेतना में रूपांतरण करने के लिए मूलभूत आवश्यकता है। जो व्यक्ति आत्मसंयम (self control), निरंतर ध्यान का अभ्यास, मन को नियंत्रण में रखता है वह जागरूकता में वृद्धि कर चेतना को शुद्ध करने में सफल होता है।

अर्जुन उवाच

श्लोक 37:-

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति॥

अर्थ:-कृष्ण! जो व्यक्ति श्रद्धा से भरा है, लेकिन जिसका मन योग से भटक गया है और जो पूरा प्रयास नहीं करता (साधना पूरी नहीं कर पाता), वह योग की सिद्धि को न पाकर किस गति को जाता है? यानी उसका क्या हाल होता है?

श्लोक 38:-

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि॥

अर्थ:-अर्जुन द्वारा भगवान श्रीकृष्ण से पूछा गया वह प्रश्न है, जिसमें वे पूछते हैं कि योग के मार्ग से भटका हुआ साधक क्या दोनों ओर (लोक और परलोक) से भ्रष्ट होकर छिन्न-भिन्न हुए बादल की तरह नष्ट तो नहीं हो जाता?

श्लोक 39:-

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते॥

अर्थ:- हे कृष्ण! मेरे इस संशय को आप ही पूरी तरह से दूर करने योग्य हैं। क्योंकि आपके सिवाय दूसरा इस संशय का नाश करने वाला मिलना संभव नहीं है।

सार (श्लोक 37-39):—जब भी कोई साधक योग मार्ग में आगे बढ़ता है और विभिन्न कारणों से जब मन को ध्यान में लगाना मुश्किल होता जाता है तब स्वाभाविक साधक के मन में यह प्रश्न उठता है कि उसके पास योग करने की भावना है लेकिन बार बार मन भटक जाता है। अर्थात् ऐसा साधक जिसमें श्रद्धा तो है, लेकिन अभी मन पर पूर्ण संयम नहीं आया है। वह ध्यान करना चाहता है, आत्मज्ञान पाना चाहता है, लेकिन मन बार-बार विषयों, इच्छाओं, स्मृतियों और भावनाओं की ओर चला जाता है। ध्यान में साधक बाहर की दुनिया से ध्यान हटाकर भीतर की ओर ले जाना चाहता है। लेकिन मन की पुरानी आदतें उसे बार-बार बाहर ले जाती हैं।

इससे साधक को संशय होता है कि कहीं साधना पूरी न होने से मेरा अधोगति तो नहीं होगी या इसके क्या परिणाम होंगे। “**योगसिद्धि**” का अर्थ केवल कोई अलौकिक शक्ति प्राप्त करना नहीं है। यहाँ इसका गहरा अर्थ है—मन का स्थिर होना, आत्मचेतना में स्थित होना और भीतर के द्वंद्व से ऊपर उठना। साधक इस अवस्था तक पहुँचने से पहले यदि विचलित हो जाए, तो अर्जुन रूपी साधक पूछता है—“**कां गतिं कृष्ण गच्छति?**” ऐसे साधक की गति क्या होती है? क्या उसकी सारी साधना व्यर्थ हो जाती है?

इसी अनुक्रम में साधक की अगली चिंता यह होती है कि क्या ऐसा साधक संसार (लोक) और आध्यात्मिक(परलोक) उपलब्धि—दोनों से ही वंचित होकर कटे हुए बादल के टुकड़े की तरह नष्ट हो जाता है? जैसे आकाश में बादल का एक टुकड़ा मुख्य बादल से अलग होकर बिखर जाता है, वैसे ही अर्जुन रूपी साधक को भय है कि कहीं साधक भी संसार में पूरी तरह रम न जाए और योग में भी सिद्ध न हो जाए—तो उसका अस्तित्व किस स्थिति में रहेगा?

जहाँ श्लोक 37वा उस संशय की ओर इशारा करता है जब सिद्ध योगी जो मृत्यु के ठीक पहले मन, बुद्धि, अहं प्रवृत्ति के संस्कार के कारण या पूर्व छिपे बुरे कर्मों के कारण भ्रमित हो जाते हैं या पूर्ण मुक्ति प्राप्त नहीं कर पाते, तब उनकी गति क्या होगी? इसी प्रकार श्लोक 38वा मोहित एवं आश्रयरहित (अपर्याप्त योग अभ्यास) के कारण भटके हुए साधक की क्या गति होगी इस बात पर केंद्रित है।

आध्यात्मिक अर्थ में कृष्ण यहाँ केवल एक व्यक्ति नहीं, बल्कि उस उच्चतर ज्ञान और चेतना के प्रतीक भी हैं जो साधक के संशय को समाप्त करती है। ध्यान की यात्रा में प्रश्न उठना गलत नहीं है; प्रश्नों में उलझे रहना बाधा है।

सच्चा साधक अपने संशय को दबाता नहीं, बल्कि उसे समझना चाहता है। साधक को आधे-अधूरे विश्वास से आगे बढ़कर ऐसी स्पष्टता चाहिए जहाँ उसका अभ्यास केवल मान्यता पर नहीं, बल्कि अनुभव और विवेक, तर्क पर आधारित हो।

श्लोक 40:-

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति॥

अर्थ:-हे पृथापुत्र (अर्जुन)! उस साधक का न तो इस लोक में नाश होता है और न ही परलोक में। कल्याणकारी कार्य करने वाला (परमात्मा की प्राप्ति का प्रयास करने वाला) मनुष्य कभी भी दुर्गति (बुरी गति) को प्राप्त नहीं होता।

सार :-इस श्लोक में शुद्ध चेतना को प्राप्त कृष्ण रूपी गुरु अर्जुन रूपी साधक को आश्चस्त करते हैं जो मन को साधने और चेतना को ऊँचा उठाने के मार्ग पर चलता है, लेकिन किसी कारण से पूर्ण योग-सिद्धि प्राप्त नहीं कर पाता। साधना में जब व्यक्ति अपने भीतर की चेतना को पहचानना शुरू करता है, तब उसकी पहचान धीरे-धीरे बाहरी वस्तुओं, विचारों और परिस्थितियों से हटकर साक्षीभाव की ओर जाने लगती है। चेतना के विकास में प्राप्त जागरूकता अचानक समाप्त नहीं होती। साधक यदि किसी समय साधना से हट भी जाए, तो उसके भीतर उत्पन्न साक्षीभाव, आत्मनिरीक्षण और सत्य की खोज उसकी चेतना की यात्रा का हिस्सा बन चुके होते हैं। अर्थात् चेतना जिस स्तर को एक बार पहचान लेती है, वह अनुभव उसकी आंतरिक यात्रा में एक संस्कार या दिशा छोड़ता है। योग-साधना में किया गया प्रयास चेतना पर अपनी छाप छोड़ता है; इसलिए साधक की आध्यात्मिक प्रगति व्यर्थ नहीं जाती। जब साधक बार-बार ध्यान, आत्मनिरीक्षण, संयम और साक्षीभाव का अभ्यास करता है, तो चेतना में एक नई प्रवृत्ति बनने लगती है—बाहर की वस्तुओं में लगातार उलझने के बजाय भीतर की ओर लौटने की।

जब व्यक्ति आंतरिक चेतना के उन्नति से शांति, प्रेम, सद्भाव जैसे गुणों का विकास कर लेता है चाहे अंश मात्र ही विकास क्यों न किया हो, यह गुण व्यक्ति को भौतिक जगत और आध्यात्मिक जगत दोनों में लाभ प्रदान करते हैं। साधक के यह संस्कार मृत्यु के बाद भी सूक्ष्म रूप में बीज के रूप में चेतना के साथ रहते हैं इसलिए साधक की पूर्ण योग प्राप्ति के पूर्व मृत्यु हो भी जाती है तो यह संस्कार अगले जन्म के साथ परिस्थिति अनुसार पुनः प्रकट होकर जीव को योग की दिशा में आगे बढ़ाते हैं।

न हि कल्याणकृत्कश्चिद्गुर्गतिं तात गच्छति।” अर्थात् जो व्यक्ति योग और आत्मोन्नति की दिशा में चलता है, उसका प्रयास नष्ट नहीं होता। यदि साधक किसी कारण से ध्यान छोड़ देता है या योग में पूर्ण सिद्धि प्राप्त नहीं कर पाता, तब भी उसके भीतर बने योग-संस्कार उसकी चेतना की यात्रा में आधार बनते हैं।

श्लोक 41:-

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।

शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।

अर्थ:-योग का अभ्यास अधूरा छोड़ने वाला वह साधक पुण्यवानों के लोक को प्राप्त होता है। वहां, अनेक वर्षों तक वास करने के बाद वह पवित्र और समृद्ध (श्रीमान) परिवार में जन्म लेता है।

सार:-चेतना के रूप में मन, ऊर्जा (प्राण ऊर्जा), समय सर्वव्यापक चेतना एवं व्यक्तिगत चेतना के रूप में अभौतिक रूप से विद्यमान रहते हैं चाहे भौतिक शरीर अस्तित्व में हो या न हो। मृत्यु पश्चात् व्यक्ति का सूक्ष्म शरीर भौतिक शारीरिक ऊर्जा की अपेक्षा सर्वव्यापक चेतना की ऊर्जा को ग्रहण कर जीवित रहता है और मन इच्छाओं, आसक्ति सहित सूक्ष्म शरीर को कर्म करवाता है और पुनर्जन्म के लिए प्रेरित करता है तथा सूक्ष्म शरीर, भौतिक ब्रह्मांड या अन्य सूक्ष्म ब्रह्मांड के समय-स्थान में गतिशील रहता है।

इसे न्यूरल पैटर्न (Neural pattern) और चेतना की आदतों से एक सीमा तक समझा जा सकता है। जिस प्रकार किसी कार्य को बार-बार करने से मस्तिष्क में उसके लिए मजबूत मार्ग (pathways) बनते हैं, उसी प्रकार आध्यात्मिक दृष्टि से बार-बार ध्यान, आत्मनिरीक्षण और वैराग्य का अभ्यास चेतना में गहरे संस्कार बनाता है।

योग साधक की चेतना और मन के स्तर को किसी न किसी प्रकार से उच्च स्तर पर ले जाता है। यह उच्च स्तर ऊर्जा कंपन आवृत्ति के रूप में होता है वहीं उच्च स्तर कंपन आवृत्ति, चेतना स्तर, अच्छे भाव, विचार वाला व्यक्ति पुनर्जन्म प्रेम, सद्भाव, करुणा, शांति इत्यादि वाले परिवार में जन्म लेगा और ये गुण योग के माध्यम से साधक को प्राप्त हो जाता है।

साधक बाहरी रूप से साधना छोड़ दे, जीवन समाप्त हो जाए या योगसिद्धि अभी पूर्ण न हुई हो—उसकी चेतना में निर्मित योग-संस्कार बने रहते हैं। यही संस्कार भविष्य में उसे पुनः उसी दिशा में ले जाते हैं। इसलिए आध्यात्मिक यात्रा को केवल एक जीवन की उपलब्धि के रूप में नहीं, बल्कि चेतना के क्रमिक विकास की यात्रा के रूप में देखा जा सकता है। साधना का प्रत्येक क्षण चेतना को उसकी मूल अवस्था—आत्मबोध और एकत्व—की ओर एक कदम आगे ले जाता है।

श्लोक 42:-

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।

एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥

अर्थ:- योगभ्रष्ट साधक यदि वैराग्यवान हो, तो वह सीधे ज्ञानी और बुद्धिमान योगियों के कुल में जन्म लेता है, हालांकि इस प्रकार का जन्म इस संसार में अत्यंत दुर्लभ है।

श्लोक 43:-

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।

यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दनम् ॥

अर्थ:- वहाँ उस नए शरीर में वह पिछले जन्म के अभ्यास से संचित की गई बुद्धि (समबुद्धि रूप योग के संस्कारों) को अनायास ही प्राप्त कर लेता है। और उसके प्रभाव से वह परमात्मा की प्राप्ति रूप सिद्धि के लिए पहले से भी बढ़कर पुरुषार्थ (प्रयत्न) करता है।

सार(श्लोक 42-43):-चेतना के विकास के दृष्टिकोण से देखें, तो “योगियों के कुल में जन्म” को केवल पारिवारिक जन्म न मानकर ऐसे चेतनात्मक वातावरण में जन्म के रूप में समझा जा सकता है जहाँ ध्यान, आत्म-अनुशासन, सत्य, करुणा और आत्मचिंतन स्वाभाविक रूप से उपस्थित हों। आधुनिक न्यूरोसाइंस के अनुसार मस्तिष्क में बार-बार

दोहराए गए अनुभव और व्यवहार न्यूरल नेटवर्क को मजबूत करते हैं। इसे सरल रूप में “तंत्रिका की नमनशीलता” (neuroplasticity) कहा जाता है।

योग की भाषा में यही बात संस्कार के रूप में समझी जा सकती है। अर्थात् बार-बार किया गया ध्यान, एकाग्रता और आत्मनिरीक्षण चेतना के व्यवहारिक पैटर्न को प्रभावित करता है। “योगियों के कुल में जन्म” यह संकेत करता है कि साधक को ऐसा वातावरण मिलता है जहाँ उसके भीतर पहले से मौजूद आध्यात्मिक प्रवृत्तियाँ आसानी से जागृत होती हैं।

यहाँ “दुर्लभ” का एक गहरा अर्थ यह हो सकता है कि मनुष्य को ऐसा वातावरण मिलना दुर्लभ है जहाँ उसकी चेतना बाहरी भोगों की अपेक्षा आत्म-अन्वेषण की ओर स्वाभाविक रूप से प्रेरित हो। सामान्य मन प्रायः बाहर की वस्तुओं—धन, प्रतिष्ठा, सुख और संबंधों—की ओर आकर्षित होता है। योगी की साधना कभी व्यर्थ नहीं जाती। आध्यात्मिक दृष्टि से योग से उत्पन्न संस्कार चेतना की दिशा को आगे बढ़ाते हैं।

वैज्ञानिक दृष्टि से निरंतर अभ्यास मस्तिष्क और व्यवहार में स्थायी परिवर्तन ला सकता है। मानव मस्तिष्क केवल सचेत रूप से ही नहीं सीखता। बहुत-सी चीजें व्यक्ति के सीखने के पैटर्न और चेतना के पैटर्न के रूप में व्यवहार को प्रभावित करती हैं। उदाहरण के लिए, किसी व्यक्ति को बचपन से शांत वातावरण, ध्यान या आत्मचिंतन का अनुभव मिला हो तो बाद में वह तनाव की स्थिति में भी स्वाभाविक रूप से भीतर लौटने की प्रवृत्ति रख सकता है। “बुद्धिसंयोग” को इसी प्रकार एक गहरे, पहले से बने मानसिक-व्यवहारिक पैटर्न के रूप में समझना उपयोगी हो सकता है।

“यतते च ततो भूयः” अर्थात् वह वहाँ से फिर अधिक प्रयास करता है। इसका संकेत है कि चेतना का विकास एक क्रमिक प्रक्रिया है। एकाग्रता की थोड़ी-सी अवस्था आने के बाद साधक को उसी को स्थायी बनाने के लिए अभ्यास करना पड़ता है।

“पूर्वदेहिक” शब्द का आशय पूर्व शरीर से प्राप्त योग-संस्कार है। व्यक्ति के वर्तमान व्यवहार और मानसिक संरचना पर उसके पूर्व अनुभव, सीखने की प्रक्रिया, आनुवंशिक प्रवृत्तियाँ और वातावरण प्रभाव डालते हैं। व्यक्ति ही ऊर्जा स्तर, मन स्तर या चेतना का स्तर निर्धारण करेगा कि व्यक्ति मृत्यु पश्चात् किस युग में पुनर्जन्म लेगा या उसका सूक्ष्म शरीर या कारण शरीर की स्थिति का समय - स्थान क्या होगा। कंपन आवृत्ति, चेतना स्तर, ऊर्जा स्तर, मन प्रतिक्षण परिवर्तनशील है और इनका महत्व इसलिए महत्वपूर्ण हो जाता है कि अगला जन्म

आपका किस योनि, किस स्थान, किस युग में होगा। इसलिए योग में मन, ऊर्जा, चेतना स्तर का उन्नत, नियंत्रण एवं संतुलन पर जोर दिया जाता है।

श्लोक 44:-

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते॥

अर्थ:-पूर्वजन्म के योग अभ्यास के संस्कारवश योगभ्रष्ट मनुष्य बिना चाहते हुए भी स्वतः भगवान की ओर आकर्षित होता है और वेदों के कर्मकांड से ऊपर उठ जाता है।

सार:-योग अभ्यास की साधना केवल कुछ समय किया गया ध्यान या प्राणायाम नहीं है। जब कोई व्यक्ति बार-बार ध्यान, आत्मनिरीक्षण, संयम और एकाग्रता का अभ्यास करता है, तो उसके मन और व्यवहार में स्थायी संस्कार बनने लगते हैं। मनुष्य की चेतना जिस प्रकार के विचारों, भावनाओं और कर्मों का बार-बार अभ्यास करती है, उसी प्रकार के संस्कार उसके भीतर गहरे होते जाते हैं। इसलिए साधना केवल कुछ समय बैठकर ध्यान करने की प्रक्रिया नहीं है, बल्कि यह चेतना के भीतर एक नई दिशा विकसित करने की प्रक्रिया है।

“पूर्वाभ्यासेन” यह संकेत देता है कि कोई भी गहरा अभ्यास चेतना में संस्कार छोड़ता है। आध्यात्मिक परंपरा इसे पूर्वजन्म के संस्कारों तक ले जाती है। लेकिन वर्तमान जीवन में बार-बार किए गए अभ्यास से मस्तिष्क और व्यवहार में स्थायी परिवर्तन होना न्यूरोप्लास्टिसिटी के सिद्धांत से समझा जा सकता है। अर्थात् जिस दिशा में व्यक्ति निरंतर ध्यान और अभ्यास करता है, उसी दिशा में उसकी मानसिक प्रवृत्तियाँ मजबूत होती जाती हैं। लेकिन सिर्फ यह परिवर्तन भौतिक रूप में तंत्रिका तंत्र तक ही सीमित नहीं है बल्कि यह सूक्ष्म स्तर पर मन, बुद्धि, चित्त को प्रभावित करने के साथ साथ कारण शरीर में कर्म बीज, संस्कार और चेतना को गहरे रूप में रूपान्तरण लाता है। इसलिए पूर्वजन्म के योग अभ्यास के संस्कारवश योगभ्रष्ट मनुष्य बिना चाहते हुए भी स्वतः भगवान(शुद्ध चेतना रूपान्तरण) की ओर आकर्षित होता है।

इसीलिए साधना करने वाला व्यक्ति कभी-कभी बिना किसी विशेष बाहरी कारण के भी ध्यान, योग, आत्मज्ञान या सत्य की खोज की ओर आकर्षित होता है। उसके भीतर एक

प्रश्न उत्पन्न होता है—“मैं वास्तव में कौन हूँ?”, “मेरे विचारों को देखने वाला कौन है?”, “क्या चेतना केवल मस्तिष्क की गतिविधि है, या इसके पीछे कोई और गहरी वास्तविकता है?”

“शब्दब्रह्मातिवर्तते” यह कि साधक केवल शब्दों में अटककर नहीं रह जाता। वह ज्ञान को अनुभव में बदलने का प्रयास करता है। जैसे “शांति” शब्द को जानना अलग बात है और ध्यान में वास्तविक मानसिक शांति का अनुभव करना अलग। इसी प्रकार “साक्षीभाव” के बारे में पढ़ना अलग है और स्वयं अपने विचारों एवं भावनाओं को साक्षी की तरह देख पाना अलग। इस प्रकार साधना चेतना की यात्रा को जानने से अनुभव करने और अनुभव से आत्मबोध की ओर ले जाती है। शुरुआत में व्यक्ति योग के बारे में पढ़ता है, फिर उसका अभ्यास करता है, अभ्यास से मन में स्थिरता आती है और स्थिरता से चेतना अपने ही स्वरूप को देखने लगती है।

श्लोक 45:-

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥

अर्थ :-परंतु जो योगी दृढ़ प्रयत्न और अभ्यास करता है, वह पिछले और वर्तमान जन्मों के संस्कारों द्वारा समस्त पापों और कमियों से पूरी तरह शुद्ध हो जाता है। इस प्रकार अनेक जन्मों के सतत अभ्यास से पूर्णता को प्राप्त होकर वह साधक अंत में सर्वोच्च परम गति (मोक्ष) को प्राप्त कर लेता है।

सार:-आध्यात्मिक दृष्टि में साधना की यात्रा केवल एक जन्म तक सीमित नहीं मानी गई है। अनेक जन्मों में किए गए साधना-संस्कार धीरे-धीरे चेतना को परिपक्व करते हैं। जब योगी नियमित रूप से ध्यान, आत्मनिरीक्षण और संयम का अभ्यास करता है, तो धीरे-धीरे उसकी चेतना में परिवर्तन आने लगता है। उसकी प्रतिक्रियाएँ कम होती हैं, मन अधिक स्थिर होता है और विवेक बुद्धि अधिक स्पष्ट होने लगता है।

इसी प्रक्रिया को श्लोक में “संशुद्धकिल्बिषः” कहा गया है। इसे उन मानसिक संस्कारों और प्रवृत्तियों के क्षीण होने के रूप में समझ सकते हैं जो व्यक्ति को अज्ञान, आसक्ति और अहंकार से बाँधे रखते हैं।

साधक के योग और ध्यान के अभ्यास उसे ऊर्जा के निम्न कंपन आवृत्ति (पाप) से उच्च ऊर्जा कंपन आवृत्ति की ओर ले जाते हैं जिससे चेतना के नए आयाम खुलते हैं और चेतना को उन्नत करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। साधक के चेतना उन्नत से व्यक्तिगत चेतना का सर्वव्यापक शुद्ध चेतना में रूपान्तरण होने लगता है। जब रूपांतरण की यह प्रक्रिया पूर्ण हो जाती है तब योगी परमगति (मोक्ष) को प्राप्त हो जाता है।

मोक्ष का अर्थ केवल जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति नहीं है। मोक्ष उससे कहीं अधिक गहरी चेतना की अवस्था है। मोक्ष का अर्थ है—सीमित चेतना (Finite consciousness) से सर्वव्यापक अनंत चेतना (omnipresent Infinite consciousness) की ओर यात्रा है।

श्लोक 46:-

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।

कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥

अर्थ: योगी तपस्वियों से श्रेष्ठ है, शास्त्र ज्ञानियों से भी श्रेष्ठ माना जाता है, और सकाम कर्म करने वालों से भी श्रेष्ठ है। इसलिए हे अर्जुन! तुम योगी बनो।

सार:- वास्तविक रूप में “ योगी “ वह है जिसने “योग” को प्राप्त कर लिया है, जिसने अपनी चेतना का रूपान्तरण शुद्ध चेतना में कर लिया है। लेकिन ऐसा साधक जो कर्मयोग रूप में समत्व भाव को प्राप्त हो चुका है और ज्ञानयोग के रूप में आत्मज्ञानी या ब्रह्म ज्ञानी हो गया है, ध्यान में समाधि की अवस्था प्राप्त कर ली है या चेतना के उच्च आयाम में स्वयं को स्थापित कर लिया है वह भी “योगी “ कहलाने योग्य है।

“तपस्विभ्योऽधिको योगी ” आशय यह नहीं है कि तपस्या व्यर्थ है या तपस्वी व्यक्ति कम महत्वपूर्ण है। यहाँ **योगी की श्रेष्ठता तपस्वी से** उसकी चेतना की अवस्था के कारण बताई गई है। तपस्या मुख्यतः साधन है, जबकि योग चेतना के एकीकरण की अवस्था है। तपस्वी व्यक्ति शरीर और मन को अनुशासित करता है। वह उपवास, संयम, इन्द्रियनिग्रह और कठिन साधनाओं के द्वारा अपनी इच्छाओं पर नियंत्रण प्राप्त करने का प्रयास करता है। इससे उसकी ऊर्जा और मन की शक्ति भीतर की ओर मुड़ सकती है। लेकिन यदि तपस्या केवल शरीर को कष्ट देने तक सीमित रह जाए, तो चेतना का वास्तविक रूपांतरण आवश्यक

नहीं है। योगी इससे एक कदम आगे जाता है। वह केवल इच्छाओं को दबाता नहीं, बल्कि उनके मूल को समझता है और उनके प्रति आसक्ति को धीरे-धीरे समाप्त करता है। वह शरीर, मन, बुद्धि और अहंकार को साधते हुए अपनी चेतना को साक्षीभाव और समत्व भाव में स्थापित करता है।

ऐसा योगी शास्त्र ज्ञानी से भी श्रेष्ठ है क्योंकि शास्त्र ज्ञान एक प्रकार का भौतिक ज्ञान है जबकि योगी तो आत्मज्ञानी और ब्रह्मज्ञानी होता है जिसका ज्ञान असली स्वरूप और आत्मा के ज्ञान पर केन्द्रित है। शास्त्र का ज्ञान किताबों या किसी गुरु के शब्दों से प्राप्त हो जाता है जबकि योगी को ब्रह्म ज्ञान शब्दों के बजाय गहन ध्यान या समाधि में अनुभूति से जाना जाता है। इसलिए योगी शास्त्र ज्ञानी से भी श्रेष्ठ है।

योगी, सकाम कर्म करने वालो से भी श्रेष्ठ है क्योंकि सकाम कर्म वह कर्म है जिसमें व्यक्ति किसी निश्चित फल की इच्छा से कर्म करता है—धन, प्रतिष्ठा, सफलता, सुख, पद या किसी व्यक्तिगत लाभ की प्राप्ति के लिए। सकाम कर्म चेतना को फल से बाँधता है, यह मुक्ति की बजाय बंधन का कारक है। लेकिन योगी के लिए वही कर्म चेतना को शुद्ध करने का साधन बन जाता है। वह बिना इच्छा और आसक्ति के कर्म करता है जिससे उसे न दुख-सुख, लाभ हानि, मान-अपमान की परवाह होती है न ही द्वैत सिद्धांतों में अपने सच्चिदानंदन स्वरूप को भंग करता है।

इसलिए अर्जुन रूपी साधक को योगी बनने का प्रयास करना चाहिए।

श्लोक:-47

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।

श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

अर्थ:-जो योगी पूर्ण श्रद्धा के साथ अपने अंतःकरण से मुझमें स्थित होकर निरंतर मेरा भजन (स्मरण व प्रेम) करता है, वह योगी मेरे मत में सबसे उच्च और श्रेष्ठ है।

सार:-योग की साधना का अंतिम और सबसे गहरा स्वरूप प्रस्तुत करता है। जिस प्रकार मन के विभिन्न स्तर हैं (चेतन मन, अवचेतन मन, अचेतन मन, परमचेतन मन) उसी प्रकार चेतना भी कई उच्च आयामों में विभक्त है जिसकी परम अवस्था शुद्ध सर्वव्यापक चेतना परम अवस्था है। जो भी योगी चेतना के उच्च आयामों में स्वयं की चेतना स्थापित करते

है उन सभी योगियों में वह योगी सबसे अधिक योगयुक्त है जिसकी अंतरात्मा मुझमें स्थित है अर्थात् जिसने चेतना को शुद्ध सर्वव्यापक चेतना में रूपान्तरण कर लिया है या कहे वह स्वयं में परमात्मा है। इस श्लोक में योग को केवल शारीरिक अभ्यास, ध्यान या मानसिक नियंत्रण तक सीमित नहीं रखते, बल्कि उसे चेतना के परम सत्य से जुड़ने की प्रक्रिया के रूप में प्रस्तुत करते हैं।

इस यात्रा में श्रद्धा का विशेष महत्व है। श्रद्धा केवल किसी बात को बिना प्रमाण मान लेना नहीं है। आध्यात्मिक संदर्भ में श्रद्धा उस आंतरिक विश्वास को कहा जा सकता है जिसके कारण साधक सत्य की खोज में निरंतर लगा रहता है। वह केवल शास्त्रों को पढ़कर संतुष्ट नहीं होता, बल्कि अपने अनुभव के माध्यम से सत्य को जानना चाहता है। इस प्रकार श्रद्धा साधना को निरंतरता देती है।

“भजते यो मां” का अर्थ भी केवल बाहरी पूजा तक सीमित नहीं है। इसका गहरा अर्थ है कि साधक अपनी चेतना को निरंतर परम सत्य की ओर उन्मुख रखता है। वह जीवन के प्रत्येक कर्म में परम सत्ता की उपस्थिति को अनुभव करने का प्रयास करता है। धीरे-धीरे उसका ध्यान केवल व्यक्तिगत लाभ, सुख और अहंकार से हटकर व्यापक अस्तित्व की ओर बढ़ता है। यही वह अवस्था है जहाँ योग केवल एक अभ्यास न रहकर चेतना की अवस्था बन जाता है। प्रारंभ में व्यक्ति ध्यान करता है, फिर ध्यान उसके मन को प्रभावित करता है; मन की स्थिरता से साक्षीभाव विकसित होता है और साक्षीभाव से चेतना अपने व्यापक स्वरूप को पहचानने लगती है। इस प्रकार साधना की यात्रा बाहरी कर्म से आंतरिक जागरूकता और अंततः परम चेतना के अनुभव की ओर बढ़ती है। सामान्य चेतना स्वयं को सीमित शरीर और अहंकार के रूप में अनुभव करती है। योगी धीरे-धीरे पहचानता है कि शरीर परिवर्तनशील है, मन परिवर्तनशील है और विचार भी परिवर्तनशील हैं। इसलिए उसकी वास्तविक पहचान इन परिवर्तनशील वस्तुओं तक सीमित नहीं हो सकती। वह अपनी चेतना को सर्वव्यापक और शाश्वत शुद्ध सत्ता से जोड़ने का प्रयास करता है। यही चेतना का विस्तार योग की परम अवस्था है।

